॥ नमः श्रीसद्गुरुदेवाय ॥

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

आजसे २४७२ वर्ष पहले इस भरतक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान श्री महावीरस्वामी मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिए समस्त पदार्थोंका स्वरूप अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाणके पश्चात् काल-दोषसे क्रम-क्रमसे अपार ज्ञानसिंधुके बहुतसे भागका तो विच्छेद हो गया। तथा थोड़ेसे बचे हुये बीजभूत ज्ञानका प्रवाह आचार्योंकी परम्परासे उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमेंसे जिनशासनके स्तम्भ समान कितने ही आचार्य भगवन्तोंने शास्त्रोंको गूँथा। उन आचार्योंमें एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान महावीरसे चला आता हुआ ज्ञान गुरुपरम्परासे प्राप्त करके, उसमेंसे पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र गूँथे और संसारनाशक श्रुतज्ञानको चिरंजीव किया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसारके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्य-देव विक्रम संवत्की शुरुआतमें हुये हैं। दिगम्बर जैन परम्परामें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीरस्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामीके बाद तुरन्त ही भगवान कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु, अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका कहलानेमें गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्र साक्षात् गणधरदेवके वचनों

शापसे अकल्याण होता है, देव-गुरुकी कृपासे मोक्षकी प्राप्ति होती है, हम वरावर सम्भाल रक्खें तो शरीर स्वस्थ रह सकता है और न रक्खें तो शरीर विगड़ जाता है, कुम्हार घड़ा वना सकता है, सुनार गहने गढ़ सकता है आदि। एवं 'अन्य जीवका हिताहित मैं ही करता हूँ ऐसा जो मानता है वह अपनेको अन्य जीवरूप मानता है, इसीप्रकार पौद्‍गलिक पदार्थोंकी क्रियाको मैं ही करता हूँ ऐसा जो मानता है व स्वयंको पुद्‍गल-द्रव्यरूप मानता है;' इस प्रकारकी भ्रामक मान्यताओंको तोड़कर यह कर्ता-कर्म अधिकार कहता है कि-"कर्ता एक द्रव्य होता है और उसका कर्म दूसरे द्रव्यकी पर्याय होती है" ऐसा कभी भी वन नहीं सकता, क्योंकि-"जो परिणमे वह कर्ता, परिणाम वह कर्म और परिणति वह क्रिया—ये तीनों ही एक ही द्रव्यकी अभिन्न अवस्थाएँ हैं।" फिर "एक द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जाँय क्योंकि—कर्ताकर्मपना अथवा परिणाम-परिणामीपना एक द्रव्यमें ही हो सकता है। जो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाय तो उस द्रव्यका ही नाश हो जाय ऐसा वड़ा दोप आवे, इसलिये एक द्रव्यको अन्य द्रव्यका कर्ता कहना उचित नहीं।" फिर "वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती।" वस्तुकी उस उस समयकी जो जो अवस्था (अव = निश्चय+स्था = स्थिति अर्थात् निश्चयसे अपनी अपनेमें स्थिति) वही उसकी व्यवस्था है। इसलिये उसकी व्यवस्था करनेके लिए किसी भी परपदार्थकी जरूरत नहीं पड़ती। ऐसी जिनकी मान्यता हो जाती है वे हरएक वस्तुको स्वतंत्र तथा परिपूर्ण स्वीकारते हैं। परद्रव्यके परिणमनमें मेरा हाथ नहीं है न मेरे परिणमनमें किसी अन्य द्रव्यका हाथ है। ऐसा माननेमें परके कर्तापने-का अभिमान सहज ही टल जाता है इससे अज्ञानभावसे जो अनन्तवीर्य परमें रुकता था वह स्वमें लगा वही अनन्त पुरुषार्थ है एवं उसीमें अनन्ती शांति है—यह दृष्टि वही द्रव्यदृष्टि हुई एवं वही सम्यग्दृष्टि वनी।

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तिरूप और

परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे नास्तिरूप है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अभाव है इसलिये जो अभावरूप है वह क्या लाभ-हानि कर सकता है? यह बात यथार्थरूपसे समझमें आ जाय तो परको इष्ट-अनिष्ट मानकर जो राग-द्वेष होता है उसका अभाव हो जाय।

"दोनों द्रव्योंकी क्रिया भिन्न ही है। जड़की क्रिया चेतन नहीं करता, चेतनकी क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियायेंका कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, कारण कि—दो द्रव्यकी क्रिया एक द्रव्य करता है ऐसा मानना वह जिनदेवका मत नहीं है।" क्योंकि—"इस जगतमें वस्तु है वह अपना स्वभावमात्र ही है।" हरएक वस्तु द्रव्यसे-गुणसे-पर्यायसे परिपूर्ण स्वतंत्र है। ऐसी घोषणा यह कर्ताकर्म अधिकार करता है। अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये वह स्वभावदशामें ज्ञानका ही कर्ता है व विभावदशामें अज्ञान, राग-द्वेषका कर्ता है परन्तु परका कर्ता तो कभी भी नहीं होता। परभाव (विकार) भी कोई अन्य द्रव्य नहीं कराता, क्योंकि एक द्रव्यकी दूसरे द्रव्यमें नास्ति है; फिर भी पर्यायमें विकार तो होता है वह पुरुषार्थकी विपरीतता अथवा कमजोरीसे होता है परन्तु स्वभावमें वह नहीं है ऐसा ज्ञान होनेपर विकारका नाश होता है।

यह तो कर्ताकर्म अधिकारका मात्र संक्षिप्त सार हुआ। वर्तमानमें अन्य किसी भी शास्त्रमें ऐसा स्पष्ट कर्ताकर्म अधिकार कहीं भी देखनेमें नहीं आता। इसकी एक-एक गाथा महा मूल मंत्र हैं, संसार-विषको शीघ्रतासे उतारनेवाली हैं। बाँसुरीके नादसे जिस-प्रकार सर्प डोल उठता है उसीप्रकार इन गाथाओंके सुनने और यथार्थरूपसे समझनेपर अज्ञानदशामें सुप्त आत्मा जागृत होकर 'मैं परिपूर्ण हूँ' ऐसी प्रतीति करके डोल उठता है। इसके मूल कर्ता भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा टीकाकार भगवान् श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका जगतके जीवोंपर परम उपकार वर्त रहा है। इसलिये उन्हें अत्यन्त भक्ति-भावसे वन्दन करता हूँ।

जिसप्रकार श्री समयसार शास्त्रके मूल कर्ता और टीकाकार अत्यन्त आत्मस्थित आचार्यभगवन्त थे उसीप्रकार उनके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतरागके परम भक्त, अनेक शास्त्रोंके पारगामी और आश्चर्यकारी प्रभावना-उदयके धारक युगप्रधान महापुरुष हैं। उनके इस समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पढ़नेवालेको उनके आत्म-अनुभव, गाढ अध्यात्मप्रेम, स्वरूपकी तरफ ढली हुई परिणति, वीतराग भक्तिके रङ्गमें रंगा हुआ चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोगका ख्याल आये विना नहीं रहता। अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावना-उदय गुरुदेवके वर्तता होनेसे, उन गुरुश्रीने गत १५ वर्षोंमें समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़, कषायपाहुड़, षट्खंडागम, पद्मनन्दिपंचविंशति, तत्त्वार्थसार, इष्टोपदेश, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पंचाध्यायी, मोक्ष-मार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धिशास्त्र, आत्मानुशासन आदि शास्त्रोंपर आगमरहस्यप्रकाशक स्वानुभवमुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्रमें (गुजरात और उत्तर भारतमें) आत्मविद्याका अतिप्रबल आन्दोलन फैलाया है। मात्र सौराष्ट्रमें ही नहीं, परन्तु अभी तो उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों द्वारा और 'आत्मधर्म' नामक मासिक-पत्र द्वारा प्रकाशित होते रहनेसे सारे भारतवर्षमें अध्यात्मविद्याका आन्दोलन वेगपूर्वक फैलता जा रहा है। इस प्रकार, स्वभावसे सुगम होनेपर भी गुरुगमकी लुप्तप्रायताके कारण एवं अनादि अज्ञानके कारण अतिशय दुर्गम हो जानेवाले जिनागमके गम्भीर आशयोंको यथार्थरूपसे और अतिशय स्पष्टरूपसे प्रगट करके, गुरुदेवने वीतराग विज्ञानकी बुझती हुई ज्योतिको सतेज की है। परम पवित्र जिना-गमोंमें तो बहुत कुछ भरा हुआ है—परम निधान भरे पड़े हैं; परन्तु इन निधानोंको देख सकनेवाली दृष्टि, परम कृपालु गुरुदेवके समागम बिना और उनके परम करुणापूर्वक किये हुये प्रवचन-अंजन बिना हम अल्पबुद्धियोंको कैसे प्राप्त होता? पंचमकालमें चतुर्थकालकी सुवास फैलानेवाले, परम शासनप्रभावक गुरुदेव श्री कानजीस्वामीने आगमरहस्य खोलकर मेरे समान हजारों जीवों पर जो अपार

करुणाकी वर्षा की है उसका वर्णन करनेमें वाणी अपनेको असमर्थ पाती है।

जिसप्रकार परमोपकारी गुरुदेवका प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवों पर उपकार कर रहा है। उसीप्रकार उनके ये पवित्र प्रवचन भी इस कालके एवं भावी कालके हजारों जीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग दर्शाकर अत्यन्त उपकारी होंगे। इस दुःषमकालमें जीव प्रायः बन्धमार्गको ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्त रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ विना—निश्चयनयके आश्रय विना—मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होता, उस पुरुषार्थकी गंध तक प्राप्त नहीं होती, और परावलम्बी भावोंको ही—व्यवहाराभासके आश्रयको ही मोक्षमार्ग मान उसीका सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्बी पुरुषार्थका उपदेश करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंकी दुर्लभता वर्तती है और उसका निरूपण करनेवाले श्री समयसार-परमागमका अभ्यास अतिन्यून हो गया है। कदाचित् कोई जीव उसका अभ्यास करता है तो भी उसे गुरुगमके विना मात्र उसके अक्षरोंका ज्ञान होने जितना ही होता है। श्री समयसारके पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीनवीर्य जीवोंको अनादि-अपरिचित होनेसे, ज्ञानीपुरुषके प्रत्यक्ष समागम विना अथवा उनके किये हुये विस्तृत विवेचन विना जीवोंको उन सत्योंका परमार्थ समझना अत्यन्त अत्यन्त कठिन पड़ता है। श्री समयसारकी प्राथमिक भूमिकाकी बातोंको भी हीनसत्त्व जीव बहुत ऊँची भूमिकाकी कल्पना कर बैठते हैं, चतुर्थ गुणस्थानके भावोंको तेरहवें गुणस्थानका मान लेते हैं और निरालम्बन (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कोई अनावश्यक कथनमात्र ही वस्तु हो ऐसे उनकी उपेक्षा करके सालम्बन (परावलम्बी) भावोंके प्रति आग्रह छोड़ते नहीं। ऐसी करुणाजनक स्थितिमें—जब कि सम्यक् उपदेष्टाओंकी अतिशय न्यूनताके कारण मोक्षमार्ग आवरणस्थितिमें पड़ा है तब—शासनोद्धारक युगप्रधान सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीने श्री समयसारके विस्तृत विवेचनरूप इन प्रवचनोंद्वारा जिनागमोंके मर्मको खोलकर, मोक्षमार्गको अनावृत करके,

वीतरागदर्शनका पुनरुद्धार किया है, मोक्षके महामंत्र समान समयसारकी प्रत्येक गाथाको सर्व ओरसे छानकर इन संक्षिप्त सूत्रोंके विराट अर्थोंको गुरुदेवने इन प्रवचनोंमें प्रगट किया है। सबको अनुभवमें आये हों ऐसे परिचित प्रसंगोंके अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय मार्मिक तथा सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्दभगवानके परमभक्त श्री कानजीस्वामीने समयसारके अर्थगम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तोंको अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। श्री समयसारके मोक्षदायक भावोंको, तुरन्त समझ सकें ऐसी प्रभावशील भाषामें एवं अतिशय मधुर, नित्य-नवीन विविधतापूर्ण शैलीसे अत्यन्त स्पष्टरूपसे समझाकर गुरुदेवने जगतपर असीम उपकार किया है। समयसारमें भरे हुए अनमोल तत्त्व-रत्नोंके मूल्य ज्ञानियोंके हृदयमें गुप्त थे उन्हें गुरुदेवने जगतविदित किया है।

किसी परम मंगल योगमें दिव्यध्वनिके नवनीतस्वरूप श्री समयसार-परमागमकी रचना हुई; और उसके एक हजार वर्ष बाद जगतके महाभाग्योदयसे श्री समयसारके गहन तत्त्वोंको विकसित करनेवाली श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा भगवती आत्मख्यातिकी रचना हुई; तत्पश्चात् हजार वर्ष बाद फिर महापुण्यका ज्वार आने पर, मन्दबुद्धियोंको भी समयसारके मोक्षदायक तत्त्व सुग्राह्य करानेवाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुये। जीवोंकी बुद्धि मंदताको प्राप्त होती जाने पर भी पंचमकालके अन्ततक स्वानुभूतिका मार्ग अविच्छिन्न रहना है इसीलिये स्वानुभूतिके उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसारजीके गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होनेके परम पवित्र योग बनते रहे हैं। अन्तर्बाह्य परम पवित्र योगोंमें प्रगट हुये, जगतके तीन महा दीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार प्रवचन सदा जयवंत रहो और स्वानुभूतिके पंथको प्रकाशित करते रहो!

ये परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूतिके पंथको अत्यन्त स्पष्टरूपसे

प्रकाशित करते हैं इतना ही नहीं, किन्तु साथ ही साथ मुमुक्षु जीवोंके हृदयमें स्वानुभवकी रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ एक अंशोंमें सत्पुरुषके प्रत्यक्ष उपदेश जितना चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनोंकी वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, चैतन्यवान और जोरदार है कि—चैतन्यमूर्ति गुरुदेवके चैतन्यभाव ही मानों मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूपमें वह रहे हों! ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी-अन्तर्वेदनको अति उग्ररूपसे व्यक्त करती, शुद्धात्माके प्रति अनहद प्रेमसे विकसित होती हुई, हृदयस्पर्शी जोरदार वाणी सुपात्र जिज्ञासुके हृदयको झकझोर डालती है और उसकी विपरीत रुचिको क्षीण कर शुद्धात्मरुचिको जागृत करती है। प्रवचनके पन्ने-पन्ने पर शुद्धात्म-महिमाका अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गूँज रहा है एवं इसके प्रत्येक शब्दमेंसे मधुर अनुभवरस टपक रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरससे और अनुभवरससे मुमुक्षुका हृदय भीग उठता है, उसे शुद्धात्माकी लौ लग जाती है, शुद्धात्माके अतिरिक्त सर्व भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ मानों हृदयमें उछालें मारता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ वाणीमें क्वचित् ही देखनेमें आती है।

इस भागके प्रवचनोंको दो महा पवित्र आत्माओंने—परम पूज्य भगवती बहिन श्री चम्पाबेनने तथा परम पूज्य बहिन श्री शांताबेनने मनन कर अनुभवमें लिया है। परम पूज्य बहिनोंने प्रवचनके प्रति भक्तिसे प्रेरित हो, इन गम्भीर प्रवचनोंकी सावधानी पूर्वक नोंध लेकर उनमेंसे अतिशय परिश्रम पूर्वक पक्की कापी लिखकर तैयार करके मुमुक्षुओं पर महा उपकार किया है। इन प्रवचनोंकी नोंधमें कोई न्यायविरुद्ध भाव न आ जाँय उसका पूर्ण ध्यान रखा गया है।

इस प्रकार दिव्य तत्त्वज्ञानके गहन रहस्योंको अमृतझरती वाणीमें समझाकर और साथ ही साथ शुद्धात्मरुचिको जागृत करके, पुरुषार्थको उग्र करके, प्रत्यक्ष सत्समागमकी झांकी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्यमें अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्पुरुषके वियोगमें वर्तते हुए मुमुक्षुओंको अथवा उनका निरन्तर संग दुष्प्राप्य हो ऐसे मुमुक्षु-

ओंको ये प्रवचन अनन्य आधारभूत हैं। निरालम्बन पुरुषार्थ समझाना व उसकी ओर प्रेरित करना यही इस शास्त्रका प्रधान उद्देश्य होनेके कारण उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करनेमें इन प्रवचनोंमें समस्त शास्त्रोंका—समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वोंका स्पष्टीकरण आ गया है; श्रुतामृतका परम आह्लादजनक महासागर जैसे इन प्रवचनोंमें हिलोरें ले रहा है। यह प्रवचनग्रन्थ हजारों प्रश्नोंके प्रगट करनेका महाकोष है। शुद्धात्माकी रुचि उत्पन्न करके परके प्रति रुचि नष्ट करनेकी परम औषधि है। स्वानुभूतिका सुगम पंथ है। भिन्न-भिन्न कोटिके सर्व आत्मार्थियोंको अत्यन्त उपकारक है। परम पूज्य गुरुदेवने इन अमृतसागर समान प्रवचनोंकी भेंट कर भारतवर्षके मुमुक्षुओंको निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधाको प्राप्त करनेके इच्छुक जीवोंको इन परम पवित्र प्रवचनोंका बारम्बार मनन करना योग्य है। संसारविषवृक्षको छेदने-का यह अमोघ शस्त्र है। डाल पत्तियों पर न जाकर वह मूल पर ही प्रहार करता है। इस अल्पायुषी मनुष्यभवमें जीवका प्रथममें प्रथम कर्तव्य क्या है तो वह शुद्धात्माका बहुमान, प्रतीति एवं अनुभव है। वह बहुमानादि करानेमें ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। मुमुक्षुगण अतिशय उल्लासपूर्वक उसका अभ्यास कर, उग्र पुरुषार्थसे उनमें कहे हुये भावोंको सम्पूर्णरीत्या हृदयमें उतारकर, शुद्धात्माकी रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके, शाश्वत परमानन्दको प्राप्त होओ!

वैशाख वदी ८
वि० सं० २००३

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

❀ विषयानुक्रमणिका ❀

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके सम्बन्धमें उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुंदः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि पर्वतका शिलालेख]

अर्थः—कुन्दपुष्पकी प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके—चारण-ऋद्धिधारी महामुनियोंके—सुन्दर हस्तकमलोंके भ्रमर थे और जिन पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

* * *

......कौण्डकुंदो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विंध्यगिरि–शिलालेख]

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको—भूमितलको—छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अन्तरमें तथा बाह्यमें रजसे (अपनी) अत्यंत अस्पृष्टता व्यक्त करते थे (—अन्तरमें वे रागादिक मलसे अस्पृष्ट थे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे)।

* * *

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

—[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधरस्वामीसे प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?

* * *

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अत्यन्त भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रवचन-भक्ति

सर्वाङ्गी 'सन्मति' श्रुतधारा, गुरु गौतमने मुख धारी;
थी करुणा हों भावमरण विन, तृषित तम भवि संसारी।
हृदय शुद्ध मुनि कुन्दकुन्दने वह संजीवन दया विचार:
घट 'प्रवचन', पंचास्ति, समयमें ली लख शोषित अमृत धार॥
कुन्दरचित पद सार्थक कर मुनि अमृतने अमृत सींचा:
ग्रन्थराज त्रय तुमने अद्भुत मृदुरस ब्रह्म-भाव खींचा॥

वीर वाक्य यह अहो नितारें साम्य सुधारस,
भर हृदयाञ्जुलि पिवें मुमुक्षु वमें विषय विष,
गहरी-मूर्छा प्रबल-मोह दुस्तर-मल उतरे,
तज विभाव हो स्वमुख परणती ले निज लहरे।

यह हैं निश्चय ग्रन्थ भंग संयोगी भेदे,
अरु हैं प्रज्ञा-शस्त्र उदय-मति संधी छेदे,
साधक साथी जगत सूर्य संदेश-वीर का,
क्लान्त जगत विश्राम स्थान सतपथ सुधीरका।

सुनें, समझलें, रुचे, जगत रुचिसे अलसावे,
पड़े वन्धरस शिथिल हृदय ज्ञानीका पावे,
कुन्दन-पत्र बना लिखे, अक्षर रत्न तथापि,
कुन्दसूत्रके मूल्यका अंकन हो न कदापि।

—"युगल" (कोटा)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

परम पूज्य श्री कानजी स्वामीके

श्री समयसार शास्त्र पर प्रवचन

(चौथा भाग)

कर्ता-कर्म अधिकार

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

अब यह कर्ता-कर्म अधिकार प्रारम्भ होता है; यह अधिकार ७६ गाथाओंमें है। समस्त भरतक्षेत्रमें इसकाल-वर्तमानमें इस समयसारके अतिरिक्त ऐसा कर्ताकर्मका अधिकार अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इस समय सनातन जैनदर्शनके हजारों शास्त्र हैं, किन्तु इतने विस्तार-सहित यह कर्ताकर्मका अधिकार समयसारके अतिरिक्त अन्य कहीं पर नहीं है।

यह समयसार इस समय इस भरतक्षेत्रका भगवान है। ऐसी गाथाएँ और ऐसी टीका अन्यत्र कहीं नहीं है। दैवी गाथा, दैवी टीका और दैवी शब्द हैं। जो जागृत होकर समझे उसकी समझमें आ सकता है। यह समयसार तीर्थङ्करोंकी साक्षात् वाणी है और दिव्यध्वनिमेंसे प्रगट हुई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने भगवानके निकटसे सुनकर इसकी रचना की है।

पहले अधिकारमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवने जीवद्रव्यकी और अजीवद्रव्यकी वात की; जीव और अजीव-दोनों द्रव्योंको त्रिकालवर्ति स्वतंत्र-भिन्न पदार्थ वतलाया, एव अन्य भी वहुत-सी वातें उस सम्बन्धमें कही हैं।

अव, इस अधिकारमें यह वतलाते हैं कि—जीव और अजीव दोनों पदार्थोंकी पर्यायमें कहाँ भूल होती है। पर्यायमें भूल है इसलिये संसार है और संसार है तो उसके अभावरूप मोक्ष भी है।

कर्ताका अर्थ है स्वतंत्र करनेवाला, परिणमनेवाला, कार्यरूप होनेवाला, और कर्मका अर्थ है कर्तासे होनेवाला कार्य जो कर्ताने किया वह। द्रव्य कर्ता है और पर्याय कर्म है। जो स्वतंत्ररूपसे और तन्मय-व्यापक होकर करे वह कर्ता; कर्ताका इष्ट सो कर्म; इष्ट अर्थात् प्रिय। अज्ञानीको कौनसा कर्तव्य प्रिय है, और ज्ञानीको कौनसा ? ज्ञानीका इष्ट है ज्ञान और अज्ञानीका इष्ट है रागद्वेष अज्ञान।

प्रत्येक वस्तु पराश्रयके विना, अन्यकी सहायताके विना, स्वतः अपनी पर्यायको करती है; परमाणुकी अवस्थाका कर्ता परमाणु है और आत्माकी अवस्थाका कर्ता आत्मा है। कोई कहे कि दहीका कर्ता कौन ? जामन डालनेवाला या दूध ?

उत्तरः—दहीका कर्ता दूध है, जामन डालनेवाला उसका कर्ता नहीं है। दूध स्वतः होनेवाला है—कर्ता है और दहीकी अवस्था हो वह कर्म है। दूध स्वतः दहीकी अवस्थारूप होता है। दूधमें जव दही वननेकी योग्यता हो, तव उसे जामनका निमित्त मिलता है; यदि

जामन डालनेवाला दहीका कर्ता हो तो वस्तु पराधीन हो जाये। जलमें जामन डालनेसे दही बनना चाहिये! परन्तु ऐसा नहीं है।

प्रथम पण्डित जयचन्द्रजी कर्ताकर्मके विषयमें माङ्गलिक पद कहते हैं:—

"कर्ताकर्मविभावको, मेट ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिवमें बसे, नमूँ तेह मद खोय।"

आत्माने अज्ञान भावसे विकारभाव किये, अर्थात् स्वतः विकार-भावरूप हुआ; उस विभावके कर्तृत्वको जो ज्ञानभावसे छोड़ता है वह रागद्वेपका कर्ता मिटकर ज्ञाता होता है। वह ज्ञायक आत्मा ज्ञाताभावसे रहकर कर्मका नाश करके शिवपुरमें वास करता है अर्थात् कल्याणपदको प्राप्त करता है; वैसे परमपवित्र आत्माको मैं मद खोकर अर्थात् निरभिमान होकर, अपवित्रताका नाश करके, पवित्र भावसे नमस्कार करता हूँ।

प्रथम नाटकके मंच पर जीव और अजीव एक ही वेशमें प्रवेश करते हैं, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानते हैं कि जैसे जीव और अजीवमें कर्ताकर्मरूपसे सम्बन्ध हो। जैसे दो पुरुष ज्योंका त्यों कोई एक स्वांग धारण करके नाटकके मंच पर प्रवेश करें उसीप्रकार जीव और अजीव-दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं तथापि दोनों एक ही कर्ताकर्मका वेष धारण कर प्रवेश करते हैं अर्थात् जीव कर्ता और जड़ उसका कर्म हो-वैसा अज्ञानीको भासित होता है। मैं अबन्ध हूँ—ऐसी वृत्ति उठे तो अज्ञानी उसका कर्ता होता है; शुभाशुभ दोनों भावोंका कर्ता अज्ञानी होता है, किन्तु ज्ञानी उनका कर्ता नहीं होता।

अब प्रथम, ज्ञान उस स्वांगको यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञानीकी महिमाका श्लोक कहते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी।
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्॥

ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं ।
साक्षात्कुर्वन्निरुपाधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥ ४६ ॥

अर्थः—'इस लोकमें मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ, और क्रोधादि भाव मेरे कर्म है'—ऐसी जो अज्ञानियोंके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है उसका सब ओरसे दमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रस्फुटित होती है। कैसी है वह ज्ञानज्योति? जो परम उदात्त है अर्थात् किसीके आधीन नहीं है, जो अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकारसे आकुलतारूप नहीं है और पराश्रयके विना भिन्न-भिन्न द्रव्योंको प्रकाशित करनेका स्वभाव होनेसे जो समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं क्रोधादिका कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म हैं। यहाँपर प्रथम क्रोधको क्यों लिया है? इसका कारण यह है कि—आत्मा निरा ज्ञायक है–उस स्वभावका न रुचना, न जमना–उसका नाम क्रोध है। स्वभाव न जमे सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है; जो परसे भिन्न अकेला अखण्ड चैतन्यस्वभाव है सो मैं नहीं हूँ, इसप्रकार स्वभावकी अरुचि–क्रोध है; ज्ञायक वस्तु अपने अनन्तगुणोंका अखण्ड पिंड है, विषमताके समस्त भङ्ग-भेद अजीवके सम्बन्धसे दिखाई देते हैं;—उस अखण्ड स्वभावकी पुष्टि दृष्टिमें न होना, ज्ञातापनकी अरुचि सो क्रोध है; परपदार्थके प्रति अहंबुद्धि सो अनन्तानुबन्धी मान है; वस्तुके स्वभावको यथावत् न मानकर अन्य प्रकारसे स्वीकार करना सो अनन्तानुबन्धी माया है; स्वभावकी भावनासे च्युत होकर संयोग-विकारकी, पुण्यकी इच्छा करना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है।

इस जगतके सम्बन्धमें मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्ता हूँ और क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। जड़के विकारी भावोंका कर्ता मैं हूँ, अन्तरङ्गमें जो पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं वह मेरा कर्तव्य है, मेरे करनेसे वह होता है—ऐसी जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति

अज्ञानीके होती थी उसे सब ओरसे शान्त करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट हुई है।

मैं निर्दोष, पवित्र आत्मा हूँ—ऐसा जिसे भान नहीं है और क्रोध, मान, माया, लोभ मेरा कर्तव्य है, मेरी कर्मण्यता है, मेरी क्रिया है, मैं इसका कर्ता हूँ—ऐसी कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिको सब ओरसे शमन करती ज्ञानज्योति प्रगट हुई।

अकेला ज्ञातापन नहीं चाहिये, क्रोधादि करनेसे लाभ है, मैं अवगुणका कर्ता हूँ और अवगुण मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है। और नित्य ज्ञातापना ही मेरा स्वभाव है, शरीर, मन, वाणी तो मेरे नहीं हैं किन्तु अवगुणका कार्य भी मेरा नहीं है—इसप्रकार ज्ञानी अपनेको अवगुणसे भिन्न करना चाहता है। मैं अवगुणका अकारक हूँ, नाशक हूँ किन्तु कर्ता नहीं—ऐसी ज्ञानज्योति सम्यग्ज्ञान होनेसे सर्व प्रकारसे कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिको शमन करती हुई प्रगट होती है।

जिस भावसे सर्वार्थसिद्धिका पद मिले, तीर्थंकर पद प्राप्त हो—वह भाव भी मेरा कार्य नहीं है—मेरी कर्मण्यता नहीं है। अमुक शुभविकल्प अच्छा और अशुभ विकल्प बुरा—ऐसा कुछ भी स्वभावदृष्टिमें नहीं है। चक्रवर्ती पद, वासुदेवपद, इन्द्रादिपद यह सब धूलके समान हैं, परमाणुकी अवस्था है—इसप्रकार सर्व ओरसे कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका शमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट होती है।

ज्ञानज्योति परभावोंमें कर्ताकर्मरूप अज्ञानके सर्व विकल्पभावका अन्त करती हुई प्रस्फुटित होती है। कैसी है ज्ञानज्योति? पराधीन नहीं है, स्वतंत्र है; अपने आधीन है। अज्ञानी कर्माधीन होकर-विकारी भावोंको अपना मानकर वहाँ रुक जाता है, किन्तु उसे भान नहीं है कि मेरा स्वभाव उस विकारका नाशक है।

कोई ऐसा कहे कि विकारी भाव मेरा है या नहीं? परकी

ही रहता है और आत्मा और आस्रवका अन्तर अर्थात् दोनोंको भिन्न नहीं जानता।

आत्मा तो निर्दोष ज्ञातास्वभाव है और आस्रव सदोष बन्ध-स्वरूप है—इसप्रकार दोनोंकी भिन्नताको न जाने तबतक वह आत्माके गुणोंसे अनभिज्ञ रहता हुआ—यही मेरा कार्य है और यही कर्तव्य है—ऐसा जानता हुआ स्वतंत्रताके भावसे च्युत होकर परतंत्रताके भावको करता है। यह अब गाथामें कहते हैं:—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्लंपि।
अण्णाणी तावदु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥ ६९ ॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥ ७० ॥

अर्थः—जहाँ तक यह जीव, आत्मा और आस्रव—इन दोनोंके अन्तरको नहीं जानता वहाँ तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिक आस्रवोंमें प्रवर्तमान रहता है; क्रोधादिकमें प्रवर्तन करते हुए उसे कर्मोंका संचय होता है। वास्तवमें इसप्रकार जीवको कर्मोंका बन्ध सर्वज्ञ देवोंने कहा है।

आत्मा जहाँ तक अपना और आस्रवका भेद नहीं जानता वहाँ तक उसे अज्ञानके कारण कर्मबन्ध होता है। जैसे अन्धा मनुष्य दानेको और कंकड़को भिन्न नहीं करता उसीप्रकार वह आत्मा और आस्रवको भिन्न नहीं करता; उसने क्षणिक उपाधिभावको भिन्न नहीं जाना इससे उसने परम सत्यको स्वीकार नहीं किया।

आचार्यदेवने प्रथम जीव कहा है और फिर आत्मा; अर्थात् उन्हें कहीं जीव और आत्माको भिन्न नहीं कहना है, परन्तु जीव और आत्मा दोनों एक ही वस्तु है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

नित्यस्थायी स्वभाव क्या? और अस्थायी क्या? इसप्रकार दोनोंको भिन्न न समझे तो अनित्य विकारसे भिन्न प्रवर्तन कैसे करेगा? जैसे बाल-बच्चेरूप प्रजाको अपनी मानता है उसीप्रकार आत्मामें पुण्य-पापकी वृत्तिरूप प्रजा होती है उसे अपना माने, वह मेरे उत्तर-दायित्वको संभालेंगे—ऐसा मानेगा वहाँ तक वह जीव कार्य करता ही रहेगा, और उनसे भिन्न प्रवर्तन नहीं करेगा।

मैं आत्मा ज्ञान हूँ, शांत हूँ, निर्मल हूँ—ऐसे अपने स्वभावको भूलकर जो पुण्य-पापके विकारी भाव आत्मामें होते हैं उन्हें अपना इष्ट मानता है, वह अपने मूलधनको खोता है, उन विकारी भावोंको अपना माने वही आस्रव है; अज्ञानी, विकारी पर्यायको अपना मानकर प्रवर्तन करता है, इससे उसे कर्मोंका संचय होता है। वास्तवमें इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव सर्वदर्शीने बन्धनका स्वरूप कहा है।

जैसे यह आत्मा, जिनका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् स्वरूपसिद्ध सम्बन्ध है; त्रिकालस्वरूपका सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और ज्ञानमें विशेष (अन्तर, भिन्नलक्षण) न होनेसे उनका भेद (भिन्नत्व) न देखकर सम्यक्ज्ञानी जीव निःशंक रीतिसे ज्ञानमें अपने रूपसे प्रवर्तन करता है।

ज्ञान, गुण है और आत्मा द्रव्य है। उन दोनोंका त्रिकाल तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है, उसे अपना—स्वतःका स्वरूप जानता हुआ निःशंकतासे ज्ञानमें अपनेरूपसे प्रवर्तन करता है और जिस ज्ञानमें प्रवर्तन करता है वह ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होनेके कारण उसका निषेध नहीं किया गया है। शरीरादिकी और रागादिकी जो क्रिया होती है उसे जान लेना सो वह ज्ञानकी परिणति—ज्ञानकी क्रिया है। शरीर और रागकी अवस्था मैं नहीं हूँ, मैं तो भिन्न ज्ञाता हूँ—ज्ञाताभावसे

रहकर उसे जान लेना सो ज्ञानकी क्रिया है। ज्ञान, ज्ञानमें एकाग्र हुआ वह ज्ञानकी क्रिया है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञानी जानते हैं कि मुझसे विरुद्ध यह रागादि है उसका मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु उसका ज्ञाता रहना मेरा कार्य है, वह मेरे ज्ञानकी क्रिया है। इस क्रियाका सर्वज्ञ-भगवानने निषेध नहीं किया है, क्योंकि ज्ञानक्रियामें पुरुषार्थ है, ज्ञानक्रिया अपना स्वभाव है, और वह सद्भूत व्यवहार है।

चारित्रकी कमजोरीके कारण राग-द्वेषकी शुभाशुभ वृत्तियाँ होती है—वह चैतन्यकी अरूपी विकारी क्रिया है वह आत्माकी अपनी अवस्था है। अज्ञान अवस्थामें विकारी क्रियाका कर्ता होता था और भान होने पर ज्ञानका कर्ता हुआ तथा ज्ञान इसकी क्रिया हुई। देखो, इसमें क्रिया आई, किन्तु चैतन्यकी क्रिया आई। जड़की क्रिया मेरी नहीं है, विकारी क्रिया मेरी नहीं है, किन्तु ज्ञानकी जो क्रिया है वह मेरी क्रिया है। इस क्रियासे बन्धनभाव दूर होकर स्वाधीन भाव होते है, इसलिये इसका निषेध नहीं किया है।

ज्ञानी अपने ज्ञानमें स्व-परको जानता है किन्तु परका कर्ता नहीं होता; पहले विकाररूप परिणमित होता था उससे हटकर अब ज्ञातारूप परिणमन करता है। यह मोक्षमार्गकी—साधककी क्रिया है।

शरीरकी और रागादिकी क्रियाको अपनी मानता था, उस विपरीत अवस्थाको निज ज्ञाता स्वभावके आश्रय द्वारा बदलकर ऐसा मानने लगा कि ज्ञानकी क्रिया मेरी स्वभावभूत क्रिया है; वह क्रिया स्वभावभूत होनेके कारण उसका निषेध नहीं किया है।

इसीप्रकार यह आत्मा जबतक जिनका संयोगसिद्ध सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवोंमें भी, अपने अज्ञानभावके कारण, विशेष न जानता हुआ उनका भेद नहीं देखता तबतक क्रोधादिमें निःशंक रूपसे स्वतः प्रवर्तन करता है।

ज्ञान और आत्माका जो तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, अर्थात् एक

स्वरूप है और आत्माकी पर्यायमें होने वाले विकारी आस्रव भावोंका इस आत्माके साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है।

गुड़ और मिठासका तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु मटकी और गुड़का संयोगसिद्ध सम्बन्ध है; उसीप्रकार आत्माका और राग-द्वेषका संयोग-सिद्ध सम्बन्ध है। जो विकारी भाव होते हैं वे परसंयोगसे होते हैं; इसलिये उनके साथ आत्माका संयोगसिद्ध सम्बन्ध है। संयोग अर्थात् साथमें रहे हुए, और तादात्म्य अर्थात् तत्स्वरूप सम्बन्ध। विकारी भावोंका आत्माके साथ क्षणिक सम्बन्ध है इसलिये वे संयोगी भाव हैं।

आचार्यदेवने इस गाथामें प्रथम क्रोधकी बात क्यों ली है? आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, उस स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा न होना सो क्रोध है, स्वभावकी अरुचि होना सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। जगतको यह स्वभाव नहीं बैठता इससे आचार्यदेवने पहले क्रोधकी बात ली है।

मैं कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म हैं—ऐसा माननेसे क्रोधादिमें पुण्य-पापके दोनों भाव आजाते हैं।

कर्ताकर्मका अर्थ क्या है? कर्तासे उसका कर्तव्य भिन्न नहीं होता; शरीरादि, राग इत्यादि आत्मासे पृथक् हो जाते हैं इसलिये वह ज्ञाताका कर्तव्य नहीं है।

शास्त्रमें तीन प्रकारके सम्बन्ध आते हैं। एक—तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध, दूसरा—संयोगसिद्ध सम्बन्ध और तीसरा—परस्पर अवगाह-लक्षणसिद्ध सम्बन्ध।

ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध इसप्रकार है जैसे अग्नि और उष्णताका सम्बन्ध है। ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध होनेसे ज्ञानक्रियाका निषेध नहीं किया है, क्योंकि ज्ञानियोंके साधक दशामें ज्ञानक्रिया आये विना नहीं रहती। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उनका आत्माके साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है; जिनका वियोग होता है उनका संयोगसिद्ध सम्बन्ध कहलाता है। जिनका संयोग होता है उनका वियोग भी होता

है। क्रोधादि एक समयमें नष्ट हो जाते हैं और दूसरे समय नवीन उत्पन्न होते हैं। आत्माका भान होने पर मिथ्यात्वरूप क्रोधादि समूल नष्ट हो जाते हैं, इसलिये क्रोधादि आत्माके साथ उत्पाद-व्यय सम्बन्धसे हैं किन्तु ध्रुव सम्बन्धसे नहीं हैं। ध्रुव सम्बन्ध नहीं है इसलिये संयोग-सम्बन्ध है, किन्तु स्वभावसम्बन्ध नहीं है।

पंच महाव्रतके शुभपरिणाम भी आत्माके साथ संयोग सम्बन्धसे हैं। संयोग है इससे केवलज्ञान प्राप्त होने पर उन परिणामोंका वियोग होता है; जिनका उत्पाद हो उनका व्यय होता है।

कोई यह प्रश्न करे कि—ज्ञानकी अवस्था बदलती है न? उसका उत्पाद-व्यय होता है या नहीं? उसका उत्तर इसप्रकार है—ज्ञानकी पर्याय बदलती अवश्य है, उत्पाद-व्यय भी होता है, किन्तु जैसा चैतन्यका निर्मल स्वभाव है, उसीप्रकारका उत्पाद-व्यय होता है। पर्यायकी जाति वैसीकी वैसी रहकर बदलती है, इसलिये ज्ञानकी पर्यायका आत्माके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। क्रोधादि विकारी परिणाम आत्माके स्वभावसे विरुद्ध स्वभाववाले हैं। क्रोधादिकी पर्याय प्रति समय भिन्न-भिन्न प्रकारसे बदलता है। रुचि, अरुचि, हर्ष, शोक इत्यादि भाव आत्माके शांत स्वभावरूप नहीं हैं किन्तु विपरीत स्वभाववाले हैं, इससे आत्माका उन विकारी परिणामोंके साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है किन्तु तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध नहीं है।

जो विकारी और अविकारी भावोंके अन्तरको नहीं जानता वह अज्ञानी, अज्ञानताके कारण विकारका कर्ता होकर प्रवर्तन करता है। अज्ञानी स्वभाव और विभावके भेदको न जानता हुआ, यह क्रोधादिकी वृत्तियाँ जैसे मुझमें ही होती हों—ऐसा निःशंकरूपसे उन्हें अपना मानकर प्रवर्तन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभको मैं उत्पन्न करता हूँ और वह मेरा कार्य है—इसप्रकार क्रोधादिका कर्ता होता है। अज्ञानी क्रोध, मान, मायामें अपने रूपसे प्रवर्तन करता है, उसे क्रोधादिकी क्रिया कहा गया है किन्तु वह क्रिया परभावभूत होनेके

कारण उसका निषेध किया है, तो भी अज्ञानीको ऐसा अभ्यास हो गया है कि–क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं। जैसे विष्टाके कीड़ेको पुनः पुनः उसमें जानेकी आदत पड़ जाती है वैसे ही अज्ञानीको पुनः पुनः क्रोधरूप, मोहरूप परिणमन करनेकी आदत पड़ गई है; इससे वह निःशंकरूपसे उनमें परिणमन करता है। अज्ञानी अपने अज्ञानभावके कारण, ज्ञानभवनमात्र जो सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टा मात्र) अवस्था है उसका त्याग करके अज्ञान-भवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तन करता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है।

ज्ञानीके राग-द्वेष होते हैं—'हो जाते हैं', किन्तु उसको ऐसी बुद्धि नहीं होती कि मैं राग-द्वेषको उत्पन्न करता हूँ, उसका कर्ता हूँ।

अपना स्वभाव निर्दोष ज्ञानमूर्ति है; जो राग-द्वेष होते हैं उन्हें जाननेका और स्वतःको जाननेका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है,—ऐसी अपनी सहज वैराग्यरूप ज्ञाता-दृष्टा अवस्थाको भूलकर अज्ञानी क्रोधादि परकी वृत्तियोंमें रुक जाता है इससे चैतन्यकी जागृति रुक जाती है, वह विकसित नहीं हो पाती। ज्ञान प्रतिभासित होनेके बदले मात्र क्रोधादि ही प्रतिभासित होते हैं। मैं इसीका कर्ता हूँ और यही मेरा धर्म है—ऐसा मिथ्या प्रतिभास उसे होता है। इसप्रकार निःशंकतासे परिणमित होता हुआ प्रवर्तन करता है। आचार्यदेवकी प्रत्येक गाथामें अपूर्व रहस्य विद्यमान है।

जो अज्ञानभवन व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तन करता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है और ज्ञानभवनव्यापार-रूप प्रवर्तनसे भिन्न जो क्रियमाणरूपसे अन्तरङ्गमें उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं—ऐसे क्रोधादिक कर्म हैं।

निर्दोष ज्ञानके होनेवाले प्रवर्तनसे भिन्न, क्रियमाणरूपसे इन क्रोधादिका मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है—इसप्रकार, अपनेसे किये जा रहे प्रतिभासित होते हैं; यही मेरा कार्य है ऐसा मानता है किन्तु इससे भिन्न मेरा कार्य है—उसे नहीं जानता।

जीवको परका माहात्म्य आया है किन्तु स्वका माहात्म्य नहीं आया; जबतक स्वका माहात्म्य न आये तबतक दिशा कैसे बदल सकती है?

जो ज्ञानव्यापारसे भिन्न लक्षणवाले क्षणिक विकार होते हैं, ये मेरे स्वभावभवनमेंसे ही होते हैं, पुण्य-पापकी वृत्ति मेरे स्वभावमेंसे ही निकलती है, विकार करना मेरा स्वभाव ही है, पराश्रय, शुभराग करना चाहिये, रागादि, शरीरकी क्रिया, क्रोधादि मेरा कार्य है और यही मेरा कर्तव्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु मैं इनसे भिन्न हूँ—ज्ञाता ही हूँ ऐसा उसे भासित नहीं होता अर्थात् नहीं जानता।

मैं अपने स्वभावका और इन क्रोधादिका ज्ञान करने वाला हूँ, अपनेको जानते हुए अपनी ज्ञानदशामें ज्ञाता रहकर अपने और परके भिन्नत्वका भास होना चाहिये—ऐसे स्व-पर प्रकाशक स्वभावको भूलकर, मैं क्रोधादि जितना ही हूँ, क्रोधादि मेरा स्वरूप है, पराश्रय-व्यवहार मेरा कर्तव्य है—इसप्रकार अज्ञानी परको अपने रूपसे ही जानता है।

अपने भिन्न स्वभावका भान नहीं है इससे अज्ञानरूपसे ऐसा भासित होता है कि—पुण्य-पापकी जो विकारी अरूपी क्रिया है उसका मैं कर्ता हूँ, वह सब अपनी स्वभावप्रवृत्तिरूप प्रतिभासित होता है—यही संसारका कारण है।

अज्ञानी अज्ञान अवस्थाके कारण विकारी भावोंका कर्ता होता है, परन्तु जड़का कर्ता तो कोई व्यवहारसे भी हो ही नहीं सकता, अज्ञानी मानता है कि मैं जड़का कर्ता होता हूँ—अपने भावोंमें ऐसी मिथ्यात्व पूर्वक रागादिककी न्यूनाधिकता किया करता है, परन्तु जड़का कुछ कर ही नहीं सकता। इसप्रकार अनादिकालसे अज्ञान द्वारा हुई यह कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है।

आत्मा परका अकर्ता है, आत्माका स्वरूप परसे भिन्न है, ऐसा

स्वरूप समझने पर ही निवृत्ति है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई रीति नहीं है। देखो न ! क्षणमात्रमें देह छोड़कर चला जाता है; आज इस भवमें और कल अन्य किसी गतिमें ! स्वरूपको समझे विना कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति ज्योंकी त्यों बनी ही रहती है। इसलिये इस स्वरूपको समझनेसे ही भवका अन्त हो सकता है।

इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण कर्ताकर्मभाव द्वारा क्रोधादिमें प्रवर्तमान इस आत्माको, क्रोधादिकी प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्त-मात्र करके स्वतः अपने भावसे ही परिणमित पुद्गलकर्म एकत्रित होते हैं।

देखो, कर्मने अज्ञान नहीं कराया ! आचार्यदेव कहते हैं कि अपने अज्ञान द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभमें प्रवर्तमान आत्माको बन्ध होता है।

जीव अज्ञानको लेकर क्रोधमें उलझा, मानमें फंसा, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि–अरे भाई, धैर्य रख ! स्वतंत्र ज्ञाता स्वभावके तीव्र विरोधके फलमें तू एकेन्द्रिय निगोदमें चला गया था, वहां मानादि कषाय व्यक्त करनेकी ताकत नहीं थी, मूलीके साथ तू मुफ्त बिक रहा था, अब इस मानव भवमें तो चेत ! तू तो तीनलोकका नाथ है, तू परसे और अनित्य क्रोधादिसे भिन्न ज्ञानस्वरूप है प्रथम उसका भान कर ! लोभ और आकुलताको छोड़ दे।

आत्मा अज्ञान अवस्थामें क्रोधादिका कर्ता होता है, उन परिणामोंका निमित्त पाकर नवीन रजकणोंका बन्धन होता है, वह प्रारब्ध जड़ रजकणोंके सामर्थ्यसे बंधता है। रजकणमें भी परिवर्तित-परिणमित होनेकी स्वतंत्र सामर्थ्य है !

रजकण अपने स्वतंत्र परिणमनसे एकत्रित होते हैं, जब आत्मा अज्ञान अवस्थामें शुभाशुभ भावरूप परिणमित हो तब वे परिणाम कर्मबन्ध होनेमें बाह्य निमित्त होते है; कर्मरूप रजकरण अपनी स्वतंत्र योग्यतासे बंधते हैं किन्तु शुभाशुभ परिणाम उन्हें निमित्तरूप

होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकपना स्वतः बनता है, कर्म स्वयमेव अपने आप ही स्वतंत्र परिणमित होते हैं। जैसे भात, दाल आदि खाद्य पदार्थ पेटमें जाते हैं, पश्चात् वे अपने आप स्वकालमें मांसादि, पित्तादि आदि अवस्थारूपसे परिणमित हो जाते हैं, कोई उन्हें परिणमित नहीं करता, उसीप्रकार जड़शक्तिवान पुद्गल स्वतः परिणमित हो जाते हैं।

इसप्रकार जीव और पुद्गलका, परस्पर एकक्षेत्रमें अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहरूप होनेसे जिसमेंसे इतरेतराश्रय दोष दूर हुआ है—ऐसा वह बंध कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान है—उसका निमित्त है।

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल स्वतः कर्मरूपसे परिणमित हो जाते हैं, एक दूसरेकी अवस्थाकी योग्यता ऐसी होती है कि दोनों एकक्षेत्रावगाहरूपमें एक स्थान पर व्याप्त होकर रहते हैं, उनका परस्पर अवगाहलक्षणसम्बन्ध कहलाता है। जीवके परिणामोंका वाह्य निमित्त पाकर कर्मके पुद्गल एक ही स्थान पर अवगाहित होकर रहते हैं तो भी भावसे भिन्न हैं। जो एक स्थान पर रहते हैं उन्हें, अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध कहा जाता है।

गुण-गुणी एक-दूसरेसे भिन्न नहीं होते, तदाकार हैं इसलिये उनका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध कहा जाता है।

रागादि विकारके संयोगका वियोग होता है इसलिये उसे संयोगसिद्ध सम्बन्ध कहा जाता है। यहाँ पर तीन प्रकारका सम्बन्ध लिया है, किन्तु चौथा सम्बन्ध नहीं लिया। स्त्री और बच्चोंका सम्बन्ध नहीं लिया है, जो सम्बन्ध ही नही है वह कैसे लिया जायगा? वे तो अपनेसे विल्कुल भिन्न हैं, दूरवर्ती क्षेत्रमें रह रहे हैं, उनके साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं हैं। उनके प्रति राग है उस रागका सम्बन्ध आत्माके साथ है, किन्तु स्त्री-बच्चोंका सम्बन्ध तो आत्माके साथ किंचित् भी नहीं

है। किन्तु उनके प्रति राग है इससे उपचारसे अर्थात् मात्र आरोपसे कहा जाता है कि सम्बन्ध है, किन्तु वास्तवमें तो कोई सम्बन्ध नहीं है।

जीव और पुद्गलका जो बन्ध होता है उसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं है। जीवके वहीके वही परिणामोंसे बन्ध हो और उसीके उसी बन्धसे पुनश्च वहीका वही राग हो तो इतरेतराश्रय दोष लगे, किन्तु वस्तुस्वरूप वैसा नहीं हैं; जैसे रूईकी एक पौनीके पश्चात् दूसरी पौनी पृथक् होती है तो भी सूत बनता जाता है, वैसे ही अमुक स्थिति तक कर्म आत्मामें रहते हैं, पुराने दूर होते जाते हैं और नवीन बँधते जाते हैं किन्तु प्रवाह नहीं टूटता। जिस परिणामसे कर्मका बन्ध हुआ वह बन्ध उसीके उसी परिणामका निमित्त नहीं होता किन्तु नवीन परिणामोंका निमित्त होता है और जो नवीन विकारी परिणाम हुए वे पुराने बन्धके निमित नहीं होते किन्तु नवीन बन्धके निमित्त होते हैं इसलिये इतरेतराश्रय दोष नहीं लगता।

पहले आत्मा शुद्ध था और पश्चात् अशुद्ध हो गया, पहले कर्म नहीं थे और फिर बँध गये—ऐसा नहीं है, अर्थात् आत्माके परिणामोंसे कर्म हुए और कर्मोंसे आत्माके परिणाम हुए—ऐसा नहीं है, एक-दूसरेके आधारसे दोनों सिद्ध हुए—वैसा नहीं है परन्तु अनादिकालसे स्वतःसिद्ध हैं; अनादिसे कर्म कर्मरूप और आत्माके परिणाम विकाररूप स्वतंत्र परिणमित होते आते हैं, दोनों द्रव्योंके परिणमन-चक्र अनादि-कालसे स्वतंत्ररूपसे परिणमित होते चले आरहे हैं, कोई किसीके आधारसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये इतरेतराश्रय दोष नहीं लगता।

अनादिकालसे जो ऐसा बन्ध है वह कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका जो अज्ञान है उस अज्ञानका निमित्त है।

अज्ञान आत्माका मूल स्वभाव नहीं है, इससे जो पूर्वका बन्ध है, वह अज्ञानका निमित्त है। अज्ञान-पर्याय उपादान है और उसका निमित्तकारण बन्ध है। जो बन्ध होता जाता है वह नवीन अज्ञानका निमित्त होता है। अज्ञानपर्याय अपने विपरीत पुरुषार्थके कारण वहती है। इससे तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह कर्मरूपमें अन्य कोई वस्तु है,

कर्म कहीं राग-द्वेष या अज्ञान नहीं करा देते, किन्तु जो नवीन कर्म बंधते हैं वे भविष्यमें तबतक निमित्त होते हैं जबतक जीव स्वतः राग-द्वेष और अज्ञान करता रहता है।

आत्मा जबतक अपने निर्दोष ज्ञानस्वभावमें और क्रोधादिमें भेद नहीं जानता तबतक उसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है।

कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त अज्ञानपर्याय है-और अज्ञानपर्यायका निमित्त पूर्वका बन्ध है, इससे जिसके अज्ञानपर्याय दूर हो गई-उसके बन्ध भी हट गया, और उसकी कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति भी दूर हो गई; इसप्रकार ज्ञान होनेसे ही अबन्ध हो गया।

जिसके अज्ञानपर्याय है उसके बन्ध भी है और कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति भी है॥ ६९-७०॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि—प्रभो! इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? देखो, शिष्यको तीव्राकांक्षा हुई है कि अहो! ऐसा चैतन्यस्वभाव हमें कब प्राप्त होगा? अनन्तकालसे ऐसेका ऐसा परिभ्रमण चला आरहा है वह कब रुक जायेगा? राग-द्वेष और आत्म-स्वभावके भिन्नत्वकी जिसे खबर नहीं है—ऐसा अजान शिष्य समझनेके लिये आतुरतासे पूछता है।

शिष्यने जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न किया कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अन्त कब आयेगा? उसका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं:

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥ ७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य॥ ७१॥

अर्थः—जब यह जीव आत्मा और आस्रवोंके अन्तर और भेदको जान लेता है तब उसे बन्ध नहीं होता। "जइया" अर्थात् जब इसे [illegible] पुरुषार्थ करता है तब अपना हित होता है ऐसा

कहा है, किन्तु कोई कर्म, काल, निमित्तादिके कारण यह कार्य होता है ऐसा नहीं है।

जीवको जब अपने निर्दोष स्वभावका और विकारी भावका भेदज्ञान हो जाता है तब वह अबन्ध हो जाता है। जहांतक विकारी भावोंको अपना मानता है तबतक उसे बन्ध होता है। अनन्तकालसे जीवने बहुत किया परन्तु विकारी भावोंसे पृथक् होनेका प्रयत्न नहीं किया, अविकारी अबन्धस्वरूप आत्माको समझने पर ही मोक्षका पंथ प्रगट होता है, मोक्षकी साधनरूप डोरी हाथमें आती है; सम्यग्ज्ञान होते ही आस्रवोंसे भेदज्ञान होता है।

इस जगतमें जो वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है, और 'स्वका' भवन सो स्व-भाव है; इसलिये निश्चयसे ज्ञानका होना–ज्ञानरूप परिणमित होना सो आत्मा है और क्रोधादिका होना—परिणमित होना सो क्रोधादि हैं।

देखो! वस्तुकी व्याख्या की है, जिसमें विकारभाव हो वह वस्तु नहीं किन्तु वस्तु अपना 'स्वभाव मात्र' ही है—ऐसा कहा है। जितना स्वभाव है उतनी ही वस्तु है, जो विकार है वह वस्तु नहीं है। यह द्रव्यदृष्टिकी बात है। स्वभावमें परवस्तु तो नहीं है किन्तु क्रोधादिका होना—परिणमित होना भी वस्तु नहीं, वह भी वस्तु नहीं है।

आत्मा निर्दोष ज्ञानस्वरूप है, उसमें निरुपाधिकरूपसे स्वभावका होना—परिणमित होना सो वस्तुका स्वभाव है। वास्तवमें आत्माकी पर्यायमें जो करने–धरनेकी वृत्ति हो वह आत्माका होना—परिणमित होना नहीं है, पुण्य-पापकी जितनी वृत्तियां होती हैं वह आत्मा नहीं किन्तु क्रोधादिसे विलक्षण अपने ज्ञानस्वभावमें स्वतः परिणमित होना सो वस्तु है, वह आत्मा है।

पुण्य-पापकी किसी भी प्रकारकी वृत्तिकी उपाधिसे रहित मात्र ज्ञाताभाव ही आत्मा है।

उस समय मिथ्यात्वादि आस्रवोंसे निवृत्ति होती प्रतीत होती है, ज्ञाताकी ज्ञानक्रिया हो रही भासित होती है, किन्तु क्रोधादिक होते प्रतीत नहीं होते।

जब स्वतः साक्षी होता है तब, अर्थात् जाननेके समय ज्ञान करना ही प्रतीत होता है, मैं ज्ञान करनेमें बढ़ रहा हूँ—ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु उस समय क्रोधादि विकारोंमें वृद्धि होती मालूम नहीं पड़ती। ज्ञानीके विकारी पर्यायका स्वामित्व नहीं है; विकार स्वभाव भवनमें नहीं है इससे उसमें दिखाई ही नहीं देता—ऐसा कहा है।

मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जब श्रद्धा, ज्ञान और आचरणमें एकाग्र होता है तब उसमें राग, द्वेष, क्रोधादि मिश्रित प्रतीत नहीं होते; मिश्रित हैं ही नहीं; भिन्न हैं इसलिये मालूम नहीं पड़ते।

मैं तो शरीरादि और क्रोधादि विकार—सबका ज्ञाता हूँ, ऐसे भानमें ज्ञाता ही प्रतीत होता है, क्रोधादिक पर अपने स्वभावमें प्रतीत नहीं होते। मैं परसे निराला हूँ ऐसे भानके समय, मैं परका साक्षी हूँ—ऐसा भासित होता है, किन्तु यह भासित नहीं होता कि पर मुझमें है। जब साक्षीकी साक्षी रूप पर्याय होती है उससमय क्रोधादिका कर्तृत्व नहीं होता, और होता हुआ दिखाई भी नहीं देता। ज्ञाता होनेके समय क्रोधादिक नहीं होते, उन्हें भिन्न माना है इससे कर्ता नहीं होता इसलिये ज्ञाता ही है; इसप्रकार जो ज्ञानका होना—परिणमित होना है वह क्रोधादिका होना-परिणमित होना नहीं है।

क्रोधादिका जो होना-परिणमित होना है वह ज्ञानका भी होना-परिणमित होना नहीं है, कारण कि क्रोधादिके होने-परिणमित होनेके समय जैसे क्रोधादि होते प्रतीत होते हैं उसीप्रकार ज्ञान होता मालूम नहीं पड़ता। इसप्रकार क्रोधादि और आत्माके निश्चयसे एकवस्तुपना नहीं है।

क्रोध, राग-द्वेष आदि मैं हूँ—इसप्रकार जो कर्ता होकर रुक गया है उसे उसके साथ ही यह प्रतीत नहीं होता कि मैं ज्ञाता हूँ। यहाँ तो पहली ही चोटमें वस्तुस्वभावको पृथक् कर दिया है।

जब ऐसे भाव रहते है कि-मैं क्रोध हूँ, मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ-तब ऐसा भान नहीं होता कि मैं ज्ञाता भिन्न हूँ। विकार अपना स्वभाव नहीं है और ज्ञानादि अपना स्वभाव है, इससे दोनों वस्तुओंको बिल्कुल पृथक् कर दिया है।

जिस समय यह भासित होता है कि प्रथम कुछ व्यवहार-शुभराग करके धर्मका लाभ लूं, मैं रागी ही हूँ, मायाचारी ही हूँ,—उस समय यह प्रतिभासित नहीं होता कि मैं असयोगी ज्ञाता-पृथक् तत्व हूँ, यह समस्त विकार मुझ ज्ञाताके ज्ञेय हैं; इसलिये क्रोध, मान अपने स्वभाव-गृहके नहीं किन्तु पुद्गलके घरके हैं; (ऐसा भान अज्ञानमें कहां?) अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं क्रोधादिका कर्ता हूँ और वे मेरे कर्म हैं; किन्तु उसे यह भासित नहीं होता कि मैं ज्ञाता हूँ। ज्ञानादि और क्रोधादि दोनों एक वस्तु नहीं किन्तु दोनों भिन्न हैं।

जब कर्ता हुआ तब ज्ञाता होनेका भान नहीं, इसलिये कर्ता ही है; ज्ञाता होनेके समय क्रोधादिका कर्ता नहीं है; अपनेसे भिन्न माना है इसलिये उनका कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। ज्ञाताके समय कर्ता नहीं होता और कर्ताके समय ज्ञाता नहीं होता।

ज्ञानी विचार करता है कि मैं कर्ता भी अपने स्वभावका हूँ और कार्य भी अपने स्वभावका है, रागका जो विकारी कार्य है वह मेरा नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ।

कोई कहेगा कि क्या केवलज्ञानी हो गया है? मात्र जाननेमें पुरुषार्थ क्या आया? अरे भाई! इसमें अनन्त पुरुषार्थ है, द्रव्यके ऊपर दृष्टि डाली उसमें अनंत पुरुषार्थ आगया। जब स्वभावकी ओर का अनन्त पुरुषार्थ विकसित हुआ तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव होगया; साक्षीरूप-ज्ञायकरूप रहनेमें ही अनन्त पुरुषार्थ है। द्रव्यदृष्टिमें द्रव्य और पर्यायका भेद दिखाई नहीं देता, अपूर्ण और पूर्ण पर्यायके बीच भेद प्रतिभासित नहीं होता; ज्ञान अपूर्ण और पूर्ण पर्यायको जानता है, परन्तु दृष्टिमें उसका भेद नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण है, परन्तु

पर्यायदृष्टिसे अभी केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं हुई है इससे अपूर्ण है; किन्तु वस्तुस्वभावको जाननेके पश्चात् जो अल्प राग-द्वेष होता है वह दूर करनेके लिये है, रखनेके लिये नहीं, उसका कर्ता नहीं होता इससे वह ज्ञाताका ज्ञेय है।

साधकदशामें अल्प क्रोध होता है किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतामें उसे नहीं गिना है। यहाँ तो पहली ही चोटमें वस्तुस्वभावको पृथक् किया है, इससे शुभपरिणाम छोड़कर अशुभपरिणाम करनेकी बात यहाँ नहीं है; किन्तु राग-द्वेष मेरे हैं, वह मेरा कार्य है—ऐसी मान्यता अज्ञानीकी है ज्ञानीकी नहीं—वैसा समझाते हैं।

मैं तो अपने स्वभावका कर्ता हूँ, परका कर्ता नहीं हूँ,—ऐसे ज्ञान-भावसे परका—क्रोधादिकका आभास नहीं होता। अरे! यदि ज्ञानमें जाने तो भी स्व-परप्रकाशक है किन्तु स्व-परका कर्ता नहीं है।

विकारकी अस्वीकृति और अपने ज्ञायक स्वभावकी स्वीकृति ही आस्रव रोकनेका उपाय है।

मुनिओंके दस धर्मोंमें क्षमाधर्म प्रथम है। आचार्यदेव स्वतः मुनिपद पर हैं इससे यहाँ क्रोधको पहले लिया है, कारण कि दशधा धर्ममें प्रथम उत्तम क्षमा है। (१) कर्मबन्ध होगा इसलिये मैं क्षमा करूँ—वह भाव पुण्यबन्धमें जाता है; (२) शास्त्राज्ञा है इसलिये क्षमा करूँ उस भावसे भी पुण्यबन्ध होता है। (३) क्षमा नहीं करूँगा तो दुर्गतिमें जाऊँगा—ऐसा विचार करके यदि क्षमाभाव रखे तो उससे भी पुण्यबन्ध होता है; (४) किन्तु मेरा ज्ञायकस्वभाव ही अकषाय है—उसके भानमें स्थिर रहना ही वास्तविक क्षमा है—वही यथार्थ धर्म है।

क्षमाके विपक्ष क्रोध है। व्रतसे, तपसे, पूजासे अथवा भक्तिसे धर्म होगा—ऐसा मानकर उसमें रुचि, और अपने स्वभावकी अरुचि सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। स्वतः अनन्तगुणोंके पिंडरूप वस्तु है और ज्ञायक स्वभावाश्रित ज्ञाता रहना वह ज्ञानक्रिया धर्म है। उसमें [illegible] स्वीकार न करके पराश्रय [illegible] क्रोध

शरीरादिमें अपनापन—अहंपना स्वीकार करना सो अनन्तानुबन्धी मान है। अपना सरल स्वभाव जैसा है उसप्रकार नहीं जानना और बाह्य क्रियाकाण्ड करूँ तो स्वभावका विकास हो ऐसे विपरीत परिणाम सो अनन्तानुबन्धी माया है। अपनी स्वभावपर्यायका विकास करूँ तभी यथार्थ संतोष है—ऐसा न मानकर शुभाशुभ परिणामोंमें संतोष मानना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है।

ज्ञाता रहे तो उसमें क्रोधादि होते दिखाई नहीं देते और क्रोधादि हों तो उनमें ज्ञाताका ज्ञान होता प्रतीत नहीं होता। 'प्रतीत होता है'—ऐसा कहा, उसमें स्वतःके प्रतीत होनेकी बात है अथवा परके? स्वतः के ही प्रतीत होनेकी बात है। स्वतः ही अपनेको निःशंकतासे ज्ञानरूप भासित होता है. स्वतः ही अपनेको प्रतीत होता है—ऐसा ज्ञान हो तब स्वतः अपनेको क्रोधादिरूप होता प्रतिभासित नहीं होता किन्तु ज्ञानरूपसे निःशंकतापूर्वक भासित होता है, अन्यसे पूछने नहीं जाना पड़ता। यहाँपर केवलज्ञानीके अथवा परके प्रतीत होनेकी बात नहीं है किन्तु अपनी ही बात है।

छह मासके उपवास करनेसे आस्रव नहीं रुकता, मौन धारण करे तो भी आस्रव नहीं रुकता, किन्तु आत्माके स्वभावका ज्ञान करनेमे आस्रव रुकता है। ज्ञाताका ज्ञानभाव प्रतिभासित हो उससमय क्रोधादिका भास नहीं होता, और जब क्रोधादि प्रतिभासित हों तब ज्ञाताका भास नहीं होता।

यह बात सुनते ही भन्ना उठाता है. परन्तु भाई! सत्य बात तो यही है, यह समझे बिना भवका अन्त नहीं आयेगा।

इसप्रकार जब आत्मा और आस्रवोंके विशेष (अन्तर)को देखकर यह भगवान आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है उस-समय इस आत्माके अनादिसे होनेपर भी वे (परमें) अज्ञानसे उत्पन्न हुई प्रवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं।

कर्ताकर्मकी प्रवृत्तियाँ प्रवाहरूपसे-संतानरूपसे अनादि होने पर भी अज्ञानसे उत्पन्न हुई हैं; और अज्ञानसे उत्पन्न हुई हैं इसलिये वे दूर हो सकती हैं, वे आत्माके स्वभावसे उत्पन्न नहीं हुई हैं इसलिये उनकी निवृत्ति हो सकती है।

कर्ताकर्मकी निवृत्ति होनेसे पौद्गलिक कर्मका अर्थात् नवीन द्रव्यकर्मोंका बन्ध भी निवृत्त होता है—ऐसा होनेसे ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि क्रोधादिक और आत्मा—दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं; जो क्रोधादिक विकारी भाव होते हैं वे चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु वे अपने विपरीत पुरुषार्थ द्वारा परनिमित्तसे होनेवाले भाव हैं इसलिये पर हैं—ऐसा द्रव्यदृष्टिके बलसे कहते हैं।

ज्ञानमें क्रोध, मान नहीं है और क्रोध, मानमें भगवान आत्मा नहीं है—इसप्रकार दोनोंमें स्वभावभेद है; और स्वभावभेद है इसलिये वस्तुभेद है। इसप्रकार जब क्रोधका और आत्माका भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूप अज्ञान दूर हो और ज्ञानपर्याय प्रगट हो, तथा कर्मबन्ध न हो। इसप्रकार ज्ञान होनेसे ही बन्धका निरोध होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—जो शुभाशुभ परिणाम है सो मैं हूँ, मैं परका कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है—ऐसे मिथ्या-प्रलापके बिना एक दिन भी नहीं जाता? भाई! एक दिन तो ऐसे प्रलापको बन्द कर! ज्ञानी विचार करते हैं कि पर्यायका अंश है प्रजा; अल्प राग-द्वेषकी प्रजा हो उसमें रुकना मुझे अधिकार नहीं है, मैं तो निर्दोष ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ। ज्ञानीको द्रव्यदृष्टिके बलसे अल्प विकारी पर्यायमें रुकना पसन्द नहीं है, वे उसे अलग करते हैं-समाधान करते हैं।

भाई! द्रव्यदृष्टिके बलसे निःसन्देह-निःशंक हो जाओ। इसके बलसे चारित्र और केवलज्ञानके सभी भाव विद्यमान हैं वे प्रगट होंगे। इस समयसार शास्त्रकी रचना ऐसे बलवान योगमें हुई है कि जो पात्र हो वह तुरन्त समझ जाता है।

अधिकांश व्यक्ति कहते हैं कि इसमें तो मात्र ज्ञान ही ज्ञान आता है, परन्तु यहाँ पर तो आचार्यदेवको ज्ञान कहकर सम्पूर्ण आत्माका वर्णन करना है। ज्ञानका अर्थ है आत्मा; ज्ञानकी प्रसिद्धिसे आत्माकी प्रसिद्धि है; मिठासके द्वारा गुड़की पहिचान होती है—उसीप्रकार ज्ञानमें सम्पूर्ण आत्माका कथन करना है किन्तु एक गुणका नहीं। ज्ञानमें श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण आ जाते हैं। बालक-बालिकायें सभी ज्ञानसे समझ सकते हैं इसलिये आत्माको पहिचाननेके लिये ज्ञान ही मुख्य लक्षण कहा है; परन्तु वहाँ एक गुण न समझकर सम्पूर्ण आत्मा ही समझना चाहिये। ज्ञानस्वभावी आत्माका ज्ञान करना, उसकी प्रतीति और उसमें रमणता करना ही मोक्षमार्ग है।

जो विकारीभाव हैं सो मैं हूँ और यह मेरा कार्य है—ऐसा मिथ्याभाव दूर करनेसे ज्ञानपर्याय प्रगट होती है और उससे बन्धका निरोध होता है ॥ ७१ ॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि—ऐसा क्यों कहा है कि ज्ञान-मात्रसे ही बन्धका निरोध होता है? अरे भाई! ज्ञानमात्रका अर्थ है—बीचमें विकारका न होना, परके बन्धन और पुण्य-पाप वृत्तियोंसे रहित अकेला ज्ञानमात्रभाव; और उस ज्ञानमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब कुछ आ जाता है। ज्ञानकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और एकाग्रता—तीनों आ जाते हैं।

ज्ञानमात्रसे अबन्ध किसप्रकार है—उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।७२।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीत भावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७२ ॥

अर्थः—आस्रवोंकी अशुचिता और विपरीतता जानकर तथा वे दुःखके कारण हैं—ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आस्रव अशुचिमय हैं; शुभाशुभ-दोनों भाव आस्रव हैं, वे दोनों मलिन है और अशुचिमय हैं। अशुभभाव तो मलिन हैं ही, परन्तु शुभभावोंको मलिन कौन कहता है? जिसने ऐसा निर्णय किया हो कि—आत्मस्वभाव शुभाशुभभावोंसे रहित महा निर्मल एवं शुद्ध है। जिसने स्वभावका आस्वाद लिया हो वह पुरुष कहता है कि शुभभाव भी आस्रव हैं—मलिन हैं और मात्र शुभभावमें ही धर्म माननेवाले अज्ञानी जीव अकेले अशुभभावोंको आस्रव कहते हैं; किन्तु शुभभावोंको आस्रव न कहकर धर्म कहते हैं—यह उनकी अज्ञानता है-मूढ़ता है।

ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि—शुभाशुभभावरूप आस्रव दुःखरूप है—दुःखके कारण हैं; उनसे निवृत्ति करते हैं और ज्ञानमात्र आत्म-स्वभावमें प्रवृत्ति करते है। आचार्यदेवने इस गाथाको बहुत उच्च स्तर पर रखा है।

जलमें जो काई है वह मल है—मैल है। जलमें जो हरे रङ्गके लोथड़े जमे रहते हैं वे भिन्न हैं और स्वच्छ जल भिन्न है; इसी-प्रकार काईकी भांति आस्रव मलिन हैं और आत्मा तो निर्मल पवित्र है, वह आस्रवोंसे पृथक् है। आस्रवोंका वेदन क्रोधादि-मलिनरूप होनेसे वे मैले हैं। जिन भावोंसे तीर्थङ्कर गोत्रका बन्ध होता है वे भाव भी अशुचिमय हैं, गन्दे हैं, मैले हैं, राग है। जिन भावोंसे इन्द्रपदकी प्राप्ति होती है वे भी आत्मामें काईकी भांति हैं, मैले हैं; वह अपना स्वभाव नहीं है, इसलिये त्याग करने योग्य-हेय है। सम्यग्ज्ञानी जीव उन भावोंको आदरणीय नहीं मानता किन्तु छोड़ने योग्य ही जानता है। अज्ञानी उन भावोंको आदरणीय मानता है, तथापि उसके इन्द्रपद, तीर्थङ्करपद इत्यादि उच्च पदोंके शुभभाव नहीं होते, उसके वैसा उच्चपुण्य भी उसके नहीं बंधता। ज्ञानी शुभपरिणामोंको हेय जानता

है तो भी उतनी उच्च पदवीके शुभपरिणाम उसके होते हैं, इससे तीर्थङ्करपद, इन्द्रपद आदिका पुण्यबन्ध भी उसके होता है।

आस्रवोंको अशुचिमय कहा है, तो क्या उनसे दुर्गंध आती होगी? हाँ! पुण्य-पापके परिणाम अशुचिमय हैं, अपवित्र हैं, दुर्गंधयुक्त हैं, और आत्माके स्वभावसे बिल्कुल विरुद्ध जातिके हैं।

भगवान आत्मा तो निरन्तर अत्यन्त निर्मल, चैतन्यमात्र स्वभावरूप अनुभवमें आता है इसलिये शुचि है—पवित्र है—उज्ज्वल है।

देखो! भगवान आत्माको अत्यन्त निर्मल कहा है, मात्र निर्मल नहीं कहा, किन्तु अति निर्मल कहा है। पदार्थ स्वतः निर्मल है, उसका गुण निर्मल है और उसकी कारणपर्याय भी निर्मल है—इसप्रकार तीनोंकाल पदार्थ अति निर्मल है। जो त्रिकाल वीतरागविज्ञान स्वरूप हो उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा तो अत्यन्त शुचि, पवित्र और उज्ज्वल है, एवं वैसे परमपवित्र भगवान आत्माका भान होने पर आत्मा यथावत् ज्ञात होता है, अनुभवमें आता है। भगवान आत्माका स्वाद तो मिष्ट-मधुर है, परम-पवित्र है, शुचिमय है; और शुभाशुभ परिणामरूप आस्रवोंका स्वाद मलिनरूप अनुभवमें आता है, शुभाशुभ दोनों परिणाम आकुलतामय है, दुःखरूप हैं, अपवित्र हैं, इसलिये अशुचि है।

नदी-सरोवरका जल तो निर्मल है किन्तु ऊपर जो काई है वह मैली है, इसीप्रकार आत्मा तो निर्मल है परन्तु वर्तमान पर्यायमें होनेवाले विकार मैले हैं।

पुण्य-पापकी वृत्तिरूप आस्रव स्वतः अपनेको नहीं जानते किन्तु अन्य द्वारा ज्ञात होने योग्य है इसलिये जड़ हैं। पुण्यास्रवरूप शुभराग भी क्रोधादि है, क्रोधादिके विकारमें आत्माकी ज्ञाता शक्ति रुकती है, जाननेकी जागृति नहीं रहती, इससे वह आत्माका स्वभाव नहीं है किन्तु जड़ है, जड़के निमित्तसे होनेवाला विकार भी जड़ है।

क्रोध, मान, माया इत्यादिको यह खबर नही है कि हम क्रोध, मान, माया हैं अर्थात् उनमें परिणमन करनेवाला ज्ञान उस समय अन्ध है, और उन क्रोधादि विकारोसे भिन्न रहनेवाला ज्ञान उन्हें जान सकता है तथा अपने आत्माको भी जान सकता है। क्रोधादिमें परिणमित ज्ञान क्रोधादि-विकारको नही जान सकता और आत्माको भी नहीं जान सकता इससे वह अन्ध है।

आचार्यदेवने प्रत्येक गाथामें भगवान आत्माको ही स्थापित किया है, ऐसी अपूर्व वातको अस्वीकार मत करना, आंगनमे आकर लौटना मत।

भगवान आत्मा तो स्वतः को निरन्तर विज्ञानघनस्वभावरूप होनेसे, स्वतः ही चेतक (ज्ञाता) है (स्वत. को और परको जानता है) इसलिये चैतन्यसे अनन्य स्वभाव वाला है (अर्थात् चैतन्यसे अन्य स्वभाववाला नहीं है)।

विज्ञानघन कहनेमें परिपूर्ण निर्मल विज्ञानघन लिया है, विज्ञान-घन अर्थात् आत्मा ज्ञानका पिंड है, वह निबिड है, कठिन है, निर्भेद्य है कि जिसमें किसी परका प्रवेश नही हो सकता; ऐसा ज्ञाता निर्भेद्य आत्मा स्वतः चेतक है—ज्ञाता है, वह अपने द्रव्य, गुण, पर्यायको जानता है और अन्य समस्त पदार्थोंके द्रव्य, गुण, पर्यायको भी जानता है। परपदार्थके अनन्तभावोंको जानता है तथापि परका कोई अंश अपनेमे प्रवेश नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञाता घनरूप है—निर्बन्धरूप है। ज्ञाता स्वभाव आत्माका अनन्य स्वभाव है, एकरूप है, पृथक् स्वभाव नही है। व्यवहार रत्नत्रय पराश्रयरूप है, वे विकारी भाव अपनेको भी नहीं जानते और परको भी नहीं जानते। विज्ञानघन आत्मा स्वतः अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है।

ऐसे विज्ञानघन चैतन्यस्वभावको जाननेसे ही स्व-परका सच्चा ज्ञान होता है और इसीसे बन्धन रुकता है, स्वभावको प्रगट करनेका और बन्धको रोकनेका यह एक ही उपाय है, अन्य कोई नहीं।

फिर भेदज्ञान होजाये तो? यह बात बिल्कुल मिथ्या है। जिस समय सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है उसीसमय क्रोधादिकी निवृत्ति होती है दोनोंका समकाल है. प्रथम-पश्चात् है ही नहीं. अविनाभावीरूपसे एक साथ हैं। उपयोग परमें एकाकार है, उसमेंसे हटकर अपने स्वभावमें उपयोगकी रुचि और एकाग्रता होते ही क्रोधादि आस्रव निवृत्त होते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेसे ही अज्ञानसे जो कर्मबन्ध होता था वह रुक जाता है।

यह केवलज्ञानीकी बात नहीं, किन्तु अव्रती सम्यग्दृष्टिकी बात है। यह जो कहा गया है सो ही मार्ग है, यही सत्य पंथ है। सत्य पंथ पर सत्य मिलता है किन्तु असत्यके पंथपर सत्य नहीं मिलता। अनन्तकालसे विपरीत दृष्टि रखकर जीवोंने बहुत क्रिया-शास्त्रोंका अभ्यास किया, तप किये, व्रत किये, अरे! दिगम्बर मुनि भी अनन्तबार हुआ, वनमें फिरा, कठिनसे कठिन तप किये, एकान्तवास किया, किन्तु वह सब विपरीत दृष्टि रखकर किया और माना कि हमारा मोक्ष हो जायेगा किन्तु उससे कल्याणका एक अंश भी नहीं हुआ। मोक्षपर्याय प्रगट करनेकी जो रीति है और जो विधि है उस विधिके अनुसार प्रयत्न करे, माने और अन्तरङ्ग-वर्तन करे तो मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट हो, तथा जो अपनेको अनुकूल हो वैसा मान लेनेसे मोक्षमार्ग अथवा मोक्षपर्याय प्रगट हो जाये—ऐसा तीन काल, तीन लोकमें नहीं हो सकता।

एक भी व्रत, प्रत्याख्यान न हो तथापि आत्मप्रतीति हो सकती है। वह प्रतीति ऐसी होती है कि जैसी केवलज्ञानी और सि[द्ध] भगवानको होती है, वैसी प्रतीति स्त्री-पुरुष सभीको हो सकती है। अरे! आठ वर्षकी बालिकाको भी हो सकती है। इस समय विदेहक्षेत्र[में] आठ-आठ वर्षकी बालिकाएँ और बालक वैसी प्रतीति कर रहे हैं।

अज्ञानदशामें जैसे राग-द्वेष करता है, वैसेके वैसे ज्ञानद[शा] होने पर नहीं करता, उसमें अन्तर हो जाता है, अधिक आसक्ति न[हीं] हो जाती है। कोई कहे कि आपको किसी खबर कब होती है कि अ[पनेको] मुझे सम्यग्ज्ञान हो गया है? जैसे पैसा हो जाये तो खबर पड़ जाती

उसीप्रकार यथार्थ-प्रतीति होने पर स्वतःको खबर पड़ जाती है। अपने यहाँ लक्ष्मी हो तो किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता, जब कि वह परवस्तु है और सम्यग्ज्ञान तो अपनी वस्तु है इसलिये वह स्वतःसे छिपी नहीं रहती।

जैसे दुर्जन और सज्जन-दोनों प्रतीतिमें होने पर सज्जनकी ओर उन्मुखता होती है और दुर्जनकी उपेक्षा होती है उसीप्रकार आत्मा और आस्रवोंका ज्ञान होनेसे आत्माकी ओर उन्मुखता बढ़ती है और आस्रवोंसे छूट जाता है। ज्ञान होने पर कर्म सर्वथा नहीं छूट जाते किन्तु प्रथम विपरीत-मान्यता सर्वथा छूटती है और पश्चात् क्रमशः रागादि सब छूट जाते हैं।

जैसे सर्पको सर्प समझकर पकड़े और सर्पको रस्सी समझकर पकड़े तो उसमें अन्तर है। सर्प पड़ा हो, किन्तु उसे रस्सी जानकर उठा ले तो उससे बचनेका उपाय वह नहीं कर सकेगा; बच्चेके मुँहकी ओर सर्प जा रहा हो, उस समय खबर पड़े कि अरे! यह तो सर्प जा रहा है, तो होशियारी रखकर झट मुँहकी ओरसे उसे पकड़कर बाहर फेंक देता है किन्तु बच्चेको नहीं काटने देता और ऐसी चालाकीसे पकड़ता है कि अपने हाथमें भी न काट ले। उसीप्रकार आत्मा और आस्रवोंके भेदको न जाने तो आस्रवोंसे बचनेका उपाय भी न रहे; किन्तु मैं आत्मा ज्ञाता-दृष्टा हूँ और यह क्रोधादिक मैं नहीं हूँ—ऐसा विवेक होनेके पश्चात् अल्प क्रोधादि होते अवश्य हैं किन्तु वे अपने आत्माको न काट लें—ऐसी होशियारी और जागृति तो उसके रहती ही है। अज्ञान अवस्थामें जो राग-द्वेष होते हैं वे उसके ज्ञान-श्रद्धानको काट जाते हैं अर्थात् उसके विवेककी जागृति नहीं रहती, किन्तु आत्मा और आस्रवोंका विवेक होनेके पश्चात्, भेद करनेके पश्चात् पहलेकी तरह क्रोधादिमें युक्त नहीं होता, अल्पभावसे युक्त होता है परन्तु उनसे भेद किये बिना नहीं रहता; और जो अल्प क्रोधादि होते हैं वे भी अल्प-कालमें छूटने ही वाले हैं।

शिष्य कहता है कि हे भगवन्! सम्यग्दर्शनका रहना कठिन

क्या माहात्म्य है? यथार्थ ज्ञानमात्रसे ही बन्ध दूर हो जाते हैं, सो किसप्रकार? उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! सुन, परसे भिन्नत्वका जो ज्ञान है वह अज्ञान है अथवा ज्ञान? यदि वह अज्ञान है, तो जो विकार है सो मैं हूँ, विकार मेरे हैं—इसप्रकार विकार और आत्मा-दोनोंको अज्ञानतासे अभेद मानता था और ज्ञान होने पर भी वैसा ही हुआ, उससे विशेष कुछ नहीं हुआ।

परके साथ एकत्वकी जो बुद्धि है सो अज्ञान है और भेदत्वकी बुद्धि है सो ज्ञान है। यदि एकत्वकी बुद्धिसे प्रवर्तन करता हो तो ज्ञान होनेसे कोई विशेषता नहीं हुई।

पुनश्च, आत्मा और आस्रवोंका जो भेदज्ञान है, वह ज्ञान यदि हो तो वह विकारमें एकमेक होकर प्रवर्तन कर रहा है अथवा उसमेंसे कुछ निवृत्त हुआ है? यदि वह ज्योंका त्यों राग-द्वेषमें युक्त होता हो तो अविवेकी ज्ञानमें और इस नाममात्र भेदज्ञानमें कुछ भी अंतर नहीं हुआ।

यदि भगवान आत्मा ज्ञान होनेपर, पुण्य-पाप मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ—ऐसे भावोंसे मुक्त हुआ है, विकारोंसे पृथक् हो गया है, ज्ञान आस्रवोंसे निवृत्त हो गया है तो फिर ज्ञानसे ही बन्धका निरोध सिद्ध हुआ।

जो अल्प राग-द्वेष होता है उसे यहाँ नहीं गिना है, यथार्थ दृष्टिके बलमें अल्प राग-द्वेषकी गिनती नहीं है। ज्ञान होनेके पश्चात् अन्तरसे राग-द्वेष और विषय-वासनासे निवृत्त हुआ है, उदास हुआ है, परका मैं कर्ता नहीं हूँ और यह मेरा कार्य नहीं है, मैं तो अपने ज्ञानका कर्ता हूँ और यही मेरा कार्य है-ऐसा भान करके अंशतः स्वभावमें स्थित हुआ—इससे ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है, जो अल्प राग-द्वेष रह गये वे सम्यग्दर्शनके बलसे दूर हो ही जायेंगे, जो रह गया वह दूर होनेके लिये ही है, रहनेके लिये नहीं है, इसलिये ज्ञान-मात्रसे ही बन्धका निरोध सि[illegible]

ऐसा सिद्ध होनेसे, पुण्यकी क्रियासे आत्माको दर्शन, ज्ञान, चारित्र होंगे—ऐसा विपरीत मानकर ज्ञानका निषेध करनेवाला अज्ञानका अंश जो क्रियानय है उसका खण्डन हुआ—क्रियाजड़का खण्डन हो गया।

और जो आत्मा एवं आस्रवोंका भेदज्ञान है वह भी यदि आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है; सम्यग्ज्ञान होने पर राग-द्वेष यथावत् बने रहें, ऐसा नहीं होता; यह बाह्यक्रियाकी बात नहीं है किन्तु अन्तर्-परिणतिकी बात है। पंचेन्द्रियके विषयोंमें ज्यों की त्यों मिठासका वेदन करता हो, इनमेंसे सुखका स्वाद आ रहा है ऐसा मानता हो, रुचिमें किंचित् परिवर्तन न हो, इन्द्रियविषयोंसे अंश-मात्र विरक्ति न हो, राग द्वेष बिल्कुल न घटे और कहे कि मुझे ज्ञान हुआ है-तो वह शुष्कज्ञानी है किन्तु सम्यग्ज्ञानी नहीं है। इसप्रकार एकान्त ज्ञाननयका खण्डन हुआ।

सम्यग्ज्ञान अस्तिरूपसे है और राग-द्वेषका अभाव नास्तिरूप है। अस्ति-नास्ति दोनों स्वभावके पक्ष आना चाहिये, इसप्रकार यदि दोनों पक्ष आयें तो वह सम्यग्ज्ञान है।

दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, प्रत्याख्यान आदि शुभभावोंसे आत्मा प्रगट नहीं होता, क्योंकि पुण्यादि भावोंकी आत्मामें नास्ति है, और नास्तिसे अस्ति प्रगट नहीं होती, असत्से सत्का विकास नहीं होता; इसप्रकार पुण्यादि भावोंसे आत्मा प्रगट नहीं होता; इससे अज्ञानका अंश जो क्रियानय है उसका खण्डन हो गया।

पुनश्च, जो आत्मा है वह प्रगट ज्ञानरूप है और विकाररूप नहीं है—इसप्रकार यदि पर्याय सामने न आये, परसे निवृत्त हुई पर्याय सामने न आये तो अस्तित्वका यथार्थ ज्ञान नहीं है, मात्र शुष्कज्ञान है, एकान्त ज्ञाननय है।

मात्र ज्ञान ही ज्ञान करता रहता है, किन्तु ज्ञानके परकी—रागादिकी निवृत्ति नहीं होती—नास्ति नहीं होती। जो अस्ति-नास्तिका अर्थात्

ज्ञानीके किंचित् क्रोध आजाये, अस्थिरता होजाये, किन्तु मेरा क्षमावन्त वीतराग स्वभाव पृथक् है—उसका भान है; अस्थिरताको दूर करनेका और स्थिरतामें वृद्धि करनेका प्रयास है—इससे वह बन्धमार्गमें नहीं किन्तु मोक्षमार्गमें प्रवर्तमान है।

प्रथम नम्बरके अज्ञानी बाह्यवेषको देखकर परीक्षा करते हैं। दूसरेके नंबर अज्ञानी बाह्यक्रियाको देखकर परीक्षा करते हैं और तीसरे नम्बरके जीव तत्त्वदृष्टिसे परीक्षा करते हैं कि इसे परसे भिन्न आत्माकी प्रतीति है या नहीं? पर-शरीरादि और अन्तरंगमें होनेवाली पुण्य-पापकी जो वृत्तियां हैं उनका मैं कर्ता नहीं हूँ और वह मेरा कार्य नहीं —ऐसी निरुपाधि श्रद्धा प्रगट हुई है या नहीं? इसप्रकार परीक्षा करते हैं। ऐसी तीसरे नम्बरकी परीक्षा करनेवाला पात्रजीव है।

श्री कुन्थुनाथ, श्री शांतिनाथ और श्री अरहनाथ—यह तीन तीर्थङ्कर भगवान चक्रवर्ती थे, तीर्थङ्कर पद पर आये थे और उसी भवमें मोक्ष जानेवाले थे। संसारमें थे तब छह खण्डकी साधना करते थे, अपने राज्यकी वृद्धिके लिये अन्य राजाओंसे युद्ध करने जाते थे। चक्रवर्तीके पास एक ऐसा खड्ग होता है कि जिसकी सेवा हजार देव मिलकर करते हैं; उनकी आयुधशालामें एक ऐसा चक्ररत्न होता है जिसकी हजार देव सेवा करते हैं; उनके यहाँ एक शिल्पकार, किसान आदि होते हैं उनकी सेवाको भी हजार देव रहते हैं—इत्यादि चक्रवर्तीकी ऋद्धि इतनी अधिक होती है कि साधारण जीवोंको उसका विचार आना भी असम्भव है। चक्रवर्ती संसारमें थे परन्तु अन्तरङ्गसे उदास थे, युद्ध करने जाते, परन्तु परसे भिन्न स्वाश्रय चैतन्य भगवानका भान था। परसे निराला मेरा आनन्दघन चैतन्यस्वभाव भिन्न है—उसका भान प्रवर्तमान रहता है; बाह्यसंयोग और अन्तरमें उठनेवाली वृत्तियां भी मेरे आत्माको लाभ-हानि नहीं कर सकतीं; यह जो अपूर्ण पर्याय है सो मेरे पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण है, मेरे गुण मुझमें विद्यमान हैं, मैं अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे अपूर्ण हूँ—ऐसा बराबर जानता है; जो अल्प अस्थिरता होती है वह मेरे सम्यग्दर्शनको हानि नहीं पहुँचा सकती—

ऐसा श्रद्धाका बल ज्ञानीको होता है। बाह्यसे क्रियामें अधिकांश कषाय हो—ऐसा दिखाई दे, परन्तु अंतरसे अल्प कषाय होती है।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों भाइयोंमें जब युद्ध हुआ, तब सर्वसाधारणको ऐसा लगा कि-दोनों भाई सम्यग्ज्ञानी हैं, और इसी भवमें मोक्ष जानेवाले हैं, फिर यह क्या? परन्तु युद्धके समय भी भान है कि मैं इस सबसे भिन्न हूँ। युद्धका ज्ञाता है, क्रोध होता है, उसका भी ज्ञाता है, अपने शुद्ध, पवित्र, आनन्दघन स्वभावका भान प्रवर्तमान है, परन्तु अल्प अस्थिरता होती है इससे युद्ध कर रहे हैं। दोनों भाइयोंमें युद्ध हुआ उसमें भरत चक्रवर्ती जीत न सके, तब अंतमें उन्होंने बाहुबलिजी पर चक्र फेंका, परन्तु चक्र गोत्रवध नहीं करता और फिर बाहुबलीजी चरमशरीरी थे इससे भी चक्र काम नहीं करता था। उस समय बाहुबलीजीको वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्यको! अरे! इस जीवनमें राज्यके लिये यह क्या? ज्ञानी पुण्यसे भी सन्तुष्ट नहीं और न पुण्यके फलसे ही। बाहुबलीजीको विचार आये कि मैं चिदानन्द आत्मा परसे भिन्न हूँ, यह मुझे शोभा नहीं देता! इसप्रकार वैराग्य आने पर मुनित्व ग्रहण किया। बिल्ली जिस मुँहसे अपने बच्चेको पकड़ती है उसी मुँहसे चूहेको भी पकड़ती है, किन्तु पकड़में अन्तर है, उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रियाएँ एक सी दिखाई दें किन्तु भावोंमें अन्तर होता है।

मिथ्यात्व सहित ज्ञानको अज्ञान कहा जाता है, और जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो तब अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है। चारित्र भावकी कमजोरीसे जो विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं होता, इससे ज्ञानीके बन्ध नहीं है; क्योंकि जो विकार है सो अपराध है और बन्धका कारण है; वह तो बन्धकी पंक्तिमें है, ज्ञानकी पंक्तिमें नहीं है इसलिये ज्ञानीके बन्ध नहीं है।

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञान मुच्चंडमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥ ४७ ॥

अर्थः—पर परिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको नष्ट करता हुआ, यह अखण्ड एवं अति प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञानमें (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है? और पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है? (नहीं ही हो सकता।)

मैं आत्मा निर्मल हूं, पवित्र हूं, शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूं, पुण्य-पापके भाव मेरे स्वरूपमें नहीं हैं—ऐसा भान होने पर परिणतिका त्याग करता हुआ, भेदके कथनोंको विदीर्ण करता हुआ, अत्यन्त प्रचंड अर्थात् तीक्ष्ण ज्ञान प्रत्यक्ष उदित हुआ है।

अहो! मेरे सच्चिदानन्द स्वरूपमें ऐसा कैसे हो सकता है कि मैं पर पदार्थोंका कर्ता हूं, और पर-पदार्थ मेरे कार्य हैं? ऐसे ज्ञानमें कर्ताकर्मका अवकाश ही कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिये नवीन कर्मबन्ध भी कहांसे होगा? नहीं ही होगा।

आत्मा परसे और रागादिसे निराला है—ऐसा भान हुआ, अर्थात् शेष राग भी नाशके खातेमें पहुँच गया, रखनेके लिये नहीं रहा, इससे ज्ञानीको नवीन बन्ध होता ही नहीं।

जो परसे निराली शुद्ध अवस्था परिणमित होती है, परिवर्तित होती है, उसमें कर्ताकर्मको और नवीन बन्धको स्थान ही कहाँ है? अवकाश ही कहाँ है?

अल्प विकासके कारण ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञानमें जो खण्ड होते थे, खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे उनके बदले अब अखण्ड ज्ञान उदित हुआ अर्थात् एक ज्ञानमात्र आत्मा अनुभवमें आया।

मैं अखण्ड ब्रह्ममूर्ति हूँ, उसमें राग-द्वेषकी अवस्थाके भेद नहीं हैं। इस विकारकी तो बात ही क्या है! किन्तु मति-श्रुतकी अवस्थाके भेद भी अखण्ड स्वरूपमें नहीं हैं, इसप्रकार भेदके कथनोंको खण्डित करता हुआ अखण्ड ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! अखण्ड प्रचण्ड परसे पृथक् ज्ञानपिण्ड उदित हुआ है।

पर-परिणति अर्थात् विकारी भावोंको त्याग करता ज्ञान उदित हुआ है, अर्थात् पहले तो छोटे-छोटे कामोंमें, विकारी भावोंमें रुकता था; लड़का कुछ अच्छी तरहसे बुलाये तो फूल उठे, सुन्दर मकान देखे तो प्रसन्न हो जाये; घरमें गायके बछड़ा पैदा हो तो देखकर आनन्दकी मर्यादा न रहे; अरे! और तो और, कोई एक बीड़ी या पान लाकर दे तो लट्टू हो जाये—इसप्रकार तुच्छसे तुच्छ बातोंमें सन्तुष्ट होता था; परन्तु जहाँ श्रीगुरुके प्रतापसे भेदज्ञान प्रगट हुआ; प्रचण्ड-तीक्ष्ण ज्ञान उदित हुआ कि कहीं न रुककर अपने स्वभावमें ही स्थिर हो गया। अरे! मेरे स्थिर होनेका स्थान अन्यत्र नहीं है; राग-द्वेष, क्रोध, विषयवासना—यह मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा गुण तो मेरे पास ही है, मेरे चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त जगतमें कोई श्रेष्ठ नहीं है, मेरे स्वभावका गृहमें किसी भी दिन वियोग नहीं होगा, इसलिये मेरे रुकनेका स्थान तो मेरा स्वभाव ही है—ऐसा आत्माका अपूर्व भान होनेसे विकारको छोड़ता हुआ-परपरिणतिको नष्ट करता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ, इससे जो ज्ञान परमें युक्त होता था वह स्वतःमें स्थिर होने लगा।

प्रचण्ड है, अर्थात् ज्ञान बलवान है, तेजवान है, तीक्ष्ण है। जैसे तेज अग्नि सूखे ईंधनको तो जलाती ही है, किन्तु गीली लकड़ियोंको भी जला देती है, उसीप्रकार मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ—ऐसी एकाग्रता ज्ञानमें हुई कि रागद्वेषको जलाकर भस्म कर देता है और [illegible] प्रबल विपाकके रसको जला डालता है। जैसे सूर्यका तेज [illegible] हटा देता है उसीप्रकार चैतन्यसूर्य-ज्ञानसूर्यकी एकता होने पर [illegible] नहीं हो सकता।

यह मलिनता कहांसे आ गई? परके निमित्तसे होनेवाली सापेक्ष पर्यायमें मलिनता हुई है किन्तु मेरी निरपेक्ष पर्याय आकाशादि द्रव्योंकी भांति अनादि-अनन्त निर्मल है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और परमाणु जैसे मुख्य वस्तु है, मुख्य-मुख्य पृथक् पदार्थ हैं, उसीप्रकार मैं भी 'मुख्य' भिन्न पदार्थ हूं, उन सबके स्वभावकी अपेक्षा मेरे स्वभावमें अन्तर है। मैं एक, शुद्ध, ममत्वरहित हूं, और ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूं; आकाशादि द्रव्य तो जड़स्वभावी हैं किन्तु मैं चैतन्यस्वभावी हूं।

जैसे आकाशादि 'मुख्य' पदार्थ हैं वैसे ही मैं भी एक 'मुख्य' पदार्थ हूं। आकाशादि द्रव्य मलिन नहीं होते, और मैं क्यों मलिन होता हूं? इसलिये निरपेक्ष दृष्टिसे देखने पर मैं पर्यायसे भी मलिन नहीं हुआ। निरपेक्ष पर्यायमें मलिनता नहीं, किन्तु सापेक्ष पर्यायमें मलिनता है।

यदि कर्मकी अपेक्षाको छोड़ दें तो आत्मा त्रिकाल-द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे निर्मल है। जैसे आकाशादि पदार्थ भिन्न-भिन्न, अनादि-अनन्त द्रव्य, गुण और पर्यायसे निरपेक्ष पड़े हैं उसीप्रकार आत्मा भी त्रिकाल द्रव्य, गुण और पर्यायसे अखण्ड निरपेक्षरूप परसे पृथक् है। आत्मा एक वस्तु है-पदार्थ है तो, जैसी वस्तु हो वैसा ही उसका वर्तमान भी होता ही है। जिसप्रकार वस्तु अखण्ड त्रिकाल निर्मल, ध्रुव है उसीप्रकार उसका वर्तमान अंश भी ध्रुव है, निर्मल है, निरपेक्ष है।

जैसे आकाशादि द्रव्योंमें परकी अपेक्षा नहीं है वैसे ही आत्मामें भी कर्म निमित्तके सद्भाव-अभावकी अपेक्षाको निकाल दें तो वस्तु, उसके गुण और उसकी वर्तमान पर्याय परकी अपेक्षाके बिना त्रिकाल निर्मल है।

[illegible] निमित्तकी [illegible] अपेक्षासे मुझमें मोक्षका उत्पाद [illegible] है [illegible] उत्पाद-व्यय पर्यायनिरपेक्ष

दिखाई देते हैं किन्तु यदि वस्तुका यथार्थ स्वभाव लक्ष्यमें लिया जावे तो वस्तु अनादि-अनन्त, निरपेक्षरूपसे स्वाकार-परिणामी है। मेरी वस्तुको किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, मात्र निरपेक्ष वस्तु है; वह वस्तु द्रव्य, गुण, पर्यायसे त्रिकाल निर्मल है।

आकाशादि पदार्थोंकी भाँति मैं यथार्थ स्वभावसे पारमार्थिक वस्तु-विशेष हूँ, आकाशादि द्रव्योंमें परका कर्ताकर्मपना उनके स्वभावमें नहीं है, वैसे ही मैं राग-द्वेषका कर्ता और वह मेरा कर्म-ऐसा मेरे आत्मवस्तु स्वभावमें ही नहीं है। देखो! इस सम्यग्दर्शन स्वभावमेंसे कर्ताकर्म इसप्रकार निकाल दिये और मुक्त होनेका उपाय बतलाया।

मैं वस्तुविशेष हूँ, इससे मैं समस्त परद्रव्य-प्रवृत्तिसे निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभावमें निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्योंके निमित्तसे विशेषरूप चेतनमें होनेवाली जो चञ्चल कल्लोलें हैं उनके निरोध द्वारा इसीका (इस चैतन्यस्वरूपका ही) अनुभव करता हुआ, अपने अज्ञान द्वारा आत्मामें उत्पन्न होनेवाले जो यह क्रोधादिक भाव हैं उन सबका क्षय करता हूँ।

राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, हास्य, रति, अरति इत्यादि जो परद्रव्योंकी प्रवृत्तियाँ हैं उनसे निवृत्ति लेता हुआ मैं अपने चैतन्य-आत्माका अनुभवन करता हूँ। शरीरादि तो जड़ हैं ही, परन्तु राग-द्वेषके परिणामोंको भी जड़ कहा है-पर कहा है।

समस्त परद्रव्योंके निमित्तसे चैतन्यमें संकल्प-विकल्पोंकी जो चञ्चल कल्लोलें उठती हैं उनका सम्यक्पुरुषार्थके द्वारा निरोध करके स्वभावका अनुभव करता हुआ सर्व कर्मोंका क्षय करता हूँ। राग-द्वेषको दूर करनेका पुरुषार्थ भी अवस्थाका पुरुषार्थ है; द्रव्यको प्रगट करनेका पुरुषार्थ होता ही नहीं, क्योंकि द्रव्य तो सदा प्रगट [illegible] [illegible] ऊपर दृष्टि करना-यह [illegible] पर्याय प्रगट करनेका तो होता है। [illegible] [illegible]

निर्दोष पवित्र हूँ, ऐसे पवित्र स्वभावका भान होने पर ऐसा जानता है कि वे सदोष भाव कभी मुझमें थे ही नहीं; वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ, वे भाव परनिमित्तसे होते हैं इसलिये उनका स्वामी जड़ है। शुभाशुभ वृत्तियाँ चैतन्यकी पर्यायमें होती हैं परन्तु द्रव्यदृष्टिके बलमें उन्हें जड़ कह दिया है।

चैतन्यद्रव्यमें वे विकारीभाव थे नहीं, हैं नहीं और होंगे भी नहीं। देखो, यह सम्यग्दृष्टिकी अन्तर प्रतीति! ऐसे निराले चैतन्यस्वरूपको जाने बिना, प्रतीतिमें लिये बिना भवका अन्त कैसे होगा? सम्यग्दृष्टिकी अन्तरोन्मुखता अपने शुद्ध स्वभावकी ओर होती है, यही अन्तरङ्ग भावना और यही अन्तरका जप है।

जो क्रोध, मान, राग इत्यादि विकारी भाव हैं उनके रूपमें परिणमित न होनेसे मैं ममत्वरहित हूँ; ममतारहित कहकर नास्तित्व बताया है। पहले यह कहकर आचार्यदेवने अस्तित्व बताया कि मैं एक हूँ, और शुद्ध हूँ। तत्पश्चात् यह कहकर कि विकारी भावोंका स्वामित्व मुझमें नही है, इससे मैं ममतारहित हूँ; नास्तित्व बताया।

चिन्मात्रज्योतिका (आत्माका) वस्तुस्वभावसे ही, सामान्य और विशेष द्वारा परिपूर्णत्व (सम्पूर्णत्व) होनेसे, मैं ज्ञान-दर्शन द्वारा परिपूर्ण हूँ। (वस्तुका स्वभाव सामान्य-विशेषरूप है। आत्मा भी वस्तु होनेसे वह सामान्य-विशेषरूप है अर्थात् दर्शन-ज्ञानस्वरूप है)

जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तब मैं भगवान आत्मा सामान्य और विशेषसे अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा स्वभावसे परिपूर्ण हूँ, मेरे स्वभावमें पुण्य-पाप है ही नहीं-ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है। इस-प्रकार प्रतीति और ज्ञान करके धर्मात्मा स्वरूपमें स्थिर होता है और स्थिरतामें वृद्धि करते-करते वीतराग होता है-उसका नाम चारित्र है।

प्रश्नः—धर्मीकी क्रिया यह है?

उत्तरः—हाँ, यह धर्मीकी अन्तर क्रिया है; चैतन्यके धर्मकी क्रिया चैतन्यमें होती है, परमें नहीं होती।

जैसे समुद्रके झंझावातमें फँसा हुआ जहाज उसने छोड़ दिया है वैसे ही जिसने सर्व विकल्पोंको शीघ्र छोड़ दिया है, आत्मस्वभावका अवलम्बन लेता, निर्विकल्प होता हुआ जिसने सर्व विकल्पोंको शीघ्र छोड़ दिया है (जैसे हाथमें कोई वस्तु ले रखी हो और उसे छोड़ दे; वैसे ही विज्ञानघन होते हुए जिसने सर्व विकल्पोंका वमन कर दिया है) वह शीघ्र ही आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

जैसे समुद्रका झंझावात अपने आप ही छूटता है, वैसा ही आत्मामें नहीं है। इस सिद्धान्तमें एकदेश दृष्टान्त लागू पड़ता है, क्योंकि राग-द्वेष विकल्प अपने आप नहीं छूटते किन्तु जब स्वतः पुरुषार्थ करके विकल्पोंको छोड़ता है तब छूटते हैं।

राग-द्वेषकी आँधी मेरी नहीं है, मेरा तो निर्मल-पवित्र स्वभाव है, उसके भानमें विकल्पोंका वमन कर दिया है—ऐसा मैं, निर्विकल्प अर्थात् विकल्पोंसे रहित, अचलित अर्थात् निश्चल, निर्मल अर्थात् राग-द्वेषके मैलसे रहित—ऐसे आत्माका अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ आस्रवोंसे निवृत्त होता हूँ।

एक ओरसे परसे बिलकुल पृथक् कहा; पुनश्च, दूसरी ओरसे पर्यायसे 'निवृत्त होता है' ऐसा कहा है। आस्रवोंसे निवृत्त होता है वह बात पर्यायकी अपेक्षासे है; पर्यायमें जो वृत्तियाँ होती थीं अर्थात् ज्ञान डगमग होता था—अस्थिर होता था, वह ज्ञान द्रव्यके अवलम्बनसे स्थिर होता है, एकरूप होता है—इससे अवस्थाकी मलिनता दूर हो जाती है, अर्थात् आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

ज्ञानीने शुद्धनयसे आत्माका ऐसा निश्चय किया है कि मैं एक हूँ शुद्ध हूँ। शुद्धनय अर्थात् आत्माको देखनेवाली दृष्टिने ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, राग-द्वेषादि विकारोंका कर्ता नहीं हूँ; राग-द्वेषका कर्ता, साधन आदि छह कारकोंके भेदोंसे मैं रहित हूँ, परद्रव्योंके प्रति ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण वस्तु हूँ। वह यह ज्ञानी-आत्मा, ऐसे अपने स्वरूपमें स्थिर होता हुआ उसीके अनुभवकर

होता है तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्रके झंझावातने बहुत समयसे जहाजको पकड़ रखा हो किन्तु जब वह शान्त होता है तब जहाजको छोड़ देता है, उसीप्रकार आत्मा विकल्पोंके तूफानका शमन करता हुआ आस्रवोंको छोड़ देता है। यहाँ पर तो क्षय करनेकी और वमन कर देनेकी ही बात है। यह राग-द्वेषके कार्य मेरे कार्य नहीं हैं, मेरा कार्य तो ज्ञानमात्र स्वभावका है—ऐसा निश्चय करके स्वभावका अवलम्बन लेता हुआ राग-द्वेषका वमन कर देता है।

अब शिष्य पूछता है कि ज्ञान होनेका और आस्रवोंकी निवृत्तिका समकाल किसप्रकार है? वह कहता है कि—अन्तरमें ज्ञान हो और ज्ञान होनेसे विकार दूर हो जाये, वह दोनों एक ही साथ हैं अथवा एकके बाद एक-क्रमशः ?

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥ ७४

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥ ७४ ॥

अर्थः—यह आस्रव जीवके साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं और अशरण हैं; पुनश्च वे दुःखरूप हैं, दुःख ही जिसका फल है—ऐसे हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्ति करता है।

यह गाथा बहुत अच्छी है, इसमें बहुत न्याय आयेंगे। इसमें दुःखसे मुक्त होनेका वास्तविक उपाय कहा है।

आत्मामें नवीन बन्धन होनेके जो भाव हैं वे जीवके साथ निबद्ध हैं, पुण्य-पापके भाव आत्माके साथ बंधे हुए हैं किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है। जो विकारी भाव हैं वे अध्रुव हैं, एकरूप नहीं रहते, अनित्य अर्थात् क्षणिक हैं, शरणहीन हैं, अर्थात् पुण्य-पापके भावोंमें आत्माको कहीं भी शरण नहीं मिलती—विश्रांति नहीं मिलती; और फिर वे दुःखरूप हैं अर्थात् पुण्य-पापके भावोंमें कहीं भी सुख नहीं

मिलता—शांति नहीं मिलती, किन्तु मात्र आकुलताका ही वेदन होता है, और उन भावोंका भविष्यमें जो फल आता है वह भी दुःखरूप ही है और पुण्य-पापके भावोंसे पृथक् जो आत्मस्वभाव है वही सुखरूप है—शांतिरूप है—शरणरूप है—ऐसा जानकर धर्मात्मा उनसे निवृत्त होते हैं। निवृत्त होना ही सच्ची क्रिया है।

वृक्ष और लाखकी भांति वध्य-घातकस्वभावपना होनेसे आस्रव जीवके साथ बंधे हुए हैं; परन्तु अविरुद्धस्वभावपनेका अभाव होनेसे वे जीव ही नहीं हैं। (लाखके निमित्तसे पीपल आदि वृक्ष नष्ट होते हैं। लाख घातक अर्थात् घात करनेवाली है और वृक्ष वध्य-घात होने योग्य है। इसप्रकार लाख और वृक्षका स्वभाव एक-दूसरेसे विरुद्ध है इसलिये लाख वृक्षसे बंधी हुई ही है, वह स्वतः वृक्ष नहीं है। उसीप्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है। इसप्रकार विरुद्ध स्वभाव होनेसे आस्रव स्वतः जीव नहीं है।)

आत्मामें जो भी व्रत-अव्रतके, पूजा-भक्तिके, दया-हिंसादिके भाव होते हैं वे सब विकारीभाव हैं, वे आत्माके साथ बंधे हुए हैं, लाख और वृक्षकी भांति उनका सम्बन्ध है। वृक्ष, वध्य अर्थात् हने जाने योग्य है और लाख हनने वाली अथवा घात करने वाली है। वध्य वृक्षको लागू होता है और घातक लाखको लागू पड़ता है। यह तो दृष्टान्त है किन्तु वैसा आत्मामें समझनेके लिये कहा है।

आत्मा घात होने योग्य है अर्थात् पुण्य-पाप और मिथ्या-क्रियाओंके जो परिणाम होते हैं उनसे आत्माके स्वभावका घात होता है और पुण्य-पापके परिणाम घातक हैं। आत्मामें जितनी पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं उनसे भगवान आत्मा पृथक् है। वृक्षमेंसे जब लाख निकलती है तब वृक्षका नाश होता है। जैसे पीपलके वृक्षमें लाख होती है वह पीपलका घात करनेवाली है, वैसे ही आत्मामें पुण्य-पापके जो शुभाशुभभाव उदित होते हैं वे आत्माका घात करनेवाले हैं। लाख वृक्षका घात करनेवाली है, यह उपचारसे कहा है, लाखके [illegible]

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शुभभाव अपने आप ही होते हैं। जब स्वतः अशुभ भावोंको कम करके शुभभाव करता है तब होते हैं; वे शुभभाव आस्रव हैं-ऐसा कहकर वस्तुस्वभाव बतलाते हैं।

जब किसी समय कोई प्रतिकूलताका प्रसंग बन जाता है तब संसारसे उदास दिखाई देने लगता है, वैरागी जैसा हो जाता है। और जब फिरसे मान एवं बड़प्पन मिलने लगता है तब सोचता है कि चलो मान मिला तो सब कुछ मिल गया-ऐसा राग बढ़ जाता है। इसप्रकार मूर्च्छाके वेगकी भांति यह आस्रव घटते-बढ़ते रहते हैं। चैतन्य आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावसे ध्रुव है, ऐसे ध्रुव-अध्रुव स्वरूपको जानकर ज्ञानी पुरुष आस्रवोंसे निवृत्त होते हैं।

प्रथम आचार्यदेवने ऐसा कहा कि—आस्रव आत्माके साथ वध्य-घातक स्वभावरूपसे हैं। आत्मा घात होने योग्य है और आस्रव उसका घात करनेवाले हैं। फिर दूसरे बोलमें कहा है कि आस्रव मूर्च्छाके वेगकी भांति बढ़ते-घटते हैं, जैसे राग क्षणमें बढ़ जाता है और क्षणमें घट जाता है तथा आत्मा ध्रुव है। पुण्य-पापके भाव नाशवान हैं और मैं अविनाशी, ज्ञानवन्त ध्रुव हूं-ऐसा भिन्न विवेक हुआ कि आस्रवोंसे निवृत्ति होती है।

शिष्यने प्रश्न किया था कि यथार्थ ज्ञान प्रगट होनेका और शुभाशुभ आस्रवभावोके दूर होनेका एक ही काल किसप्रकार है? आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि आत्मा नाश होने योग्य है और आस्रव नाशक हैं; दोनों बिल्कुल विरुद्ध स्वभाववाले हैं, इसलिये पृथक् हैं। आत्माकी पर्यायमें विकार होनकी योग्यता तभी तक है जबतक वह पराधीन होता है; तभीतक वह घात होने योग्य है—ऐसा समझना चाहिये। आस्रव अध्रुव हैं और आत्मा ध्रुव है, जहां इसप्रकार आत्मा और आस्रवोका भिन्न विवेक हुआ कि उसी क्षण आस्रवोंका निरोध होता है। जो पुण्य-पापके भावरूप आस्रव हैं सो आत्मा नहीं है और आत्मा पुण्य-पापके भाव नहीं है—ऐसा पृथक् भान करके जितने अंशमें स्वरूपमें स्थिर हुआ उतने ही अंशमे उसी क्षण आस्रव दूर हो जाते हैं, इसप्रकार आस्रवोंके टलनेका और ज्ञान होनेका समकाल है।

आस्रव शीतदाहज्वरके आवेशकी भाँति अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं। जिसका विज्ञानघन स्वभाव है—ऐसा जीव ही नित्य है।

अध्रुवमें न्यूनाधिकताके भाव थे और अनित्यमें शीतदाहज्वरकी भाँति-दोनोंमें एकदम अन्तर है, इतना अन्तर लिया है कि भाव बिल्कुल बदल जाता है। जब इकतरा बुखार आता है तब रजाइयाँ ओढ़कर सोता है, शरीर काँपने लगता है, और जब कँपकँपी मिट जाती है और बुखार बढ़ता है तब पानीमें भीगे हुए पोते सिर पर रखता है—इसप्रकार अनित्यके बोलमें बिल्कुल परिवर्तन लिया है।

उसीप्रकार पुण्य-पापके परिणाम ठण्डे-गरम बुखारके आवेशकी भाँति क्रमशः उत्पन्न होते हैं, इसलिये अनित्य हैं। जैसे एक-एक मासके उपवास करता है, दया-दान-भक्ति करता है, और ऐसे शुभ-परिणाम करता है कि नववें ग्रैवेयकमें जाता है, वहाँ शुक्ल-लेश्याके उज्ज्वल परिणाम होते हैं और फिर वहाँसे मरकर मनुष्य होता है तो बहुत कंजूस होता है, क्रोध, मान, माया और लोभके इतने तीव्र परिणाम करता है कि वहाँसे मरकर फिर नरकमें जाता है। देखो! इसप्रकार परिणामोंमें एकदम परिवर्तन हो जाता है। पूर्वभवमें मुनि हुआ था, उसके फलस्वरूप नववें ग्रैवेयकमें गया और इस भवमें पुनः क्रोधादिक तीव्रता करके नरकमें गया—इसप्रकार ठण्डे-गरम बुखारकी भाँति परिणामोंमें एकदम अन्तर हो जाता है।

पुण्य-पापके परिणाम अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जब हिंसाके भाव होते हैं तब दयाके भाव नहीं होते, और जब दयाके भाव होते हैं तब हिंसाके भाव नहीं होते, तथापि अपनापन माननेमें दृष्टिका दोष तो दोनोंमें साथ ही है; विपरीत मान्यताकी शल्य तो दया—हिंसाके भावोंके समय साथ ही होती है। व्रत, तप, पूजा, दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादि परिणाम ठण्डे-गरम बुखारकी भाँति अनित्य हैं, परिवर्तित होनेवाले हैं, नाश होनेवाले हैं, और विज्ञानघन आत्मा अर्थात् निर्बन्ध ज्ञानका घन आत्मा नित्य चैतन्यस्वभाव ही है, ऐसे आत्माका विवेक

करे कि आस्रवोंसे उसी क्षण अंततः निवृत्ति होती है। जैसे-जैसे आत्माका विवेक होनेसे जो निर्विकारता प्रगट हुई है वह निजस्वभावी द्रव्यके बलसे प्रगटी है इसने निजस्वभावमें उसका समावेश किया है।

पुनश्च, कहते हैं कि आस्रव अशरण हैं, अर्थात् पुण्य-पापके भाव अशरण हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि जैसे काम-सेवनमें वीर्यपात होते ही दारुण कामका संस्कार नाशको प्राप्त होता है, किसीसे रोका नहीं जा सकता; उसीप्रकार कर्मोदयके छूटते ही आस्रव नष्ट हो जाते हैं; वे रोके नहीं जा सकते इसलिये अशरण हैं।

पुण्य-पापके परिणाम अशरण हैं। कर्मोदय छूट जानेके पश्चात् उन विकारी भावोंको आत्मा नहीं ला सकता, उसका अर्थ यह है कि अकेले आत्माका स्वभाव पुण्य-पाप करनेका नहीं है; शुभभाव आये और फिर छूट जाये, उस समय कोई कहे कि पुनः वैसेका वैसा शुभभाव लाऊँ किन्तु पुनः वैसेका वैसा भाव नहीं आता। शुभाशुभ भावोंको पकडकर नहीं रखा जा सकता इसलिये आस्रव अशरण हैं। आस्रव अपना स्वभाव नहीं हैं, वे विपरीत पुरुषार्थसे होते हैं; अपनी चैतन्य-पर्यायमें भी वे परनिमित्तसे होनेवाले भाव हैं, अपना स्वभाव नहीं है, इससे उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता; इसलिये पुण्य-पापके परिणाम आत्माको शरणरूप नहीं हैं। आस्रव अशरण हैं उनमें आत्माको शरण नहीं मिलती, किन्तु अपना चैतन्यस्वभाव ही शरणरूप है। अपने आप (स्वतःसे ही) रक्षित, सहज चित्‌शक्तिरूप जीव ही शरण सहित है। जो पुण्य-पापके भाव किये वे रक्षा नहीं कर सकते परन्तु आत्मा स्वतः अपनेसे ही अपने आप रक्षित है, उसकी रक्षा नहीं करना पड़ती। रक्षित ही है इसलिये वह आत्मा ही सहज स्वभावसे शरण सहित है—ऐसे आत्मस्वभावका विवेक होते ही—उसी क्षण आस्रव निवृत्तिको प्राप्त होते हैं।

आस्रव निरन्तर आकुल स्वभाववाले होनेसे दुःखरूप हैं, सदैव निराकुल स्वभावयुक्त जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है।

व्रत-अव्रत, पूजा-भक्ति, दया-हिंसा, झूठ-चोरी और विषयके परिणाम-यह सभी दुःखरूप हैं, चैतन्यका स्वभाव नहीं हैं चैतन्यका स्वभाव तो सुखरूप है। पुण्यके परिणाम भी दुःखरूप हैं—ऐसा कहा है, उससे यह तात्पर्य नहीं निकालना कि शुभपरिणाम छोड़कर अशुभ-परिणाम करना चाहिये। परन्तु शुभपरिणाम भी दुःखरूप हैं—ऐसी श्रद्धा करनेकी बात है।

चैतन्य पदार्थ अनादि-अनन्त पृथक् तत्त्व है। आस्रव आकुल स्वभाववाले होनेसे वर्तमानमें ही दुःखरूप हैं; जिससमय शुभाशुभ परिणाम होते हैं उसीसमय दुःखरूप हैं, आकुलतारूप हैं। जब वे परिणाम उत्पन्न होते हैं तब आत्माकी शांति भङ्ग होती है और जब आत्माकी शांति भङ्ग होती है तभी वे परिणाम होते हैं। शुभाशुभ परिणामोंका वेदन ही आकुलतामय है, आत्मा स्वतः ही निराकुल स्वभाववाला होनेसे सुखरूप है।

नरकमें अनन्तानन्त दुःख भोगे; पानीकी बूंद और अन्नका दाना भी न मिला उस समय आकुलित होकर दुःख सहे, किन्तु भाई! विचार तो कर, तुझे अपने सुखके लिये परद्रव्यकी क्या आवश्यकता है? तेरा सुख तो तुझमें ही विद्यमान है। आजकल मँहगाईका समय है इसलिये लोग अनाजको इकट्ठा करके रखते हैं और आकुलता करते हैं; परन्तु त्रिलोकीनाथ चैतन्य भगवान आत्माको अनाजके दाने शरण रूप नहीं हो सकते। चिदानन्द भगवान आत्माको एक विकल्प अथवा एक रजकरणकी भी आवश्यकता नहीं है—ऐसी प्रथम श्रद्धा करेगा तो समाधान हो जायेगा ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

पुण्यभाव हों या पापभाव हों, वे दोनों दुःखरूप हैं और आत्माका स्वभाव आनन्दकन्द है। वस्तु तो निरन्तर त्रिकाल आनन्दरूप ही है, परन्तु जब मोक्ष और मोक्षमार्गकी अवस्था प्रगट हो तब उस आनन्दका वेदन होता है, वर्तमानपर्यायके आनन्दका वेदन होता है।

अरे भाई! इस संसारमें सन्तुष्ट होकर पड़ा है किन्तु यह सब पड़ा रहेगा; ऐसा कर दूँ वैसा कर दूँ-वे सभी भाव दुःखरूप हैं।

आत्मा निराकुलस्वभावी है–इसका भान करे तो आस्रवोंका बन्धन ढीला पड़ता जायगा, टूटता जायेगा।

पुण्यरूप शुभराग भी भविष्यकालमें आकुलताके उत्पादक जो पुद्गल परिणाम हैं—उनका हेतु होनेसे शुभास्रव दुःखफलरूप हैं; (अर्थात् दुःख ही उनका फल है) जीव ही समस्त पुद्गलपरिणामोंका अहेतु होनेसे सुखफलरूप है (अर्थात् दुःखफलरूप नहीं है।)

पुण्य-पापके भाव भविष्यमें भी दुःखफलरूप हैं; क्योंकि जो आकुलताके फलरूप हों—ऐसे पुद्गल परिणामका हेतु है, और वर्तमानमें भी आकुलतारूप हैं, इसलिये दुःखरूप हैं।

प्रश्नः—जिनसे पुण्यानुबन्धी पुण्यका बन्ध हो, वैसे सम्यक्‌दृष्टिके शुभ परिणाम सुखरूप होते हैं या नहीं ?

उत्तरः—चाहे जैसे पुण्यके परिणाम हों वर्तमानमें भी दुःखरूप हैं और भविष्यमें भी दुःखरूप हैं। पुण्यानुबन्धी पुण्य भी भविष्यमें आकुलता होनेमें निमित्त है, किन्तु वह आत्माकी शांतिका निमित्त नहीं है।

[illegible] निमित्तसे होनेवाले विकारीभाव और उन विकारी [illegible] निमित्तसे बँधनेवाले जड़कर्म भविष्यमें आकुलताके परिणाम [illegible] होनेमें निमित्त हैं किन्तु आत्माको शांति-समाधिमें वे निमित्त नहीं हैं।

आकुलताके परिणाम जड़के निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें जड़ [illegible] है और आकुलताके फल भी जड़कर्मोंका बन्ध होता है, [illegible] आता है। आकुलताके परिणाम होते तो [illegible] है, किन्तु वह जड़की ओर उन्मुख होनेका भाव है इसलिये [illegible] है। चैतन्यकी निर्मल पर्यायका फल [illegible] इसलिये वह चैतन्यकी पर्याय है [illegible] निर्मल पर्याय [illegible] है और [illegible] है।

इन्द्र-अहिमिन्द्रका भव अथवा चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेवका भव भी आकुलता उत्पन्न होनेके निमित्त हैं। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, निर्विकल्प, निरुपाधिस्वरूप है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता किसी भी पुद्गल परिणामका हेतु नहीं है इसलिये वह दुःखरूप नहीं है, किन्तु वर्तमानमें भी एकान्त सुखरूप है और भविष्यमें भी सुख फलरूप है। इसके अतिरिक्त जितने भी पुण्य-पापके परिणाम होते हैं वे सब वर्तमानमें दुःखरूप हैं और भविष्यमें भी दुःख होनेके निमित्त हैं।

एक मनुष्य बोला-महाराज एकवार तो कहो कि पुण्यका फल मीठा है! कैसे कहें? विकार तीन कालमें भी मीठा नहीं हो सकता; शुभाशुभ रूप विकार परिणाम और उसके फलको मीठा मानने वाले एवं मनवाने वाले-दोनों अनन्त संसारमें परिभ्रमण करनेवाले हैं।

आत्मा शुद्ध है, निर्मल है, ज्ञायक ध्रुवमूर्ति है-ऐसे स्वभावकी श्रद्धा करने पर उसमें स्थिर न हो सके, उतना विकल्पमें युक्त होता है, किन्तु वह विकल्प मिठासका कारण है ही नहीं; और ज्ञानी उसमें मिठास मानते भी नहीं हैं, उसमें जितना अशुभराग दूर हुआ उतना ही लाभका कारण है, जो शुभराग रहा वह लाभका कारण नहीं है; जो शेष रहा है वह तो दुःखरूप और दुःखफलरूप ही है। यही स्थिति है, इसमें अन्य कुछ है ही नहीं। ज्ञायकमूर्ति आत्माके श्रद्धा-ज्ञान हों वह सुख-रूप है और उनमें वृद्धि हो वह भी सुखरूप है।

आस्रवों और आत्माको पृथक् करनेके लिये छह प्रकार बताये हैं—लाख और वृक्षको भांति वध्य-घातक कहा, मूर्च्छाके वेगकी तरह न्यूनाधिक कहा, शीत और दाहज्वरकी भांति अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य कहा, वीर्यके रजकण छूटते ही कामका संस्कार भी छूट जाता है-उसकी भांति अशरण कहा, आकुलतामय होनेसे दुःखरूप कहा, और आस्रवोंका फल भी दुःखरूप है इसलिये उन्हें दुःखफलरूप कहा है; इसप्रकार आस्रवोंको और आत्माको भिन्न स्वभाववाला कहा है।

इसप्रकार आस्रवोंका और जीवका भेदज्ञान होनेसे जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है—ऐसा यह आत्मा, बादलोंके समूहसे रहित दिशाके विस्तारकी भांति अमर्यादित [illegible] जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूपसे विकसित होनेवाली चित्शक्तिके द्वारा ज्यों-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है वैसे ही वैसे आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है, और जैसे-जैसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है वैसे ही विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है।

आस्रव निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, शरण हीन हैं, अनित्य हैं, दुःखरूप हैं और दुःखफलरूप हैं। आत्माका स्वभाव आस्रवोंसे भिन्न जातिका है; आत्मा अबन्ध है, ध्रुव है, शरण सहित है, नित्य है; सुखरूप है और सुखफलरूप है—इसप्रकार आस्रवोंसे भिन्न यथार्थ ज्ञान हुआ कि वहाँ, जिसप्रकार बादलोंके झुण्ड खण्डित हो जाते हैं और दिशाएँ स्वच्छ-निर्मल, कालिमा रहित हो जाती हैं; उसीप्रकार अमर्यादित, सहजरूपसे विकसित होनेवाली चित्शक्तिके द्वारा जैसे-जैसे विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, वैसे ही वैसे आस्रवोंसे निवृत्ति होती जाती है।

मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, मेरी चित्शक्ति निर्दोष और निर्मल है, मेरा स्वरूप आस्रवोंसे भिन्न है—ऐसा विवेक होनेसे कर्ममेघोंका रस शिथिल पड़ जाता है, कर्मकी रचना खण्डित हो जाती है, और जैसे-जैसे सहजरूपसे विकसित होती हुई चैतन्यशक्ति द्वारा स्वरूप स्थिरता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है, और ज्यों-ज्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता है वैसे ही वैसे स्वरूप स्थिरतामें वृद्धि होती है।

शुभाशुभ विकल्परूप जो विकार है सो मैं नहीं हूँ-ऐसा विवेक हुआ कि ज्ञान निविड होता जाता है और ज्यों-ज्यों ज्ञानघन-स्वभाव निविड होता जाता है वैसे ही पुण्य-पापके भाव अल्प होते जाते हैं अर्थात् आस्रव निवृत्त होते जाते हैं; जैसे-जैसे स्वमें एकाग्र होता जाता है अर्थात् घट होता जाता है वैसे ही वैसे उतने आस्रवोंसे निवृत्त होता ही जाता है।

अमर्याद अर्थात् ज्ञान-दर्शनकी अनन्त शक्ति युक्त स्वभावमें एकाग्र हो उतना आस्रव दूर होता है और जितना आस्रव दूर होता है उतनी ही एकाग्रता होती है। विकल्पमें न रुककर, आत्मामें रुकना सो यथार्थ उपवास है। शुभपरिणामरूप उपवास तो पुण्यबन्धका कारण है परन्तु आत्मामें रुकने रूप जो उपवास है वह मोक्षका कारण है।

सम्यक्प्रकारसे, आस्रवोंसे जितना निवृत्त होता है उतना ही विज्ञानघन स्वभाव होता है और जितना विज्ञानघन स्वभाव होता है उतना ही सम्यक्प्रकारसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञान और आस्रवोंकी निवृत्तिकी समकालीनता है।

यहाँ सम्यक् शब्द पर जोर दिया है। सम्यक्प्रकारसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है—ऐसा सम्यक् शब्द आचार्यदेवने लिया है; क्योंकि पुण्य-पापके भावरूप आस्रव प्रतिक्षण समस्त जीवोंके परिवर्तित होते हैं, परन्तु अज्ञानियोंने अपने स्वभावका भान नहीं किया इसलिये वे सम्यक्प्रकारसे विज्ञानघन नहीं होते, इससे आस्रवोंसे निवृत्त नहीं होते; इसलिये उन्हें निवृत्त होनेका सम्यक्प्रकार लागू नहीं होता, किन्तु वह ज्ञानियोंको ही लागू होता है।

ज्ञानीको आत्माकी पहिचान होती है कि मैं अखण्ड चिदानन्द, ज्ञान पिण्ड आत्मा हूँ; उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पर द्रव्य मेरे नहीं हैं, उनका कोई भी कर्तव्य मेरा नहीं है; मैं पर द्रव्यका कर्ता नहीं किंतु अपने स्वभावका ही कर्ता हूँ—ऐसा सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात् जितना-जितना स्वरूपमें एकाग्र होता है, उतना ही राग-द्वेषसे मुक्त होता है और जितना राग-द्वेषसे मुक्त होता है उतना ही स्वरूपमें एकाग्र होता है। जितनी स्वरूप स्थिरता होती जाती है, उतनी ही अस्थिरता दूर होती है और जितनी अस्थिरता दूर होती है उतनी ही स्वरूप स्थिरता होती है। जितना स्वाश्रयरूप ज्ञाता पंथमें युक्त हुआ उतना ही पराश्रयरूप आस्रवोंसे निवृत्त होता है और जितना आस्रवोंसे निवृत्त होता है उतना ही ज्ञान करनेके पंथमें रुकता है। इसप्रकार विकार भावरूप आस्रवोंके दूर होनेका और सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेका समकाल है, अर्थात् एक ही काल है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भेदज्ञान ही आस्रवोंसे निवृत्त होनेका उपाय है। अत्यन्त सारगर्भित टीका की है। जिसने इस भेदज्ञानकी मालाको पहिन लिया है उसका व्याह नहीं रुक सकता; वह अल्पकालमें ही अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त करता ही है।

जैसे लोक-व्यवहारमें व्याहके समय माला डल चुकी है, पश्चात् कुटुम्बमें चाहे जिसप्रकारका विघ्न आये किन्तु व्याह नहीं रुक सकता; उसीप्रकार भेदज्ञानरूपी माला पहिननेके बाद चाहे जैसे कर्मोंका उदय आये तो भी उसकी अल्पकालमें होनेवाली मुक्ति टल नहीं सकती।

देखो! यहाँ पर यह लिया है कि भेदज्ञान ही आस्रवोंसे निवृत्त होनेका एकमात्र उपाय है—अन्य कोई उपाय नहीं कहा है। व्रत, दान, पूजादि करनेसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है—ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि व्रत, दानादिभाव स्वतः ही शुभास्रव हैं इसलिये उनमें प्रवर्तन करनेसे आस्रव कैसे रुकेंगे? किन्तु उन भावोंसे हटकर निर्विकारी स्वरूपमें स्थित हो तब आस्रवोंसे निवृत्त हो सकता है।

आत्मा क्या है उसका स्वरूप क्या है, उसमें स्थिर होना—रमना किसप्रकार होता है;—यह सब ज्ञान हुए बिना आस्रव कैसे दूर होंगे? इसीलिये इस गाथामें आचार्यदेवने आस्रवोंका यथावत् चित्र खींचकर जीवोंको ख्याल कराया है कि तुम आस्रवोंके स्वरूपको इस-प्रकार जानो, और उनसे विपरीत भगवान आत्माका स्वरूप इसप्रकार समझो। यदि सम्यक्प्रकारसे ऐसा ज्ञान करोगे तो आस्रवोंसे निवृत्ति होगी और आत्मस्वरूपमें स्थिति होगी।

धर्मके बहाने जितने पुण्यभाव और अशुभ कार्यके बहाने जितने पापभाव होते हैं वे सब आस्रव हैं। जैसा समझा है, उसी मार्गका अनुसरण करते हुए जितने अंशमें राग-द्वेषकी अस्थिरता घटती जाती [illegible] आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है और [illegible] उतने अंशमें निवृत्ति होती है। और जब सम्पूर्ण विज्ञानघन [illegible] है तब समस्त आस्रवोंसे निवृत्त होता है। भेद[illegible]ज्ञानमें

वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण ज्ञान जम जाता है, विज्ञानघन पिण्ड परिपूर्ण पृथक् हो जाता है तब सम्पूर्ण आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

यहाँ पर यह कहा है कि भेदज्ञान होनेसे आस्रव निवृत्त होते हैं। इसप्रकार चारित्रमें भी जितना भेदज्ञान करते-करते स्थिर होता जाता है-एकाग्र होता जाता है उतना ही आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है। चारित्रमें भी भेदज्ञानके अभ्याससे ही आगे बढ़ा जाता है।

सम्यग्ज्ञान होने पर कर्मकी ४१ प्रकृतियोंका बन्ध तो सहज ही रुक जाता है। वह सम्यक्त्वी धर्मात्मा भले ही राज्य करता हो, युद्ध कर रहा हो, तो भी ४१ प्रकृतियोंका बन्ध तो होता ही नहीं और पश्चात् जैसे-जैसे स्थिर होता जाये-स्वरूपमें दृढ़ होता जाये, वैसे ही अधिक प्रकृतियोंका बन्ध भी रुकता जाता है।

सच्चिदानन्द शांतिमूर्ति आत्माका भान होनेसे अनन्तसंसार दूर हो जाता है और वर्तमानमें ४१ प्रकृतियोंका नवीन बन्ध प्रतिक्षण क्रमशः रुक जाता है और भविष्यमें नरक, तिर्यञ्च-दो गतियोंसे छूट जाता है; मनुष्य गति मिले तो उसमें भी दशांगी सुख प्राप्त होता है, देवगतिमें जाये तो वहाँ भी उच्च-जातिका देव होता है; इसप्रकार सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें पुण्य भी अपूर्व बंधता है। कोई कहे कि उसने ऐसा क्या किया? अरे भाई! उसने तो जो अनन्तकालमें नहीं किया था ऐसा अपूर्व किया है; आत्मामें अपूर्व भान प्रगट किया कि वहाँ अनन्त-संसारका नाश हो गया। यह सम्यग्दर्शनका फल है।

प्रश्नः—आत्मा विज्ञानघन होता जाता है, इसका क्या अर्थ है?

उत्तरः—अपने स्वभावमें स्थिर होता जाता है—अपनी कृत-कृत्यता जमती जाती है। जहाँ तक ऐसा माने कि पुण्य-पापके भावोंका मैं कर्ता हूँ, स्वामी हूँ, वे मुझे गुण-लाभ करेंगे, वहाँ तक भले ही ज्ञानका विकास नवपूर्व जितना हो किन्तु वह सभी अज्ञान है। अन्तरङ्गमें मिथ्या अभिप्राय भरा हो तबतक ज्ञानका विकास चाहे

जितना हो जितना [illegible] आस्रवो अर्थात् [illegible] हो गया है।

आत्माके भान [illegible] भी जो [illegible] विज्ञान [illegible] उसे ज्ञान कहते हैं। स्वद्रव्यभाव परसे भिन्न है, [illegible] है—उसका भान हो, तथापि भी जो [illegible] भी उसे विज्ञान कहते हैं क्योंकि उस ज्ञानके फलमें केवलज्ञान प्रगट होगा। यथार्थ सम्यग्ज्ञानका स्वीकार सो स्वद्रव्यभावका स्वीकार है, स्वद्रव्यभावका स्वीकार सो सम्यग्ज्ञानका स्वीकार है।

जैसे-जैसे वह सम्यग्ज्ञान अर्थात् विज्ञान जगता-दृढ़ होता-स्थिर होता जाता है वैसे-वैसे आस्रवोंसे निवृत्ति होती जाती है; जैसे-जैसे आस्रवोंसे निवृत्ति होती जाती है वैसे-वैसे विज्ञान जगता-दृढ़ होता-स्थिर होता जाता है।

शरीरके टुकड़े हो जायें, चूर्ण हो जाये, चाहे जैसी प्रतिकूलता आये, संयोगोंमें चाहे जैसा परिवर्तन हो तो भी जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है उसे कोई उलटा करनेमें समर्थ नहीं है एक रंचमात्र भी कोई उसे हिलाने-डुलानेमें समर्थ नहीं है; महान् वज्रपात हो, तो भी वह सम्यग्दर्शनमें कोई परिवर्तन करनेमें समर्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन हुआ कि केवलज्ञानकी प्राप्ति होगी ही; दोज हुई कि पूर्णमासी होगी ही,-ऐसा सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है।

अब इसी अर्थका कलशरूप और आगेके कथनकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां ।
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥ ४८ ॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वं कथित विधानसे, इसीसमय परद्रव्यसे उत्कृष्ट (सर्व प्रकारसे) निवृत्ति करके, विज्ञानघन स्वभावरूप, मात्र

अपने पर निर्भयरूपसे आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना ही आश्रय करता हुआ (अथवा अपनेको निःशंकरूपसे आस्तिकभावसे स्थिर करता हुआ) अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तियोंके अभ्याससे हुए क्लेशसे निवृत्त हुआ, स्वतः ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगतका साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) पुराण पुरुष (आत्मा) यहांसे अब प्रकाशमान होता है।

पूर्वोक्त विधिसे जहाँ ज्ञान किया कि-उसीसमय परवस्तुसे सर्व प्रकारसे निवृत्ति करके विज्ञानघन अर्थात् अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभावके अतिरिक्त परका कुछ न करता हुआ, किन्तु अपनेमें स्थिर होता हुआ ज्ञान, मात्र अपने पर निःशंकरूपसे आरूढ़ होता अर्थात् अपनेमें निःशंक-रूपसे-निःसन्देहरूपसे स्थिर होता हुआ-अपनी सत्तामें दृढ़रूपसे स्थिर होता हुआ, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके क्लेशसे निवृत्त होता है। राग मेरा है, मैं रागका हूँ, एक क्षणिकपर्यायका मैं कर्ता होता था और वह मेरा कार्य होता था, अब ज्ञान हुआ कि मैं तो ज्ञाता हूँ, ध्रुव हूँ, स्थिर हूँ वैसे ही ज्ञाताकी स्थिरताके बलमें, अज्ञानरूपसे कर्ताकर्मके अभ्याससे हुआ जो क्लेश-दुःख है उससे निवृत्ति होती है और उसी क्षण ज्ञान-स्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी अर्थात् जितने जगतके भाव होते हैं उन्हें साक्षीरूपसे देखनेवाला किन्तु उनका कर्ता होनेवाला नहीं; चाहे जो पुण्य-पापकी वृत्ति हो उसका ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् साक्षीरूपसे रहने-वाला, अनादिका पुराणपुरुष-भगवान् आत्मा अब यहांसे प्रकाशमान होता है ॥ ७४ ॥

अब शिष्य पूछता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया—ऐसा कैसे जाना जा सकता है? उसका चिह्न (लक्षण) कहो!

यह जीव धर्मात्मा है, धर्म करता है-ऐसा किसप्रकार जाना जाता है? ऐसे ज्ञानी आत्माका लक्षण अथवा अनुमान क्या है? ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसे पहिचाना जाता है? उसके समाधानके लिये यह गाथा कहते हैं।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ७५ ॥

अर्थः—जो आत्मा इन कर्मके परिणामोंको और नोकर्म परिणामोंको करता नहीं, किन्तु जानता है वह ज्ञानी है ।

जो आत्मा जड़-कर्मोंकी अवस्था और शरीरादिकी अवस्था नहीं करता उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता, उसमें तन्मय बुद्धि परिणमन नहीं करता, किन्तु मात्र जानता है अर्थात् तटस्थ रहता हुआ-साक्षीरूपसे जानता है वह आत्मा ज्ञानी है ।

निश्चयसे मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूपसे अन्तरङ्ग उत्पन्न होनेवाला जो कर्मका परिणाम; और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूपसे बाह्यमें उत्पन्न होनेवाले जो नोकर्मके परिणाम हैं वे सभी पुद्गल परिणाम हैं ।

मोह अर्थात् परवस्तुके प्रति उत्साह भाव; राग अर्थात् प्रेम द्वेष अर्थात् ईर्ष्या, सुख-दुःखादि अन्तरङ्गमें उत्पन्न होनेवाले परिणाम पुद्गलपरिणाम हैं । मोह, राग, द्वेषादि विकारी अवस्थाएँ आत्माकी पर्यायमें उत्पन्न हैं तो भी वे जड़की ही अवस्थायें हैं—ऐसा यहाँ पर कहा है, क्योंकि वे जड़की ओर उन्मुख होनेवाले भाव हैं इसलिये उन्हें जड़ कहा है । वे भाव आत्माका स्वभाव नहीं हैं और उनकी मूल उत्पत्ति आत्मामेंसे नहीं है इसलिये उन्हें जड़ कहा है ।

अन्तरङ्गमें उत्पन्न होनेवाले हर्ष-शोक, रति-अरति इत्यादिके जो परिणाम हैं सो सभी जड़ हैं । जो अज्ञान भावसे राग-द्वेषादि करे वह आत्मा नहीं है, क्योंकि वे आत्माका यथार्थ स्वभाव नहीं हैं; वे भाव करना आत्माका कर्तव्य नहीं है तथापि अज्ञान भावसे वे मिथ्यात्व भाव करता है इससे वह आत्मा नहीं है । जो राग-द्वेषादि भावों जितना ही आत्माको माने वह आत्मा ही नहीं है ।

जो चौरासीमें रुलता है वह जीव ही नहीं है। चैतन्यकी जागृति नहीं रही इससे जड़ जैसा हो गया है, इसलिये आचार्यदेवने उसे जड़ ही कहा है। भूल करना मेरा स्वभाव ही नहीं है; मैं भूलका नाशक हूँ—ऐसा जो नहीं मानता वह आत्मा ही नहीं है, क्योंकि जिसने भूलको अपना माना, अपनेको नित्य भूल करनेवाला माना उसने आत्माका पवित्र स्वभाव अपना नहीं माना, किन्तु अपनेको अपवित्र ही माना है, इसलिये इस अपेक्षासे वह आत्मा ही नहीं है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक है वही मेरा कर्तव्य है। भले ही कदाचित् शुभभाव हों तो वह भी विकारी भाव ही हैं इसलिये जिसने ऐसा माना कि वे भाव मेरा कर्तव्य है और मैं उनका कर्ता हूँ; उसने यह नहीं माना कि शुभाशुभ भावरहित वीतरागी, असंग, अबद्ध, सच्चिदानन्द स्वभावको प्रगट करना मेरा कर्तव्य है—कार्य है; इसलिये वह जड़ है।

मैं रागादिका उत्पादक नहीं हूँ, आत्मा तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, मैं ज्ञातापनेका कार्य कर सकता हूँ—ऐसा नहीं माना और मैं परवस्तुका कुछ कर सकता हूँ—शुभराग-व्यवहार तो करना चाहिये यह माना, इसलिये उसकी अपने चैतन्यकी जागृति दब गई है—इससे इस अपेक्षासे वह जड़ है। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि चैतन्यका नाश होकर जड़ द्रव्य हो जाता है; यदि आत्मा जड़ हो जाता हो तो "तू समझ, आत्माको पहिचान"—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यह तो कई बार कहते है कि बालक-बालिकाएँ, राजा-रंक, सभी आत्मा प्रभु है—परिपूर्ण भगवान हैं, वर्तमानमें भी सभी आत्मा अनन्त गुणोंसे युक्त हैं, किन्तु उसका भान नहीं करता-पहिचान नहीं करता और जड़के कर्तव्यको अपना कर्तव्य मानता है, जड़के स्वरूपको अपना स्वरूप मानता है; उसकी दृष्टिमें उसे जड़का ही प्रतिभास होता है इसलिये उसे जड़ कहा है।

शरीर, वाणी, इत्यादि पुद्गलका स्थूल परिणाम है, और कार्मणशरीर पुद्गलका सूक्ष्म परिणाम है। ठण्डा-गरम स्पर्श मैं कर

अज्ञानीकी दृष्टि विकार पर है। जो अवगुणकी क्रिया होती है उतना ही वह अपनेको मानता है, अपने त्रिकाल अखण्ड गुणको भूलता है, इससे वह अपनेको जड़ मानता है।

मुक्ति और मुक्तिका मार्ग आत्मामें ही है, बाहर नहीं है। अन्तरङ्गमें उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषके सभी भाव और शरीरादि नोकर्म -इस सबमें पुद्‌गलद्रव्यका प्रसार होता है, इसलिये सब पुद्‌गल ही हैं। उन समस्त भावोंका कर्ता पुद्‌गल ही है; आत्मा तो उनका ज्ञाता है। यहां पर चैतन्यके विकारी परिणामोंको जड़ कहा है किन्तु आगे कथन आयेगा कि विकारी परिणाम चैतन्यके हैं; वे जडके निमित्तसे होते हैं किन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है इससे जड़ हैं, परन्तु चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं, इसलिये चैतन्यके हैं:

शरीर, वाणी, वर्ण, रस, गंध, राग, द्वेष आदि सभीमें पुद्‌गलका प्रसार होता है इसलिये पुद्‌गल ही उनका कर्ता है और वे पुद्‌गलका कार्य हैं।

स्वाश्रय द्वारा आत्मामें तो गुणोंकी निर्मल पर्यायोंकी ही उत्पत्ति होती है; जो मलिन अवस्था है उनकी उत्पत्तिमें तो परद्रव्यका संग कारण है अतः रागादिमें जड़का ही कारण है। मिट्टी फैलकर घड़ा हुआ, वैसा ही पुद्‌गल बढ़कर अर्थात् पुद्‌गलकी पर्याय परिवर्तित होते-होते राग-द्वेषादिकी अवस्था आती है।

स्वात्माके आश्रयमें तो आत्माकी अवस्था परिवर्तित होते-होते वीतरागताकी अवस्था आती है; आत्माकी अवस्थामें परिवर्तन होते-होते रागकी अवस्था नहीं आती—ऐसी यहां बात है। राग-द्वेष, हर्ष-शोककी पर्याय होती तो आत्मामें ही हैं, किन्तु आत्माके मूल स्वरूपमें वे परिणाम हैं ही नहीं; तीन काल और तीन लोकमें वे आत्मामें नहीं हैं; वे परोन्मुखतावाले-विरुद्ध भाव हैं इसलिये परके हैं।

यहां तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका लक्षण बताया जाता है। सम्यग्ज्ञानी समझते हैं कि हर्ष-शोक, राग-द्वेष शरीरादि कुछ भी मेरे नहीं हैं; मैं तो शुद्ध चैतन्यज्ञायक हूँ।

राग-द्वेष, शरीर, वर्ण, गंध, स्पर्शादि जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उनके साथ आत्माका व्याप्य-व्यापकपना नहीं है, इससे कर्ताकर्मपना भी नहीं है। उन रागादिक अवस्थाओंका ज्ञान करना आत्माका कर्म है और आत्मा उस ज्ञानकर्मका कर्ता है। आत्मा ज्ञानकी पर्याय करता है, वैसा कहना भी सद्भूतव्यवहार है। गुण और पर्यायका भेद हुआ इसलिये व्यवहार है, परन्तु वस्तुदृष्टिसे गुण-पर्यायमें भेद नहीं है किन्तु लक्षणादि भेदसे भेद है इसलिये व्यवहार कहा है।

जो शरीर, मन, वाणी, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श, राग-द्वेषादिको जाननेके परिणामरूप कार्य है, जाननेकी सत्क्रियारूप कार्य है, उस जाननेमात्र सत्कर्मको करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माको जानता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे अत्यन्त भिन्न निरन्तर सर्वत्र ज्ञानपर्यायको करता हुआ-ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। उस ज्ञाता-दृष्टारूपसे रहना ही उसका कर्तव्य है, और उसके अतिरिक्त राग करनेका अथवा शरीरको सुधारनेका कर्तव्य आत्माका नहीं है, तथापि जो ऐसा मानता है वह अज्ञानी है।

परमार्थसे अर्थात् यथार्थ रीतिसे घड़ा और कुम्हारका व्याप्य-व्यापकपना नहीं है; वैसे ही राग-द्वेष शरीरकी अवस्थाका ज्ञातारूप आत्माकी पर्यायके साथ भी व्याप्यव्यापकपना नहीं है। यहाँ राग-द्वेषके परिणामोंका भी पुद्गलका परिणाम कहा है। पुद्गल परिणामोंके ज्ञानका अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणामोंके ज्ञानका और राग-द्वेषरूप अवस्थाका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है और इससे कर्ता-कर्मपना भी नहीं है।

जैसे कुम्हार और मिट्टीके भीतरी सम्बन्धका अभाव है, वैसे ही ज्ञानपर्यायका राग-द्वेषकी पर्यायके साथ तथा शरीरादिकी पर्यायके साथ भीतरी सम्बन्ध नहीं है। जैसे घड़ा और मिट्टीका आन्तरिक सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और ज्ञानका भी आन्तरिक सम्बन्ध है।

आत्माका और आत्माकी पर्यायका कर्ताकर्म सम्बन्ध है। परन्तु पुद्गल परिणामके साथ, रागादिकके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है इससे कर्ताकर्म सम्बन्ध भी नहीं है।

इस शरीरकी जो चलने-बैठनेकी क्रिया होती है उसका कर्ता पुद्गल है और चलना-बैठना उसकी क्रिया है। वह क्रिया शरीररूपसे होती है किन्तु आत्मारूपसे नहीं होती; यदि वह आत्मारूप होती हो तो ज्ञान-दर्शन आदि गुण उसमें मिल जाना चाहिये परन्तु वैसा तो नहीं होता। शरीरकी क्रिया भिन्न होती है और आत्माकी भिन्न; जो होता है उसे ज्ञानी जानता है, जाननेकी क्रिया आत्माके साथ व्याप्य है और आत्मा स्वतः व्यापक है; आत्मा स्वतः कर्ता है और ज्ञानपर्याय उसका कार्य है—इसप्रकार कर्ताकर्म सम्बन्ध है।

विपरीत पुरुषार्थ द्वारा आत्माकी पर्यायमें जो हर्ष-शोककी वृत्तियाँ होती हैं वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इससे ज्ञानी जानता है कि हर्ष-शोककी अवस्थामें मैं उत्पन्न नहीं होता और वह मुझमें उत्पन्न नहीं होती। मैं अपनेमें उत्पन्न होता हूँ। अपूर्ण हूँ इससे अल्प अस्थिरता होती है, वह अस्थिरता पुरुषार्थकी मन्दतासे मेरी अवस्थामें होती है किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, वह परनिमित्तसे होनेवाला भाव है इसलिये परका है। इसप्रकार ज्ञानी, जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उनका ज्ञान करता है। वह ज्ञान आत्माका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है।

चलने, बैठने, बोलने आदिकी, तथा अन्तरमें हर्ष-शोककी जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उन्हें ज्ञानी जानता है; यह सब जो मेरे आत्मस्वभावसे बाहर होता है उसका मैं ज्ञायक हूँ। जो होता है उसे ज्ञानी देखता है अर्थात् ज्ञानकी पर्याय करता है, ज्ञान मेरा कार्य है, मेरा धर्म है उस ज्ञानकी पर्याय अपनेमें विस्तृत हुई है, प्रसारित हुई है और स्वतः में ही व्याप्त हुई है। ज्ञानी जानता है कि मेरे आत्माके बाहर जो पैदावारी दिखाई दे रही है वह सब जड़की फसल है, मेरी पैदावारी तो मुझमें है, मेरे अंकुर मुझमें ही हैं; मैं अनन्त गुणकी मूर्ति हूँ

और अनन्त गुणोंकी पर्यायसे अपनेमें ही अंकुरित होता हूँ, बढ़ता हूँ, और अपने स्वभावमें फलता हूँ, जड़से मेरी फसल नहीं होती। विकारोंकी पैदावारी अज्ञानभावोंकी है, वह मेरे आत्माकी फसल नहीं है; जब मैं अपने ज्ञानस्वभावमें स्थिर होता हूँ तब दूर हो जाती है। ज्ञानी कर्ता है और ज्ञान उसका कार्य उस प्रकार है जैसे मिट्टी कर्ता और घड़ा उसका कार्य। परन्तु कुम्हार कर्ता और घड़ा उसका कार्य—ऐसी अज्ञानीकी बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो धर्मात्माकी बात है। ज्ञानी, ज्ञानस्वरूपसे है, किन्तु रागस्वरूपसे ज्ञानी नहीं है। अपनेमें अनन्तगुण हैं वे वस्तुरूपसे अभेद हैं—ऐसी अभेददृष्टि करके, उसमें एकाग्र होकर, विभावोंसे भिन्न होकर जो पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होतीं हैं उनका ज्ञाता ही रहता है।

कुम्हार कर्ता और घड़ा उसका कार्य-वैसी कर्ताकर्मकी सिद्धि है तो नहीं। उसीप्रकार पुद्गल और ज्ञानके भी कर्ताकर्मपनेकी सिद्धि है ही नहीं। जैसे घड़ेका और मिट्टीका कर्ताकर्मपना है, वैसे ही आत्म-परिणामोंका अर्थात् ज्ञानका और आत्माका कर्ताकर्मपना है। ज्ञानी द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म सभीका ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है। यह बात बड़े-बड़े महन्त (दुनियामें कहे जानेवाले महा पुरुष) अज्ञानीको भी खटके ऐसी है, किन्तु उससे कहीं वस्तुस्वभाव नहीं बदल जायेगा। वस्तुस्वभाव तो जैसा है वैसा ही है, त्रिकाल ऐसा ही है।

घड़ा अर्थात् यह शरीर। शरीरका आकार घड़ेकी भाँति है, और अपनेको उस शरीरकी अवस्थाका कर्ता माननेवाला कुम्हार जैसा है; कुम्हारने माना है कि घड़ा मैं बनाता हूँ और अज्ञानी मानता है कि शरीरकी अवस्था मैं करता हूँ इसलिये दोनों कुम्हार हैं।

ज्ञानी सबका ज्ञाता है। मकान, दुकान, लक्ष्मी, कुटुम्बादि सभीका ज्ञाता है। यह बात गर्वकी नहीं है किन्तु यह तो वस्तुस्वरूप जैसा है उसे जाननेवाले ज्ञानीकी बात है, जिसके राग-द्वेष, शरीरादिकी क्रिया होती है, अल्प हर्ष-शोक होता है; अर्थात् थोड़े कुटुम्बादिकी

बात है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानकी बात है। वस्तुस्वरूपको यथार्थ समझे बिना भवका अन्त नहीं है।

अरे भाई! यह शरीर, मकान, स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि सभीको तू अपना मानता है वे सभी झंझाके झकोरेके समान क्षण भंगुर होनेसे पवनकी भाँति उड़ जायेंगे। पुण्य-पापके शुभाशुभ भावोंको तू अपना मानता है परन्तु वे सब तो क्षणिक हैं प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं; इसलिये यदि तुझे सुखकी आवश्यकता है तो शाश्वत आत्माका भान कर! अशुभपरिणाम तो विकार ही हैं किन्तु दया, दान, व्रत, पूजा आदिके जो शुभपरिणाम होते हैं वह भी आस्रव है-अनात्मा है, विकार है। आत्माके निर्विकार स्वभावसे वे भाव भिन्न हैं, परन्तु अशुभपरिणामोंसे बचनेके लिये शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते; ज्ञानी भी अशुभपरिणामोंसे बचनेके लिये शुभमें विद्यमान रहते हैं; पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है पूर्ण स्वरूपमें स्थिर नहीं हुआ जा सकता-इससे शुभपरिणामोंमें युक्त होते हैं। ज्ञानी शुद्धस्वरूपमें स्थिर होनेके उद्यमी रहते हैं परन्तु जहाँतक पूर्ण स्थिरता नहीं हो सकती वहाँ तक शुभपरिणामोंमें भी युक्त होते हैं, किन्तु उनके कर्ता नहीं होते, उनके भी ज्ञाता ही रहते हैं, अशुभपरिणामोंके, शरीरकी क्रियाके और बाह्यके अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोंके भी ज्ञाता ही हैं—इसप्रकार सबके ज्ञाता ही हैं। विकारी अवस्था तो अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे, अपनी अस्थिरताके कारण होती है तो भी उसके ज्ञाता हैं। द्रव्यको, उसके स्वभावको और उसकी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायको ज्ञानी बराबर जानते हैं, कर्ताकर्मके स्वरूपको एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको भी वे बराबर जानते हैं; जो अल्प अस्थिरता होती है उसे दूर करके वीतराग होनेका प्रयास है, भावना है।

जिसे आत्माके स्वभावकी खबर नहीं है उसे जड़के स्वभावकी भी खबर नहीं है; जिसे आत्माके स्वभावकी खबर है उसे जड़के स्वभावकी भी खबर है।

मैंने पुण्य किया, दान किये, परको मैं सुखी कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ; मैं ही शरीरको चला सकता हूँ, वाणी मैं ही बोल सकता हूँ—इसप्रकार परकी क्रियाका स्वामी होनेवाला-परकी क्रियाको अपनी माननेवाला यहाँसे जाकर बीचमें एक या दो भव राजा अथवा देवके लेकर पश्चात् निगोद और नरकमें सड़ेगा, वह अधर्मी है। परन्तु जिसने परसे भिन्न आत्माका सच्चा स्वरूप समझनेकी यथार्थ जिज्ञासा की होगी वह भविष्यमें अवश्य पुरुषार्थकी वृद्धि करके स्वरूपको समझेगा और उसके भवका अन्त आयेगा।

आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होनेसे आत्मपरिणामोंका अर्थात् पुद्गलपरिणामोंके ज्ञानका कर्ता है; और जो पुद्गलपरिणामोंका ज्ञान है वह व्यापक द्वारा स्वतः व्याप्त होनेसे (व्याप्यरूप होता होनेसे) कर्म है। और इसप्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणामोंका ज्ञान करता है इससे) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाताका व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्माका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धका व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसके निमित्त हैं—ऐसा ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है; पुद्गलपरिणामोंका ज्ञेयरूप निमित्त है। ज्ञान जानता तो स्वतःके ही द्वारा है किन्तु ज्ञेय निमित्त है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है)।

आत्मा स्वतः अपनेमें व्याप्त होकर अपने आत्मपरिणामोंका कर्ता है और आत्मपरिणाम अर्थात् ज्ञानपरिणाम उसका कार्य है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका ज्ञान (उसे जाननेवाला ज्ञानकर्म) आत्मामें व्याप्त है, कहीं परमें व्याप्त नहीं है इसलिये वह आत्माका कर्म है, वह स्वतंत्र व्यापक द्वारा ही स्वतःसे व्याप्त होनेसे आत्माका कर्म है। फिर आत्मा पुद्गलपरिणामोंका ज्ञान करता है इससे पुद्गलके परिणाम हैं वे ज्ञाताकी अवस्था हो जायें—ऐसा नहीं है। शरीर इसप्रकार चला, रोटी इसप्रकार खाई, पैसा ऐसे हुआ, उन सबका ज्ञान किया इससे कहीं वह सब जड़की अवस्था आत्माकी नहीं हो जाती। आत्माका स्वभाव स्व-परको जाननेका है इससे कहीं ज्ञेय ज्ञानरूप और ज्ञान

ज्ञेयरूप नहीं हो जाता; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु उससे कहीं एक दूसरेमें प्रवेश नहीं कर जाते। प्रवेश किये बिना कर्ता मानना वह अज्ञानियोंका उपचार है।

रागादि या तृष्णाको कम करनेकी अवस्था आत्मामें होती है, इससे वह मन्दरागरूप अवस्था कहीं आत्माका स्वभाव नहीं हो जाती। आत्मा शरीरकी अवस्थाके ज्ञाता और तृष्णाको कम करनेकी अवस्थाके ज्ञाता हैं कर्ता नहीं कारण कि आत्माकी ज्ञानरूप निर्मल अवस्था शरीररूप नहीं हो जाती, वैसे ही शुभाशुभपरिणामरूप नहीं हो जाती, क्योंकि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है—ऐसा वह ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है इसलिये ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है, उस ज्ञानक्रियाका आत्मा कर्ता है।

संयोग और विकार मैं नहीं हूँ कारण कि मैं शरीर, वाणी, मनरूप नहीं हूँ, राग-द्वेष भी नहीं हूँ किन्तु उन सबसे भिन्न आत्मा हूँ—ऐसा ज्ञान करके स्वरूपमें स्थिर हुआ वह निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण आत्माकी पर्याय है। शरीर, वाणी तो स्थूल हैं, उनका आत्माके साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, परन्तु शरीर और रागादि ज्ञाता नहीं हैं, ज्ञात होने योग्य है और आत्मा ही ज्ञाता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है; पुण्य-पापके परिणामोंके साथ भी आत्माका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। आत्मा ज्ञाता है और पुण्य-पापके परिणाम ज्ञेय—ज्ञानके विषय बनने योग्य हैं। धर्मात्माका कार्य उन सबको जाननेका है; परका कुछ भी करनेका कार्य धर्मीका नहीं है।

शरीर अथवा एक तृणका भी कुछ करनेमें ज्ञानी या अज्ञानी कोई समर्थ नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैं परका कर सकता हूँ, तो वह अपने विपरीत भाव ही करता है किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता; मैं परवस्तुका कर सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह महामूढ़ है।

अब इसी अर्थके समर्थनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अर्थ:—व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है, अतत्स्वरूपमें नहीं होता। और व्याप्यव्यापक भावके सम्भव बिना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति ही नहीं होती। ऐसा प्रबल विवेकरूप और सबको ग्रासीभूत करनेका जिसका स्वभाव है—ऐसा जो ज्ञानप्रकाश है उसके बलसे अज्ञानांधकारको विदीर्ण करता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, कर्तृत्वरहित हुआ उसकाल दीप्त होता है।

देखो! आचार्यदेव कलशमें फिरसे संक्षेपमें कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है, अर्थात् जड़की अवस्था व्याप्य और जड़वस्तु स्वतः व्यापक है; इसप्रकार व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है। प्रतिक्षण जो अवस्था होती है वह वस्तुके आधारसे ही होती है, वस्तुमें व्याप्त होकर ही होती है। व्यापक अर्थात् होनेवाला और व्याप्य अर्थात् जो होता है वह। अवस्था कहीं अन्यत्र हो और होनेवाला कहीं पृथक् रह जाये—ऐसा नहीं हो सकता। शरीर-वाणीकी अवस्था पुद्गल द्रव्यमें ही व्याप्त है, पुद्गलद्रव्यके ही आधारसे है, इसलिये होनेका और होनेवालेका-दोनोंका मेल है। एक तत्वसे दूसरे तत्वका कुछ भी न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा ही।

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें व्याप्त हो तो एक द्रव्य दूसरेका कार्य कर सके, कर्ता हो सके; परन्तु एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें व्याप्त होना जहाँ सम्भव ही नहीं, अवकाश ही नहीं वहाँ कर्ता-कर्मकी स्थिति होगी ही कहाँसे? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति नहीं ही होती।

ज्ञेयरूप नहीं हो जाता; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु उससे कहीं एक दूसरेमें प्रवेश नहीं कर जाते। प्रवेश किये बिना कर्ता मानना वह अज्ञानियोंका उपचार है।

रागादि या तृष्णाको कम करनेकी अवस्था आत्मामें होती है, इससे वह मन्दरागरूप अवस्था कहीं आत्माका स्वभाव नहीं हो जाती। आत्मा शरीरकी अवस्थाके ज्ञाता और तृष्णाको कम करनेकी अवस्थाके ज्ञाता हैं कर्ता नहीं कारण कि आत्माकी ज्ञानरूप निर्मल अवस्था शरीररूप नहीं हो जाती, वैसे ही शुभाशुभपरिणामरूप नहीं हो जाती, क्योंकि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है—ऐसा वह ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है इसलिये ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है, उस ज्ञानक्रियाका आत्मा कर्ता है।

संयोग और विकार मैं नहीं हूँ कारण कि मैं शरीर, वाणी, मनरूप नहीं हूँ, राग-द्वेष भी नहीं हूँ किन्तु उन सबसे भिन्न आत्मा हूँ—ऐसा ज्ञान करके स्वरूपमें स्थिर हुआ वह निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण आत्माकी पर्याय है। शरीर, वाणी तो स्थूल हैं, उनका आत्माके साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, परन्तु शरीर और रागादि ज्ञाता नहीं है, ज्ञात होने योग्य है और आत्मा ही ज्ञाता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है; पुण्य-पापके परिणामोंके साथ भी आत्माका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। आत्मा ज्ञाता है और पुण्य-पापके परिणाम ज्ञेय—ज्ञानके विषय बनने योग्य हैं। धर्मात्माका कार्य उन सबको जाननेका है; परका कुछ भी करनेका कार्य धर्मीका नहीं है।

शरीर अथवा एक तृणका भी कुछ करनेमें ज्ञानी या अज्ञानी कोई समर्थ नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैं परका कर सकता हूँ, तो वह अपने विपरीत भाव ही करता है किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता; मैं परवस्तुका कर सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह महामूढ़ है।

अब इसी अर्थके समर्थनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अर्थः—व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है, अतत्स्वरूपमें नहीं होता। और व्याप्यव्यापक भावके सम्भव बिना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति ही नहीं होती। ऐसा प्रबल विवेकरूप और सबको ग्रासीभूत करनेका जिसका स्वभाव है—ऐसा जो ज्ञानप्रकाश है उसके बलसे अज्ञानांधकारको विदीर्ण करता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, कर्तृत्वरहित हुआ उसकाल दीप्त होता है।

देखो! आचार्यदेव कलशमें फिरसे जोरमें कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है, अर्थात् जड़की अवस्था व्याप्य और जड़वस्तु स्वतः व्यापक है; इसप्रकार व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है। प्रतिक्षण जो अवस्था होती है वह वस्तुके आधारसे ही होती है, वस्तुमें व्याप्त होकर ही होती है। व्यापक अर्थात् होनेवाला और व्याप्य अर्थात् जो होता है वह। अवस्था कहीं अन्यत्र हो और होनेवाला कहीं पृथक् रह जाये—ऐसा नहीं हो सकता। शरीर-वाणीकी अवस्था पुद्गल द्रव्यमें ही व्याप्त है, पुद्गलद्रव्यके ही आधारसे है इसलिये होनेका और होनेवालेका—दोनोंका मेल है। एक तत्त्वने दूसरे तत्त्वका कुछ भी न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा ही।

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें व्याप्त हो तो एक द्रव्य दूसरेका कार्य कर सके, कर्ता हो सके; परन्तु एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें व्याप्त होना जहाँ सम्भव ही नहीं, वहाँ कारण ही नहीं वहाँ कर्ता-कर्मकी स्थिति होगी ही कहाँसे? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति नहीं ही होगी।

इसप्रकार समस्त परपदार्थके कर्ताकर्मकी स्थिति रहित द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे परसे भिन्न–पृथक् आत्मा है। शरीरादि और स्त्री–कुटुम्बादि परकी ओर उन्मुख वाले जो रागादि भाव हैं वह मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसा प्रबल विवेक होने पर ज्ञानप्रकाश उदित हो उठता है; आत्मज्योति झलकने लगती है और सर्वको ग्रासीभूत करनेका जिसका स्वभाव है, अर्थात् सर्वको जान लेनेका ज्ञानप्रकाशका स्वभाव है, सर्वको जान लेना ज्ञानकी सत्क्रिया भी है, शुभाशुभ भावोंका होना असत्क्रिया है। देखो! शरीरकी क्रिया नहीं कही परन्तु शुभाशुभ-भावोंका होना असत् क्रिया है।

अज्ञानी राग-द्वेषको अपना मानकर रखना चाहता है, इसलिये राग-द्वेष उसके हैं, और ज्ञानी राग-द्वेषको अपना स्वभाव नहीं मानते इससे उन्हें दूर करना चाहते हैं, इससे वे उसके नहीं हैं किन्तु ज्ञान उसका है। अज्ञानीका ज्ञान नहीं किन्तु राग–द्वेष है।

अज्ञानीका आत्मा कितना है? जितना उसका अज्ञानभाव है, अर्थात् वर्तमान अवस्था जितना; अथवा एक समयके पुण्य–पाप जितना। अज्ञानी त्रैकालिक शुद्ध स्वभावको नहीं मानता इसलिये वह त्रैकालिक आत्मा अज्ञानीका नहीं है; उसका जो शुद्ध त्रैकालिकस्वभाव है वह तो जायेगा ही कहाँ, परन्तु यहाँ उसकी मान्यताकी अपेक्षासे बात है।

ज्ञानीका आत्मा त्रिकाल ज्ञाता–दृष्टा ध्रुव है, अखण्ड है, क्योंकि जैसा चैतन्यका स्वभाव है वैसा ही ज्ञानीने प्रतीतिमें लिया है इसलिये ज्ञानीका आत्मा अखण्ड त्रिकाल शुद्ध है।

ऐसा ज्ञानप्रकाश ज्ञानीके अंतरंगमें प्रगट हुआ है। उस ज्ञान-प्रकाशके बलसे अज्ञानांधकारका भेदन हो जाता है, उसका नाश होता है, राग-द्वेष और पुण्य–पापके भाव मेरे नहीं हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो चिदानन्द आनन्दघन है, उस स्वभावका मैं कर्ता हूँ, परन्तु परभावोंका मैं कर्ता नहीं हूँ—इसप्रकार ज्ञानस्वरूप होकर, कर्तृत्वरहित होता हुआ, निर्मल

निर्दोषरूपसे उसकाल शोभित-दीप्त हो रहा है। उसकाल अर्थात् पहले अज्ञानी था वह अज्ञान दूर होकर अब ज्ञानी हुआ अर्थात् ज्ञानकी अपूर्व अन्तरक्रिया विकसित हुई, उस ज्ञानप्रकाशके बलसे ज्ञानमें समा जाता है अर्थात् उसकाल शोभायमान हो रहा है। यह केवलज्ञानीकी बात नहीं है—सम्यग्दृष्टि जीवकी बात है। अद्भुत बात कही है! जो जागृत होकर समझे उसे ज्ञात होने योग्य है।

शरीर, वाणी और मन आदिकी जो प्रतिक्षण अवस्था होती है उसका कर्ता आत्मा नहीं है, पृथक् द्रव्यकी पर्याय पृथक् द्रव्यमें, और आत्माकी पर्याय आत्मामें होती है।

जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त हो वह तो व्यापक है और कोई एक अवस्थाविशेष सो व्यापकका व्याप्य है। ऐसा होनेसे द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है, क्योंकि द्रव्य तो समस्त अवस्थाओंमें व्यापक ही है और पर्याय एक अवस्थाविशेष है, इसलिये वह व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं इसलिये जो द्रव्यका आत्मस्वरूप अथवा सत्व है वही पर्यायका आत्मस्वरूप और सत्व है। ऐसा होनेसे द्रव्य पर्यायमें व्याप्त होती है और पर्याय, द्रव्यके द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसा व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें ही होता है।

पुद्गलद्रव्य व्यापक है और वर्ण-गंध-रस-स्पर्शकी पर्याय व्याप्य है। पर द्रव्य और पर्याय—दोनों अभेद हैं; जो द्रव्यका स्वरूप और सत्व है वही पर्यायका स्वरूप और सत्व है।

आत्मा व्यापक है और ज्ञानादि गुणोंकी पर्याय उसका व्याप्य है। जो आत्माका स्वरूप और सत्व है वही पर्यायका भी है; द्रव्य और पर्याय दोनों अभेद हैं। इसप्रकार व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमें होता है किन्तु अतत्स्वरूपमें नहीं होता, अर्थात् जिनके सत्व-सत्ता भिन्न-भिन्न हैं ऐसे पदार्थोंमें व्याप्यव्यापकपना नहीं होता। जैसे शरीरादि पुद्गल द्रव्य व्यापक और आत्माकी पर्याय व्याप्य—इसप्रकार व्याप्यव्यापकता नहीं होती। क्योंकि दोनोंके स्वरूप और सत्व भिन्न-भिन्न हैं। पुनश्च,

है, इससे उसके कर्ताबुद्धि नहीं है, किन्तु वीर्यकी मन्दतासे अस्थिरता हो जाती है, इससे मात्र उपचारसे कर्ता कहा है।

जब मकान, खिचड़ी इत्यादि होनेकी योग्यता पुद्गलद्रव्यमें होती है तब सामनेवाले जीवका विकल्प इत्यादि अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं, उन सभी निमित्तोंको खिचड़ी और मकान होनेकी योग्यतावाले पुद्गल नहीं ला देते परन्तु सभी अनुकूल निमित्त अपने-अपने कारणसे उपस्थित होते हैं।

स्त्रीने खिचड़ी अच्छी बनाई—ऐसा निमित्तसे कहा जाता है; खिचड़ी बनते समय जो निमित्त उपस्थित होता है उस पर आरोप करके कहा जाता है कि यह खिचड़ी इसने अच्छी बनाई है, यह कार्य इसने अच्छा किया है। यदि स्त्री खिचड़ी पका देती हो तो कंकड़ोंसे खिचड़ी बना दे ! तीन काल और तीन लोकमें भी परद्रव्यकी अवस्थाको कोई कर ही नहीं सकता। ज्ञानी जबतक गृहस्थाश्रममें हो तबतक उसे खिचड़ी आदिके करनेका विकल्प आता है, किन्तु वह उसका कर्ता नहीं है; सम्यक्त्वी धर्मात्मा गृहस्थाश्रममें हो परन्तु मुझसे अच्छा कार्य हुआ, मकान मैंने अच्छा बनाया, रसोई मुझसे अच्छी बनी, सेवा मैंने की—इत्यादि कार्योंका कर्ता नहीं होता। वस्तुमें जो पर्याय होनेकी शक्ति है वह वस्तुमेंसे क्रमशः बदलते-बदलते प्रगट होती है।

चूना-पत्थरमेंसे जब मकानकी अवस्था होनी होती है तब कारीगर, मजदूर इत्यादिकी उपस्थिति होती है। जिस वस्तुमेंसे जो अवस्था होना होती है तब उसे वैसा ही अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है; जिस वस्तुमेंसे जो अवस्था आये उस अवस्थाका कर्ता वह वस्तु है।

भजिये बन रहे हों और तेलकी कड़ाही पाँवके ऊपर गिरी, पाँव जल गया और पीला होने लगा। जब जैसा होना होता है वह होता ही है, उसे रोकनेके लिये कोई समर्थ नहीं है, जड़की जो अवस्था होना हो उसे रोकनेमें किसीकी शक्ति समर्थ नहीं है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैंने ध्यान नहीं रखा इसलिये ऐसा हो गया, और ज्ञानी

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥ ७६ ॥

अर्थ:—ज्ञानी अनेक प्रकारसे पुद्गलकर्मोंको जानता है, तथापि निश्चयसे परद्रव्यकी पर्यायमें परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। परद्रव्यके साथ कर्तापनेका व्यवहारसे कथन होता है—कार्य तो प्रत्येक द्रव्यमें स्वतंत्र शक्तिसे ही होता है।

बात श्रेष्ठ है, सूक्ष्म है, उग्र है। आचार्यदेव कहते हैं कि धर्मी जीव—चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव; धर्मी अर्थात् पूर्णदशाको प्रगट करनेवाला जीव ऐसा मानता है कि परवस्तुको परिवर्तित करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, मैं परवस्तुको ग्रहण नहीं करता और उसरूप मैं उत्पन्न नहीं होता; वह सब जड़का कार्य है, उसे जड़ ही करता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य जो व्याप्यलक्षणवाला (जिसका लक्षण व्याप्य है) पुद्गलके परिणामस्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य) है, उसमें स्वतः अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमित होता हुआ और उत्पन्न होता हुआ पुद्गलद्रव्य स्वयं पुद्गलपरिणामोंका कर्ता है। एक आकाशक्षेत्रमें छहों द्रव्य हैं सभी निरन्तर अपने-अपने परिणामोंके कर्ता हैं, किसीके कारण या आधार द्वारा किसीका परिणाम हो ऐसा कभी नहीं बनता।

देखो ! इसमें क्या कहते हैं-यह प्रत्येक द्रव्यमें प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप अवस्था निरन्तर होती है वह उसका कर्म है—कार्य है। जैसे एक ग्राम हो और उस ग्राममें मनुष्य पहुँच जाये वह प्राप्य, एक पर्यायसे दूसरी पर्याय होनेमें जो परिवर्तन आया वह विकार्य और जो नवीन अवस्थाकी उत्पत्ति होती है वह निर्वर्त्य।

जड़, जड़की अवस्थाको प्राप्त होता है, जड़की अवस्थाको परिवर्तित करता है, जड़की अवस्थाको उत्पन्न करता है।

कर्म होने योग्य परमाणु अपनी अवस्थाको प्राप्त होते हैं, स्वतः परिवर्तित होकर कर्म होते हैं और स्वतः कर्मकी अवस्थारूप उत्पन्न होते हैं; परन्तु आत्मा उन्हें प्राप्त करता है, आत्मा बदलता है और आत्मा उत्पन्न होता है-वैसा नहीं है।

यह सूक्ष्म बात है। यदि व्यापारमें कमाईका अवसर हो तो अत्यन्त उल्लास आता है, और उसीकी बातमें भी बहुत हर्ष होता है परन्तु भाई! यह तो आत्माकी रोकड़-अक्षय निधान कमानेकी बात है उसमें बराबर ध्यान रखे तो वस्तुस्वरूप यथावत् समझमें आये।

यदि हाथ भी उठाना हो तो आत्मा नहीं कर सकता, हाथ ऊँचा करनेमें नोकर्म जो शरीर है वे स्वतः समर्थ हो वह प्राप्य, शरीर स्वतः परिवर्तित हो वह विकार्य और शरीर स्वतः बदलकर नवीन अवस्थाकी उत्पत्ति करता है वह निर्वर्त्य। वैसे ही जो द्रव्यकर्म है उसमें भी पुद्गल स्वतः पहुँच जाता है, पुद्गल स्वतः कर्मकी अवस्थारूप बदलता है और स्वतः कर्मकी अवस्थारूपसे उत्पन्न होता है। आत्मा उस कर्मको प्राप्त नहीं होता; आत्मा परिवर्तित नहीं होता और आत्मा उत्पन्न भी नहीं होता। आत्मा तो अपने भावोंको प्राप्त करता है, अपने भावरूप परिवर्तित होता है और अपने भावरूप उत्पन्न होता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य——तीनों अवस्थाओंमें पुद्गलद्रव्य व्याप्त होकर कर्मकी अवस्थारूपसे परिणमित होता है। यहाँ पर चैतन्यके विकारी परिणामोंको भी जड़ कह दिया है। यहाँ अशुद्ध निश्चयनयरूप व्यवहारदृष्टिकी बात नहीं है, किन्तु द्रव्यदृष्टिकी बात है; दो द्रव्योंको बिलकुल पृथक् किया है। स्वपरको जाने सो चेतन, और न जाने सो अचेतन पुण्य-पाप समस्त रागादि भाव अचेतन हैं [illegible] नहीं होते और [illegible] नहीं [illegible]।

मिथ्यादृष्टि-मूढ़ जीव मानता है कि मैंने इसप्रकारसे जड़के कार्य किये हैं, कितने अच्छे कार्य किये हैं—ऐसा माननेवालेने अपने वीर्यको विपरीत कर दिया है। विपरीत माननेमें भी अनन्त वीर्य और सीधा माननेमें भी अनन्तवीर्य; जीव उल्टा पड़ा है तो भी बलवान है और सीधा खड़ा भी बलवान है, परन्तु भाई! विपरीत मान्यतामें अनन्तकाल हो गया, अनन्त जन्म-मरण कर चुका, अब यदि आत्महित करना हो तो यथार्थ प्रतीति कर ले।

वायुयान ऊपरसे नीचे गिरता है वह भी जड़की पर्याय है। जब वह वायुयान नीचे गिरना होता है तब किसीकी शक्ति नहीं जो उसे रोक सके। जड़की अवस्था जड़के परिणमनसे होती है; प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वतंत्र-भिन्न है; कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यके परिणमनको रोक नहीं सकता।

कोई कहे कि हमारे करनेसे काम अच्छा होता है, किन्तु वह उसका मात्र अभिमान है। अनेक स्त्रियां मोतियोंके तोरण-वन्दनवार बनाती हैं, सीने-पिरोनेका कार्य करती हैं, परन्तु वे ऐसा मानती हैं कि हम कितना सुन्दर काम करते हैं वह उनका मात्र अभिमान ही है। सिलाई-कढ़ाईका कार्य अच्छा होना हो तब वे कार्य करते हैं—ऐसा जीवको अनुकूल निमित्त होता है; परन्तु दूसरे कार्योंमें कुशल हो और ऐसे कामोंमें कुशल न हो—ऐसे जीवका निमित्त उस समय अनुकूलरूपसे उपस्थित नहीं होता। जो कार्य जैसे होना होते हैं उन्हें वैसे ही अनुकूल निमित्त प्राप्त होते हैं; परन्तु यदि वे सिलाई-कढ़ाई आदिके कार्य बिगड़ना हों तो स्त्रियोंकी शक्ति नहीं जो उन्हें सुधार दें; उनकी कोई भी चतुराई उस समय काम नहीं आयेगी। तीन काल और तीन लोकमें कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है।

वह कार्य यदि ठीक होना होता है तो उस समय अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं; तब फिर जो कार्य होना हो था उसमें स्त्रियोंने क्या किया? मात्र अभिमान किया है। किसी भी द्रव्यकी जब कोई अवस्था होना होती है अर्थात् क्षेत्रान्तर होना होता है, उसका

रूपान्तर होना होता है उस समय उसके अनुकूल निमित्तोंकी उपस्थिति होती ही है, व्यवहारसे भी उस परद्रव्यका कार्य कोई कर नहीं सकता परन्तु जब उसको अवस्था बदलना होती है उस समय ऐसे अनुकूल निमित्तोंकी उपस्थिति होती है अर्थात् मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध तो है ही नहीं। रजकणकी अवस्थाका जो क्रम है उसी क्रमानुसार द्रव्यमेंसे पर्याय परिणमित होती ही रहती है-प्रवाहित ही रहती है। उस समय जो निमित्त उपस्थित हो वह ऐसा मानता है कि यह कार्य मैंने किया है, वह अज्ञान है। किसी उपादान शक्तिको निमित्तने परिणमित कराया हो तो निमित्तको किसीने प्रवर्तित किया? इत्यादि परनिमित्ताधीन मान्यतामें तो अनन्त अनवस्था नामक बड़ा दोष आता है।

ज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मको ज्ञेयरूप जानता है; तथापि उनका कर्ता नहीं होता। ज्ञानी जीवका परद्रव्यके साथ व्यवहारसे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल द्रव्यकी प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्यरूप अवस्थामें पुद्गल ही व्याप्त होता है, उसके आदि-मध्य-अन्तमें भी पुद्गल ही व्याप्त रहता है। ज्ञानी उसे जानते हैं तथापि उसमें व्याप्त नहीं होते (कर्ता नहीं बन सकते) इसलिये उनका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। धर्मी जीव जड़की किसी भी अवस्थाको करते नहीं, परिवर्तित नहीं करते और उत्पन्न भी नहीं करते, इसलिये उनके कर्ताकर्मभाव नहीं है।

प्रत्येक पुद्गल परमाणु द्रव्यमें क्रियावती शक्ति है इसलिये-परमाणुका ऐसा स्वभाव है कि वह एक समयमें नीचे सातवें नरकके पातालसे सिद्धशिला तक चला जाता है। पुद्गल परमाणुमें ऐसी शक्ति सिद्ध है तो तथापि अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो गया है कि मैं उन्हें परिवर्तित करता हूँ; यह मात्र उसकी मिथ्या मान्यता है। एक आत्मा भी दूसरे आत्माकी अवस्थाको नहीं कर सकता, उसे परिवर्तित नहीं कर सकता, उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतः अपनेमें स्वतंत्र परिणमन कर रहा है। किसी भी समय परद्रव्यकी राह देखना

पड़े-परिवर्तन रुक जाय ऐसा नहीं है।

परवस्तुमें उसीकी स्वतंत्र योग्यतानुसार जो परिवर्तन होता रहता है ऐसा ज्ञान जानता है, किन्तु कर्ता नहीं होता। इस सिद्धान्तमें तो बड़े-बड़े पण्डित आचार्य नामवाले अज्ञानी भी चकचौंधिया हो गये कि यह कहते क्या है? अपने शरीरका कुछ नहीं किया जा सकता! दूसरोंका कुछ नहीं कर सकता! यह शरीर तो प्रयोगिक पुद्गल है, इसलिये उसे चैतन्य बदल सकता है—ऐसा माननेवालेकी बुद्धि जड़-स्थूल है कारण कि वे नय-विभाग द्वारा शास्त्रके अर्थको नहीं समझकर विपरीत ही मान बैठे हैं। जो न समझता हो उसे समझानेके लिये कौन समर्थ है? तीर्थङ्करदेव भी निमित्तमात्र हैं। जब स्वतः जागृत होकर स्वतंत्र विश्वनियमको समझे तब समझमें आ सकता है। प्रयोगसा और विस्रसाका अर्थ यह है कि मात्र पुद्गलपरमाणु हो उसे विस्रसा कहा जाता है और चैतन्यका निमित्त जिस पुद्गलमें हो उसे प्रयोगसा पुद्गल कहा जाता है—इससे ऐसा नहीं है कि जीव पुद्गलका कर्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता इस सिद्धान्तको अखण्ड रखकर सारी बात समझना चाहिये।

शरीरमें दायाँ-बायाँ फूल आता है, बुखार, उल्टी आदि अनेक प्रकारके रोग आते हैं; आत्मा उनका ज्ञाता है, किन्तु कर्ता नहीं है। यदि कर्ता होता तो वह फूलको बदल दे, बुखारको मिटा दे, उल्टीको शान्त कर दे; किन्तु वैसा नहीं होता। जब जिस रोगको दूर होना होता है तभी दूर होता है, इसलिये आत्मा उसका ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है।

निर्वर्त्यका अर्थ है उत्पन्न करना। जैसे सूतके धागे-धागेसे वस्त्रकी उत्पत्ति होना; उस धागे-धागेमें वास्तवमें उनसे वस्त्र उत्पन्न हुआ है किन्तु धागे-धागेसे जो वस्त्र बना है वह जीवके द्वारा नहीं हुआ है। यदि जीवने वस्त्रको उत्पन्न किया हो तो वह हाथ हिलाता न हो तब वह अपने हाथोंसे वस्त्र उत्पन्न कर दे? इसका तात्पर्य है

भावकर्म और शरीरादिरूप आत्मा नहीं हो सकता फिर भी उस परभावोंका कर्ता मैं हूँ ऐसा मानना अज्ञानीका मोह है।

ऐसा कर्ताकर्मका अधिकार अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इससमय इस भरतक्षेत्रमें जितने शास्त्र हैं, उनमें इस समयसारके अतिरिक्त कहीं भी ऐसा अधिकार नहीं है।

आचार्यदेव इस गाथामें यह बतलाते हैं कि तू अपनी अवस्थाको ग्रहण कर, उसमें परिणमन कर, और उत्पन्न हो। उसके अतिरिक्त तू अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। जड़का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं हो सकता; परन्तु वह मानता है कि मैं जड़का कर्ता हो सकता हूँ। अरे! दूसरी वस्तुएँ तो दूर रहीं, परन्तु कर्म और शरीर तो निकट हैं तथापि उसमें भी तेरा हाथ नहीं है; तू उनका भी कुछ नहीं कर सकता; वे भी स्वतंत्र हैं और तू भी स्वतंत्र है। कितने ही लोग कहते हैं कि शरीरका तो हम कर सकते हैं; तब ज्ञानी उनसे कहते हैं कि यदि तू शरीरका कर सकता है तो जब शरीरमें लकवा मार जाता है हाथ-पैरोंमें वाय हो जाती है या कोई फोड़ा हो जाता है तब हाथ-पाँव चलानेकी इच्छा होने पर भी क्यों नहीं चला सकता? यदि तू उनका कर्ता है तो उस समय उन्हें चला दे; किन्तु कैसे चलायेगा! परका कर्ता ही नहीं तथापि जगतके जीव मिथ्याभिमानमें चूर हो जाते हैं। देखो न कितने ही मनुष्योंको अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ होती हैं उन्हें मिटानेकी तीव्र इच्छा होती है परन्तु क्या करें? परद्रव्य कहां इनके वशमें है। अरे! एक मनुष्यका तो सारा शरीर जलता रहता था; उससे वह आर्तध्यान करके दुःखी होता था; निरन्तर उसके हाथ-पैर जमीन पर घिसते ही रहते थे; ऐसी स्थितिमें शरीरको अच्छा रखनेकी आत्माको तीव्र इच्छा होती है परन्तु परद्रव्य उसके अधिकारकी बात नहीं है इसलिये इच्छानुसार होता ही नहीं—इससे सिद्ध होता है कि आत्मा जड़का कर्ता नहीं है।

जीव ऐसा कहते हैं कि 'अजीवको जीव मानना मिथ्यात्व है' किन्तु शरीर और आत्माको जिसने एक माना है उसने अजीवको जीव

ही माना है; अजीवकी जितनी अवस्था है वह सब अजीवरूप ही है। जिसने यह माना कि अजीवकी एक भी अवस्था मुझसे हुई है उसने त्रिकालके अजीवकी अवस्थाको अपनेसे होना माना है; और जिसने अजीवकी एक भी अवस्थाको अपनेसे नहीं माना उसने त्रिकालकी अजीवकी अवस्थाको अपनेरूपसे नहीं माना। समस्त वस्तुएँ स्वतंत्र पृथक्-पृथक् हैं-ऐसा समझकर ज्ञानी जीव परका कर्ता नहीं होता। ७७।

अब शिष्य पूछता है कि पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले जीवके पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ?

शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो ! आत्मा कर्मके फलको जानता है, तो कर्मके फलको जाननेसे उस कर्मका फल आत्माका कार्य हो—ऐसा कुछ मेल है या नहीं ? ज्ञान जानता तो है कि यह शरीर सुन्दर है, यह निरोग है, यह रोगयुक्त है; यह स्त्री-पुत्रादिक परिवार अनुकूल या प्रतिकूल मिला, इतना पैसा मिला, इतना चला गया, मकान ऐसा है आदि पुद्गलकर्मके फलको जाननेसे वह पुद्गलकर्म आत्माका कार्य हो और आत्मा उसका कर्ता हो—ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नहीं ? इसका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं:—

णवि परिणमदि ण गिह्लदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मप्फलमणंतं ॥ ७८ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ॥ ७८ ॥

अर्थ:—ज्ञानी, पुद्गलकर्मके अनन्त फलको जानता है, तथापि परमार्थसे परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न भी नहीं होता।

धर्मी अर्थात् वीतरागका भक्त, वीतरागका दास। वह कर्मके अनन्त फलको जानता है परन्तु कर्ता नहीं होता। शरीरमें रोग आदि या नीरोग हो, ज्ञानी इत्यादि [illegible] है या नहीं,—यह सब

परिणमनरूप कर्म फलित हुआ है, उसमें आत्मा फलवान नहीं हुआ किन्तु पुद्गल फलवान हुआ है। शरीरमें चाहे जैसा रोग हो तो भी आत्मा उस रोगकी अवस्थारूप परिणमित नहीं होता, क्योंकि दोनों पदार्थ भिन्न हैं।

जैसे घड़ेमें मिट्टी व्याप्त होती है, किन्तु कुम्हार व्याप्त नहीं होता; वैसे ही जो बाह्यस्थित अनुकूलता और प्रतिकूलताके प्रसंग हैं उनमें ज्ञानी व्याप्त नही होता। अनुकूलता प्रतिकूलताके प्रसंग सुख-दुःख होनेके बाह्य कारण हैं, परन्तु वे राग-द्वेष नहीं करा देते; राग-द्वेष तो अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे होते हैं, परन्तु ज्ञानी उनमें भी एकत्व-बुद्धिसे व्याप्त नहीं होते; जो अल्प अस्थिरता होती है उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग पुद्गलकर्मका फल है और राग-द्वेष भी पुद्गलकर्मका फल है—दोनोंको एक ही साथ लिया है। एक ओर समस्त जड़का दल और दूसरी ओर समस्त शुद्ध चैतन्यका दल लिया है। पुद्गलकर्मके सुख-दुःखादिरूप कर्मफलको जानते हुए भी ज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते, उसरूप नहीं होते और उसरूप उत्पन्न नहीं होते।

कितने ही लोगोंको ऐसा लगता है कि ऐसी मँहगाई—अनाज महँगा, कपड़े महंगे, अन्य सभी वस्तुएँ महँगी हैं; इसलिये ऐसे समयमें तो कहीं दूसरी जगह जाकर रहें तो अच्छा हो—वैसा मानते हैं, परन्तु जिस क्षेत्रमें और जिस संयोगके द्वारा तेरे शरीरका पोषण होना हो वैसे ही होता है, उसमें कुछ करना तेरे हाथकी बात नहीं है। यहाँ न होऊँ और किसी अन्य स्थान पर होऊँ तो अच्छा हो ऐसे भाव जीव कर सकते हैं परन्तु भाई! जिस कर्मके फलरूप ग्रहण होना, परिवर्तित होना, और उत्पन्न होना होता है वह तेरे हाथकी बात है ही नहीं।

ज्ञानी जानते हैं कि जिसप्रकार शरीरकी पुष्टिके प्रसंग बनते हैं वह सभी कार्य जड़के हैं, मैं उनका कर्ता-हर्ता नहीं हूँ, मैं तो अपने ज्ञानस्वरूपका कर्ता हूँ—ऐसा ज्ञान होने पर परका अभिमान दूर हो जाता है और जितने प्रमाणमें स्वतः ज्ञाता हो जाता है उतने ही

प्रमाणमें राग-द्वेष भी रुक जाते हैं। ज्ञानी अनुकूलता और प्रतिकूलताके प्रसंगोंको जानते अवश्य हैं, किन्तु मैंने ऐसा किया इसलिये ऐसी अनुकूलता या प्रतिकूलता हुई—ऐसा नहीं मानते और उसमें दुःख-सुखकी कल्पना भी नहीं करते। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही हूँ, उस स्वभावके कार्यके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य मेरा है ही नहीं—ऐसा ज्ञानी मानते हैं इसलिये वे सदा सुखी हैं। ज्ञानीके जो अल्प हर्ष-शोक होता है वह परसंयोगके कारण नहीं होता, कर्मके कारण नहीं होता, अपने स्वभावके कारण नहीं होता किन्तु अपने पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण होता है—ऐसा ज्ञानी समझते हैं। अल्प हर्ष-शोकको यहाँ नहीं गिना है।

दुनियाँ कहती है कि समझदार व्यक्ति सदा सुखी! अनाज, पैसा इत्यादि वस्तुओंका संग्रह करें तो सुखी होते हैं, किन्तु भाई! यह सब तेरे हाथकी बात नहीं है। संग्रह किया हुआ पैसा अथवा अनाजादि रहेंगे या नहीं रहेंगे—इसका क्या भरोसा? तू उन वस्तुओंके संग्रहका राग कर सकता है, परन्तु जड़के कार्य कैसे होना चाहिये वह तेरे हाथकी बात नहीं है। आत्मा जड़का ग्रहण नहीं कर सकता और न उसे रख ही सकता है। मिथ्या मान्यतारूप अहङ्कार कर सकता है।

अनुकूल राज्यमें रहूँ तो धर्म हो—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु भाई! अनुकूल राज्य या प्रतिकूल राज्य कहीं आत्माके धर्मको नहीं रोकते। पुण्यका उदय हो तो अनुकूल राजा मिलता है और पापका उदय हो तो प्रतिकूल राजा मिलता है; परन्तु उससे कहीं आत्माका धर्म नहीं रुकता। यदि राजा अनुकूल हो तो धर्म कर सकें यह बात बिल्कुल मिथ्या है; अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे रुक सकता है और पुरुषार्थकी उग्रतासे आगे बढ़ता है, परन्तु अज्ञानी निमित्तका दोष बतलाते हैं कि मुझे निमित्तने आगे नहीं बढ़ने दिया।

अज्ञानी कहते हैं कि पूर्वमें जो पुण्य-पाप किये हैं उनका फल हमें मिल रहा है—ऐसा मानकर पुण्य-पापके फलमें हर्षी होते

हैं उन्हें स्वतंत्र आत्माकी खबर नहीं है। पुण्य-पापके फल अपने करनेसे मिलते हैं—ऐसा माननेवाले आत्माकी शान्तिका घात करनेवाले हैं। ज्ञानी तो जानता है कि पुण्य-पापके फल मेरे नहीं हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ मेरी शांति मुझमें है, परसे मुझे शांति नहीं है। जो भगवानका भक्त-दास है वह कर्मके फलको अपना नहीं मानता; जीवका स्वभाव ज्ञाता होनेसे ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं।

इसप्रकार शिष्यने तीन प्रकारसे पूछा था—एक तो, कर्मकी जो-जो अवस्था होती हैं उसे आत्मा जाने तो उससे उसके साथ कुछ कर्ता-कर्मका मेल होता है? दूसरे, अपने परिणामोंको जाननेसे आत्माका परके साथ कुछ कर्ता-कर्मका मेल है? और तीसरे बोलमें, कर्मके फलको जाननेसे आत्मा परका करे—ऐसा कोई सम्बन्ध है? इन तीन प्रश्नोंके उत्तर आचार्यदेवने दिये हैं। अब शिष्य चौथा प्रश्न करता है।

शिष्य कहता है कि प्रभो! यह शरीर अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्वको नहीं जानता—ऐसे पुद्गलका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? प्रभो! ज्ञाता तो कदाचित् जानकर पृथक् रह सकता है परन्तु जिसे कुछ भी खबर नहीं है—ऐसे पुद्गल द्रव्यका, जो कि आत्माको नहीं जानता, उसके कार्यको नहीं जानता; अपने कार्यको नहीं जानता और अपने फलको नहीं जानता, आत्माके साथ कुछ कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नहीं?

तीन गाथाओंमें यह बात आ गई है कि चैतन्य-पदार्थ कर्ता हो और जड़की अवस्था उसका कार्य हो-ऐसा कभी होता ही नहीं। जो वस्तु परिणमित हो वह कर्ता, और उसमें जो कार्य हो वह कर्म। आत्मा स्वतः अपने स्वभावका कर्ता है और अपना स्वभाव ही उसका कार्य है।

अब, चौथी गाथामें पूछता है कि जो जीवके परिणामोंको, अपने परिणामोंको और अपने परिणामोंके फलको नहीं जानता है—ऐसे पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

अर्थः- इसप्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह अपनेही भावोंसे (-भावोंरूप) परिणमन करता है।

जड़द्रव्य भी जीवद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमित नहीं होता। जड़ जो पुद्गलद्रव्य है वह चैतन्यको धर्म कराये, मोक्ष कराये,—इसप्रकार वह चैतन्यद्रव्यकी पर्यायको ग्रहण नहीं करता; उसरूप परिणमित नहीं होता और न उसरूप उत्पन्न होता है। जीव कर्मसे भिन्न है, इसलिये वह कर्मकी अवस्थाको नहीं करता और जड़कर्म आत्माको राग-द्वेष नहीं कराते।

प्रश्नः—अरे! आप कहते हो कि कर्म आत्माका कुछ कर नहीं सकते, परन्तु वे आत्माको हैरान तो करते हैं? केवलज्ञानीके भी चार अघाति कर्म हैं, इससे कर्म उन्हें भी शरीरमें रोक रखते हैं—उसका क्या अर्थ है?

उत्तरः—ऐसा कहनेवाला वीतरागके मार्गसे बाहर है। क्या किया जावे! जो स्वतः नहीं समझे उसे कौन समझा सकता है? अरे भाई! केवली तो अपने शरीरमें अपने योगगुण तथा अन्य गुणके अशुद्ध परिणमनके कारण रह रहे हैं। [illegible] औदयिक भाव गुणोंमें होता है। अतः योग, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], क्रियावतीशक्ति, [illegible], [illegible], अव्याबाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व [illegible] गुणकी अशुद्धिके कारण रह रहे हैं, किन्तु अघाति कर्मोंके कारणसे नहीं। कर्मोंको कारण कहना वह तो व्यवहारनयके कथन हैं [illegible] ऐसा नहीं है।

[illegible] अपने [illegible] गुणकी [illegible] कारण [illegible] हैं [illegible] मिथ्यादृष्टि भी स्वतः राग-द्वेष

और भ्रांति करता है उस अपनी योग्यताके कारणसे हैरान होता है, किन्तु जडकर्म आत्माको राग-द्वेष नहीं कराते, हैरान भी नहीं करते।

कोई भी परवस्तु कभी भी आत्माकी अवस्थामें परिणमित नहीं होती, उत्पन्न नहीं होती। कर्ममें तो नई-नई अवस्था होती है वह अपने कारणसे ही होती हैं, आत्माके कारण नहीं होती। आत्मामें जो नवीन अवस्था होती है वह आत्माके कारण होती है किन्तु कर्मके कारण नहीं होती। दोनों द्रव्य स्वतंत्र भिन्न हैं।

जीवोंको भ्रम हो गया है कि कर्म हमें हैरान करते हैं, किन्तु भाई! कर्म कभी हैरान करते होंगे? यह बेचारे जड़ हैं, इन्हें यह भी खबर नहीं है कि हम कौन हैं! इन कर्मोंको, शरीरादि किसीको यह खबर नहीं है कि हम कौन हैं, किस रङ्गमें परिणमित हुए हैं, फिर वे बेचारे तुम्हें कैसे हैरान कर सकते हैं? तुम वहाँ रुके इससे उनने तुम्हें स्पर्श किया और उसमें तुम मान बैठे कि कर्म हमें हैरान करते हैं। कर्म आत्माको न तो कोई लाभ ही करते हैं और न हानि भी पहुँचा सकते हैं, जब स्वतः राग-द्वेष करे तब कर्मोंको निमित्त कहा जाता है, व्यवहार कहा जाता है।

जैसे मिट्टी स्वतः घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अंतमें व्याप्त होकर घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेरूपमें परिणमित होती है, और घड़ेरूप उत्पन्न होती है; वैसे ही जो जीवके परिणामोंको अपने परिणामोंको और अपने परिणामोंके फलको न जाननेवाला पुद्गल द्रव्य है वह स्वतः परद्रव्यके परिणामोंमें अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य, अन्तमें व्याप्त होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और न उत्पन्न ही होता है।

मिट्टीमेंसे घड़ेकी जो अवस्था क्रमशः प्रगट होती है, वह अवस्था मिट्टीने ग्रहण की है, मिट्टी उसरूप हुई है और उसरूप उत्पन्न हुई है। आत्मामें जो अवस्थाएँ होती हैं उन्हें नहीं जानता और अपनी अवस्थाको भी नहीं जानता, तथा फल देकर गिरनेकी अपनी अवस्थाको

नहीं जानता—ऐसा जो कर्म है वह आत्माकी अवस्थाको ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उत्पन्न भी नहीं होता।

आत्माका अपूर्व भान होकर जो अवस्था परसे भिन्न स्वतःमें ही रहती है वह अवस्था कर्मने ग्रहण नहीं की है—पकड़ी नहीं है, कर्म उसरूप हुआ नहीं है और न उत्पन्न हुआ है।

पुद्गलद्रव्य स्वतः अपनी पर्यायको ग्रहण करता है—पकड़ता है—प्राप्त होता है, उसरूप होता है, उत्पन्न होता है। पुद्गलद्रव्य स्वतः अपनेमें प्रसरित होकर अपनी पर्यायके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें भी स्वतः ही उसे ग्रहण करता है—उसरूप होता और उत्पन्न होता है; इसलिये पुद्गलद्रव्यका जीवद्रव्यके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। जीवोंने शास्त्रमें यह सुना कि कर्म है वहाँ तक हुआ और कुतर्क खड़ा किया कि कर्म मुझे हैरान करते हैं, परन्तु भाई! आठ कर्मोंकी जो सूक्ष्म रज है वह आत्माके भावको पकड़कर नहीं रखती। कोई कहे कि दर्शनमोह दूर होता है तब आत्माके गुण प्रगट होते हैं—इसप्रकार जो परसे गुणकी पर्यायका प्रगट होना मानता है वह महामूढ़ है। जब स्वतः आत्माका भान करता है तो कर्म अपने आप हट जाते हैं, जब स्वतः पुरुषार्थ करता है तब सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रगट होती है और कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं, वस्तुका स्वभाव ऐसा पराधीन नहीं है कि जब दर्शन-मोह दूर हो जायेगा तब सम्यग्दर्शन प्रगट होगा।

कोई यह कहे कि पुद्गल द्रव्य तो जड़ है, इसलिये वह नहीं जानता कि जीवके साथ उसका कर्ताकर्मपना है या नहीं? इसका [illegible] पर-द्रव्योंके [illegible] किन्तु जो अज्ञान है [illegible]

दूसरे द्रव्यकी अवस्था करे—ऐसा तीन काल और तीन लोकमें भी नहीं हुआ है, होता नहीं है और न होगा ही। द्रव्य तो किसीका कार्य नहीं करता किन्तु पर्याय भी नहीं करती—यह अखण्ड सिद्धान्त है। जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी बात आती हो वहाँ इस बातको अखण्ड रखकर उस बातको समझना चाहिये।

कोई कहे कि कर्मकी प्रबलता हो तो राग-द्वेष होता है या नहीं? भाई! बिल्कुल मिथ्या बात है। अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे स्वतः विभावमें युक्त होता है इससे राग-द्वेष होता है। कर्म रंचमात्र राग-द्वेष नहीं कराता, कर्म राग-द्वेष कराते हैं—यह बात जैनसिद्धांतमें कहीं पर है ही नहीं।

पुनश्च कोई कहे कि निकाचित कर्मबन्ध किया हो तब तो भोगना ही पड़ता है न? किन्तु भाई! जितनी मात्रामें कर्म बांधे हो उतनी ही मात्रामें सीधा पुरुपार्थ करे तो निकाचित कर्म भी दूर हो जाते हैं। अपना पुरुपार्थ जितना मन्द हो उतना ही कार्य रुकता है, न कि कर्मोंके बलसे कार्य रुकता है। कर्मके बलसे कार्य रुकता है-ऐसी बात तीन काल और तीन लोकमें कहीं है ही नहीं; यह बात सम्यक् एकान्तरूपसे सत्य है।

कोई व्यक्ति कहता था कि आत्मा परमाणुको नहीं हिला सकता परन्तु स्कन्धको हिला सकता है क्योंकि वस्तुस्वभाव स्याद्वाद है। अरे भाई! तूने स्याद्वादका ऐसा अर्थ ग्रहण किया है? स्याद्वाद किसे कहते हैं? स्याद्वाद तो वस्तुस्वरूपका रहस्य है; श्री समयसारके ४८८ पृष्ठ पर शक्तियोंका विस्तार आता है, उसमें कहा है कि—एक वस्तुमें वस्तुत्व (वस्तुपना) को प्रसिद्ध करनेवाली अस्ति, नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। आत्मा, आत्मारूप है और पररूप नहीं है—ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ एक साथ एक द्रव्यमें है, उसे अनेकान्त कहा जाता है, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है।

आत्मा स्वतः अपना कर सकता है किन्तु दूसरे आत्माका कुछ नहीं कर सकता; जड़का कुछ नहीं कर सकता। जड़, जड़का कर सकता है, प्रत्येक परमाणु स्वतः अपना कर सकता है किन्तु आत्माका कुछ नहीं कर सकता और दूसरे परमाणुका भी वह कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, आत्मा अपना कर सकता है परन्तु दूसरे आत्मा या परमाणुका अथवा स्कन्धका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा अस्ति-नास्ति स्वभाव वस्तुमें है, इसीका नाम अनेकान्त है। वस्तुको वस्तु-रूपसे स्थिर रखनेवाली दो विरुद्ध शक्तियोंका नाम अनेकान्त है।

आत्मा, आत्माके भावोंका कर्ता है और जड़के भावोंका भी कर्ता है—ऐसा मानना तो एकान्त हुआ, परन्तु दो विरुद्ध शक्तियाँ नहीं हुईं क्योंकि दोनों बातोंमें अस्ति आई, दोनोंमें मिथ्या एकत्व करना ही आया, इसलिये वह एकान्त हुआ।

आत्मा, आत्माका करता है और परका कुछ भी नहीं करता यह सम्यक् अनेकान्त है; जड़, जड़का कर्ता है और आत्माका कुछ नहीं करता वह भी सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा, आत्मारूप है और पररूप भी है—ऐसा माने तो एकान्त है; दो द्रव्योंको मान्यतामें एक किया इसलिये वह एकान्तदृष्टि है। दोनोंमें 'है' ऐसा माना है इससे अस्ति आई किन्तु नास्ति नहीं आई, विरुद्ध धर्म नहीं आया, अस्ति-नास्ति दोनों गुण नहीं हुए इससे एकान्त हुआ। इसीप्रकार जड़, जड़-रूपसे है और आत्मारूपसे भी है—ऐसा मानना भी एकान्तदृष्टि है। इसके दो अस्ति-नास्ति गुण भिन्न हैं और आत्माके भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येकके अस्ति-नास्ति दो गुण स्वतंत्र भिन्न हैं, ऐसे गुणोंको स्वतंत्र-रूपसे समझना सो अनेकान्त है। [illegible] स्या-द्वाद है, अनेकान्त [illegible]
[illegible]

सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा समझता है कि अरे ! मैं कौन हूँ ? मैं तो "ज्ञानघन" हूँ, फिर मैं किसको छोड़ूँगा, किसको ग्रहण करूँगा ? मैं अपनी ज्ञानस्वरूप चेतनाके अतिरिक्त किसीको नहीं कर सकता, किसीका ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। मैं तो अपने अनन्त गुणस्वरूप आत्माका स्वामी हूँ, मैं परका स्वामी होता ही नहीं इसलिये मैं परद्रव्यका अथवा राग-द्वेषादि परभावोंका कर्ता नहीं हूँ--ऐसी पहिचान सम्यग्ज्ञानी जीवको होती है। सम्यग्ज्ञान हुआ अर्थात् वह भगवानका भक्त होता है। पहले परके स्वामित्वसे अज्ञान अवस्थामें जितनी अधिकतासे राग-द्वेष होते थे वे अब सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात् नहीं होते, परन्तु अपने पुरुषार्थकी मन्दताके कारण अल्प राग-द्वेष होते हैं वे रहनेके भावमें नहीं किन्तु नष्ट करनेके भावमें रहे हैं इससे उन्हें गिनतीमें नहीं लिया है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मुझे परके कारण राग-द्वेष होते हैं; इसने मुझे ऐसे कठोर शब्द कहे, प्रतिकूलता की इससे मुझे द्वेष हुआ और इस घरके मनुष्य बहुत अनुकूल हैं, बच्चे बहुत आज्ञाकारी, विनयशील हैं इस कारण मुझे इन पर राग आता है; इसप्रकार राग-द्वेष होनेका कारणपना वह परके ऊपर डालता है अथवा उसे अपना स्वभाव मानकर राग-द्वेष करता है। अज्ञानी और ज्ञानीकी दृष्टिमें एकदम अन्तर होता है। ज्ञानी अभी पूर्ण वीतराग न हुआ हो और गृहस्थाश्रममें हो तो उसके भी अल्प राग-द्वेष होता है तथापि वह ऐसा समझता है कि यह राग-द्वेष मुझे किसी परपदार्थके कारण नहीं होता, अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगोंके कारण नहीं होता, और वह रागद्वेषको अपना स्वभाव भी नहीं मानता किन्तु ऐसा समझता है कि मेरे पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण ही मुझे राग-द्वेषादि भाव होते हैं अन्य कोई भी कारण नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें उदय-अस्त जितना अन्तर होता है। जो परका दोष बताये, उसका राग-द्वेष कब दूर होता है ? परन्तु जो स्वतः की भूलको देखता है उस ज्ञानीके स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ द्वारा राग-द्वेषरूपी दोष दूर हो जाता

है। जैसे प्रकाश करनेसे अन्धेरा हटाना नहीं पड़ता—स्वयं उत्पन्न होते नहीं ॥ ७९ ॥

आत्माके परिणामोंका और पुद्गलके परिणामोंका अन्योन्य निमित्तमात्रपना है, तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है; निमित्तमें निमित्तकी क्रिया परिपूर्ण होती है और आत्मा राग-द्वेष करे वह अपनी पर्यायमें पूरा पूरा करता है, किन्तु उस राग-द्वेषमें कुछ भाग आत्माका और कुछ जड़का, इसप्रकार दोनोंका थोड़ा-थोड़ा भाग मिलकर राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष होनेमें आत्मा भी भाग लेता है और जड़ भी भाग लेता है—ऐसा नहीं है। आत्माका शतप्रतिशत आत्मामें और कर्मरूप निमित्तका शतप्रतिशत निमित्तमें है। आत्माके साथ परकर्मके संयोगरूप अन्य वस्तु है, तथापि कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, मात्र एक दूसरेका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है—ऐसा निम्नोक्त गाथाओंमें कहते है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ ८० ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि ॥ ८१ ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८२ ॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥ ८० ॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८१ ॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ८२ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवको अपने ही परिणामोंके साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव है—ऐसा अब कहते हैं:—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा स्वात्मानम् ॥ ८३ ॥

अर्थ:—निश्चयनयका ऐसा मत है कि आत्मा स्वतःको ही करता है और फिर स्वतःको ही भोगता है; हे शिष्य! तू ऐसा जान।

निश्चयनय अर्थात् सच्ची दृष्टिका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा अपने राग-द्वेष, हर्ष-शोकके भावोंको करता है और भोगता है, परन्तु शरीर-दूध-दही आदिको नहीं भोग सकता—जड़को नहीं भोग सकता—ऐसा हे शिष्य तू जान। यहां 'जानने' पर भार दिया है। मैं परका कर्ता-भोक्ता हूँ ऐसा मानना अज्ञानी जीवोंका भ्रम है।

हर्ष-शोकादिके शुभाशुभभावोंको स्वतः करता है, कर्म नहीं करा देते। कोई कहे कि तृष्णा कम करनेका भाव हमारे पुण्यमें होगा तो तृष्णा कम होगी, यह बात बिलकुल मिथ्या है। वर्तमानमें पुरुषार्थ करके तृष्णा कम कर सकता है। तृष्णाको घटाना पुण्यके आधारसे नहीं है किन्तु अपने ही आधार पर है। जिनके स्वतः को पैसा रखनेकी ममता लगी हो और एक पैसा भी न छूट सकता हो वे ऐसी पुण्यकी ओट लेकर बचाव करते हैं, जो कंजूसका पुतला हो वह कर्मका दोष निकालता है; तथापि जब घरमें स्त्रीको सिंगारनेका भाव होता है उस समय कर्मका दोष क्यों नहीं निकालता? परन्तु जो वह मांगे उसे जल्दी जाकर रुचि पूर्वक लाता है; क्योंकि वहां पर उसे रुचि है और देव-गुरु-शास्त्रमें रुचि नहीं है इससे पुण्यकी ओट लेता है। जिनके देव-गुरु-शास्त्रकी रुचि है, भक्ति है वे उनकी शोभामें वृद्धि करनेके लिये अपनी तृष्णा घटानेको उत्साहित हो जाते हैं। अशुभपरिणामोंसे शुभपरिणाम करना अपने हाथकी बात है।

कितने ही लोग कहते हैं कि जब सत्समागम होना होगा तब हमें शुभविकल्प आयेगा, परन्तु भाई! वैसा नहीं है। सत्समागम अपनेको शुभविकल्प नहीं ला देता क्योंकि दोनों द्रव्य स्वतंत्र-भिन्न हैं। स्वतः पुरुषार्थके द्वारा अशुभपरिणामोंमेंसे शुभपरिणाम कर सकता है। विनय, भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, सत्समागमके शुभपरिणाम जब स्वतः पुरुषार्थ करता है तब होते हैं, जब स्वतः सत्समागमकी जिज्ञासा करे तब पुण्योदयसे सत्समागमकी प्राप्ति होती है। या तो पूर्वके उदयसे प्राप्ति होती है या वर्तमानमें स्वतः सत्समागमके भाव किये इससे पुण्यबंध होता है अर्थात् तू इसलिये भाव कर जिससे सत्समागमकी प्राप्ति हो; भावोंका और पुण्योदयका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इससे शुभभाव करना तेरे हाथकी बात है; पूर्व कर्म शुभभाव नहीं करा देते।

अनेक जीव मार्गको जाने बिना मिथ्याध्यानमें लीन रहते हैं और फिर कहते हैं कि हमारे शुभकर्मका उदय हो तब शुभपरिणाम आते हैं और जब अशुभकर्मका उदय हो उस समय अशुभपरिणाम आते हैं परन्तु यह बात बिल्कुल मिथ्या है। अशुभपरिणाम भी अपने विपरीत पुरुषार्थसे होते हैं और शुभपरिणाम भी, यदि अशुभमेंसे शुभपरिणामोंमें आनेका पुरुषार्थ स्वतः करे तब होते हैं।

ज्ञानी शुभाशुभ परिणामोंका कर्ता नहीं, किन्तु मात्र ज्ञाता है; तथापि अशुभपरिणामोंसे बचनेके लिये पुरुषार्थ द्वारा शुभपरिणामोंमें रहता है, इससे पर्यायदृष्टिसे उसे शुभपरिणामोंका कर्ता भी कहा जाता है। कर्तृत्वबुद्धि नहीं—स्वामित्वबुद्धि नहीं है, तथापि अस्थिरताके कारण अशुभपरिणामोंसे बचनेके लिये शुभपरिणामोंमें वीर्य युक्त होता है इससे परिणमन अपेक्षा दृष्टिसे अस्थिरताका कर्ता ज्ञानीको कहा जाता है। बाह्यमें व्यापार-धन्धा, मकान बनवाना, मन्दिर स्थापित करना-इत्यादि कार्यों सम्बन्धी विकल्प ज्ञानीको आते हैं इससे असद्भूत व्यवहारनयसे उसे उन सभी कार्योंका कर्ता कहा जाता है, तथापि द्रव्यदृष्टिसे ज्ञानी उनका कर्ता नहीं है; जो-जो विकल्प उठते हैं और कार्य होते हैं उनका

मात्र ज्ञाता ही है। श्रद्धा और ज्ञानका परिणमन अकर्ताभावसे होता ही रहता है।

ज्ञानीको अस्थिरताका कर्ता कहना और जड़का कर्ता कहना इन दोनोंमें अन्तर है, क्योंकि अस्थिरता तो चैतन्यकी पर्यायमें होती है इससे वह तो किसी अपेक्षासे चैतन्यकी की हुई कही जा सकती है परन्तु जड़का कर्ता कहना तो बिल्कुल उपचार है। असत्यार्थ है।

कितने ही मनुष्य कहते है कि पूर्व संस्कार हो तो धर्म कर सकते हैं; तो पूर्व भवमें भी धर्मका प्रारम्भ करनेवाला तो तू ही था न? और वर्तमानमें पूर्व संस्कारोंको याद करनेवाला भी तू ही है न? इससे सिद्ध हुआ कि पुरुषार्थ करनेवाला जब पुरुषार्थ करता है तो वर्तमानमें ही करता है, पुरुषार्थ वर्तमानमें ही होता है। पूर्व संस्कारोंको प्रगट करनेवाला वर्तमान नये पुरुषार्थसे ही उन संस्कारोंको प्रगट करके आत्माकी शुद्ध निर्मल पर्यायको प्रगट करता है।

यह नासमझ तो सभी जगह पूर्व-पूर्व ही ले बैठा है। धर्मकी बातमें भी यदि पूर्व संस्कार हों तो धर्म होता है, और शुभपरिणामोंमें भी अगर पूर्वका पुण्य हो तो शुभपरिणाम होते हैं—इसप्रकार पुरुषार्थका आलसी सभी जगह पूर्व-पूर्व लेकर बैठा है। किन्तु भाई! धर्म, पुण्य और पाप जो भी होते हैं वे सब तेरे पुरुषार्थसे ही होते हैं, कर्म बलात् नहीं करा देते।

वीतराग देव कहते हैं कि हे शिष्य! तू परवस्तुको नहीं भोग सकता परन्तु परवस्तुकी ओरके रागको भोगता है अथवा तो परवस्तुकी ओरके द्वेषको भोगता है। कोई कहे कि हम मिष्टान्न और फलादि खा सकते हैं। सुन भाई! क्या तेरे आत्मामें मिष्टान्न और फल घुस गये हैं? यदि वे आत्मामें प्रवेश कर गये हों और आत्मा उनमें एकमेक हो गया हो तो आत्माने मिष्टान और फल खाये हैं—ऐसा कहा जाये, परन्तु आत्मामें तो वे प्रवेश करते नहीं हैं, वे तो मुँहसे पेटमें जाते हैं और पेटसे विष्टारूपमें बाहर निकल जाते हैं, फिर इसमें

निर्मल पर्यायका कर्ता आत्मा है और मोक्षको निर्मल पर्याय हुई वह आत्माका कार्य है।

आत्माने जब स्वतः राग-द्वेषके भाव किये तब कर्मका सम्भव कहलाया और स्वतः जब राग-द्वेषको दूर किया तब कर्मका असम्भव कहलाया। भगवान आत्मा स्वतः ही अपनेको भूलकर संसारभाव करता है और स्वयं ही अपनेको जानकर संसारभावोंको दूर करके निःसंसारभाव करता है, इसलिये आत्मा स्वयंको—एकको ही करता हुआ प्रतिभासित हुआ, किन्तु अन्यको करता प्रतिभासित नहीं हुआ।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई। तू ऐसा समझ कि अपने भावोंका कर्ता मैं हूँ—ऐसा मुझे प्रतिभासित हुआ है किन्तु कर्मने मेरे भाव किये हैं—वैसा मुझे प्रतिभासित नहीं हुआ है; मैं स्वतः ही अपने भावोंको अनुकूल-प्रतिकूल करता हूँ, ऐसा ही मुझे प्रतिभासित हुआ है परन्तु कर्म मुझे अनुकूलता-प्रतिकूलता कराते हैं यह प्रतिभासित नहीं हुआ है।

यहाँ पर आचार्यदेव कहते हैं कि तू ऐसा समझ कि मैं पृथक् हूँ, यदि ऐसा नहीं समझा तो निवृत्त नहीं हो सकेगा। तेरे ही हाथमें संसार है और तेरे ही हाथमें मोक्ष है; संसार अथवा मोक्ष तेरे हटानेसे हटते हैं और तेरे ही स्थित रखनेसे रहते हैं, उसमें कर्म-फर्म कुछ भी नहीं कर सकते।

अन्ध श्रद्धासे हाँ मत कहना, किसीकी हाँ में हाँ मिलानेसे वह हाँ स्थिर नहीं रहती इसलिये यथार्थ समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। अरे! यदि एक यही बात पकड़ ले कि अपने अवगुणों और गुणोंका कर्ता मैं ही हूँ तो भी कितनी ही अकुलाहट दूर हो जाये। जैसे आत्मा परका कर्ता नहीं है उसीप्रकार परका भोक्ता भी नहीं है—अब कहते हैं।

जैसे कर्ता नहीं है, उसीप्रकार यह जीव भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन करना अशक्य होनेसे, अपनेको संसार अथवा मोक्षरूप अनुभव करता हुआ अपना-एकका ही

अनुभवन करता हुआ प्रतिभासित हुआ, परन्तु अन्यका अनुभवन करता प्रतिभासित नहीं हुआ।

तू भावक और जड़की अवस्था तुझे भाव्य हो अर्थात् भोगनेमें आये-ऐसा नहीं होता, क्योंकि परके द्वारा परका भोगना अशक्य है अर्थात् नहीं बन सकता। इसमें सारी बात आ गई कि खाना-पीना, कपड़े, रहने इत्यादिको भोगना—परवस्तुसे परवस्तुका उपभोग कराना कभी बन ही नहीं सकता। संसार-अवस्थामें जीव राग-द्वेष, हर्ष-शोक, विकारी विभाव भावोंका भोगता है और मोक्षदशामें अपनी पवित्र, निर्मल वीतरागताको भोगता है—ऐसा अनुभवन करता हुआ अपना-एकका ही अनुभव करता प्रतिभासित हुआ परन्तु अन्यका अनुभव करता प्रतिभासित नहीं हुआ।

आत्मा शुभभावोंको करता है और उन्हें भोगता है; आत्मा जड़कर्मोंको न तो कर सकता है और न भोग ही सकता है। जड़-कर्म आत्मासे भिन्न वस्तु है इसलिये आत्मा न तो उनका कर्ता है और न भोक्ता ही।

जब राग-द्वेष और हर्ष-शोक हो उस समय बाह्य वस्तु अर्थात् कर्म निमित्त होते हैं; इससे ऐसा कहना कि कर्मोंको भोगता हूँ—बाह्य वस्तुको भोगता हूँ वह व्यवहारी लोगोंका व्यवहार है।

छींक अपने लेनेसे नहीं आती, जम्हाई अपने करनेसे नहीं होता, जम्हाई खानेकी शक्ति चैतन्यमें नहीं है। छींक, खांसी या आलस्य आना, वह अनन्त रजकणोंके पिण्डकी पर्याय है। खांसी आये या आलस्य आये उस समय जीवकी मात्र उपस्थिति होती है किन्तु वह क्रिया रजकणकी होती है; रजकण खांसीरूपमें और आलस्यादिके रूपमें परिणमित होते हैं उस समय जीवकी मात्र उपस्थिति होती है इससे उसे ऐसा लगता है कि मैंने आलस्य खाया है, मुझे खांसी आई है; किन्तु भाई! वह तो रजकणकी क्रिया है, वह क्रिया तेरी नहीं है। कोई कहेगा कि मुर्देको खांसी या जम्हाई क्यों नहीं आती? तो उसका समाधान यह है कि उसके पास कर्म नहीं हैं। जो छींक-जम्हाई आती

थीं वह शरीरके रजकणके स्वतंत्र कारणसे आती थीं परन्तु कर्मका उनमें निमित्तपना था; वह निमित्तपना भी गया और शरीरके रजकणोंकी योग्यता भी उस समय वैसी नहीं रही ॥ ८३ ॥

चैतन्य भगवान अरूपी वस्तु है वह अपने अज्ञानभावसे राग-द्वेषके भावोंको भोगता है किन्तु राग-द्वेषके निमित्तको भोगता है-ऐसा व्यवहारनयका कथन है। अब, व्यवहार दर्शाते हैं:—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥ ८४ ॥

अर्थः—व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंको करता है और फिर उन्हीं कर्मोंको भोगता है।

अनादिके अज्ञानियोंका यह प्रसिद्ध व्यवहार है कि जड़की क्रिया होनेमें और जड़के उपभोगमें जीव स्वतः है, इससे स्वतः ही उसका कर्ता-भोक्ता है। पराश्रयदृष्टिवालोंका ऐसा मत है कि पुद्गल-कर्मको और बाह्य परवस्तुको मैं करता हूँ तथा मैं भोगता हूँ; किन्तु वैसी दृष्टि सत्यकी हत्या करनेवाली है। आत्मा विकारी या अविकारी भावोंको भले ही करे किन्तु उससे जड़का कुछ करे या भोगे—ऐसा नहीं हो सकता। गादी-तकिया लगा हो, ऊपरसे पंखा फिर रहा हो, उस समय कहते हैं कि गादी-तकिया और पंखाका उपभोग हो रहा है; किन्तु उन्हें कोई नहीं भोग सकता, मात्र अपने राग-द्वेषको भोगते हैं। जैसे पंखेमें चार पांखड़े होते हैं वैसे ही चार गतिरूप चार पांखड़े हैं। उन चार गतियोंमें भटकनेका वह आनन्द मानता है।

जैसे, मिट्टी स्वतः घड़ेके अन्तरमें प्रवेश करके घड़ेकी रचना करती है, उसे उत्पन्न करती है, बनाती है और भाव्यभावक भावसे मिट्टी ही घड़ेका उपभोग करती है। कुम्हार न तो घड़ेको बनाता है और न उसका उपभोग ही करता है। जैसे मिट्टी रूप धूल उसमें प्रवेश

करके—व्याप्त होकर घड़ारूप उत्पन्न होती है, वैसे ही कुम्हार कहीं घड़ारूप होकर उत्पन्न नहीं होता। जब घड़ेकी रंगत एक सी नहीं रहती तब कहते हैं कि घड़ा घिस गया है, अर्थात् मिट्टीके रजकण नये-पुराने होते हैं इससे ऐसी अवस्था होती है, नयेमेंसे जो पुरानी अवस्था होती है वह मिट्टीकी ही है और घड़ेमें हो वह अवस्था होती है अर्थात् मिट्टी ही घड़ेको भोगती है; तथापि बाह्यमें कुम्हार घड़ेके होनेमें अनुकूल था; मिट्टीके रजकणोंमें कुम्हारके हाथ प्रवेश नहीं कर गये थे। हाथके स्वभावसे-गुणोंसे घड़ा नहीं हुआ है किन्तु मिट्टीके गुणोंसे घड़ा हुआ है। कुम्हारका निमित्त है इससे कुम्हारने घड़ा बनाया है—ऐसा अनादिके अज्ञानका प्रसिद्ध व्यवहार है। अज्ञानीको ऐसा हो गया है कि कुम्हार हो तो घड़ा हो सकता है। हां, कुम्हार घड़ा बनानेकी इच्छा करता है और हस्तादिकी क्रिया करता है वह कुम्हारमें अपनेमें ही होती है; यहां पर कुम्हारका शरीर और आत्मा सबको एकत्रित करके बात की है क्योंकि यहां तो दृष्टान्त जितनी बात है, कुम्हारको मिट्टीके घड़ेसे पृथक् करनेका ही प्रयोजन है, कुम्हारके शरीरकी और आत्माकी बात यहां नहीं लेना है। कुम्हारके आत्माने घड़ा बनानेकी इच्छा की और प्रदेशका कम्पन हुआ उसका वह कर्ता है, इच्छानुकूल हस्तादिकी क्रिया हुई वह कुम्हारके आधारसे हुई किंतु मिट्टीके आधारसे नहीं हुई। इसप्रकार कुम्हार और मिट्टी दोनों भिन्न हैं—ऐसा इस गाथामें बतलाया है।

घड़ा होनेमें अनुकूल इच्छारूप क्रिया और हाथके चलनेकी क्रिया कुम्हारमें स्वतःमें होती है; निमित्तकी अवस्था निमित्तमें होती है और मिट्टीकी अवस्था मिट्टीमें होती है, घड़ेके संभवको अर्थात् होनेको अनुकूल वह निमित्तमात्र है किन्तु उसका कर्ता कुम्हार नहीं है। जब घड़ा बनना हो उस समय कुम्हारकी उपस्थिति होती है वह उसे अनुकूल निमित्त कहलाता है, और जब घड़ा फूटनेकी अवस्था उसके अपने कारणसे होना होती है तब कोई पत्थर आदि निमित्त समीप हों वे घड़ा फूटनेके अनुकूल हैं।

आचार्यदेव कुम्हारका दृष्टान्त देकर कहते हैं कि हे भाई! तू परका स्वामी मत हो! तू कुम्हार मत बन, किन्तु स्वतंत्र हो! वैसा स्वतंत्र होना कहते हैं। यदि तु परका कर्ता हुआ तो तेरी अवस्थाका कर्ता भी कोई अन्य हुआ और वे अन्यका कर्ता तीसरा कोई हुआ इससे तू पराश्रित हुआ और अन्य सब पराश्रित हुआ क्योंकि जब तू परकी अवस्था करता है तो फिर तेरी अवस्था भी कोई दूसरा करेगा, दूसरे की क्रिया कोई तीसरा करेगा, इसलिये परका कर्तृत्व छोड़ दे और स्वतंत्र हो जा! समस्त वस्तुएँ सदा स्वतंत्र ही हैं।

कुम्हार, घड़ेके सम्भवको अनुकूल अपने व्यापारको करता हुआ और मिट्टीके व्यापारको न करके, घड़े द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे उत्पन्न हुई अपनी तृप्तिको भाव्यभावक भाव द्वारा भोगता है परन्तु घड़ेको नहीं भोगता। घड़ेमें भरे हुए पानीके उपयोगसे अपनी तृप्तिको भोगता है, तथापि कुम्हार घड़ेको भोगता है, घड़ेका कर्ता है-ऐसा रूढ़ि-व्यवहार कथन लोगोंका अनादिसे है। निमित्तकी मुख्यतासे कथन होते हैं परन्तु कार्य कभी नहीं होते, कार्य तो स्वतंत्र कर्ताके आश्रयसे होते हैं; यह त्रिकाल नियम है।

घड़ा तो मिट्टीने ही किया है परन्तु उसमें कुम्हारके हस्तादिकी क्रिया अनुकूल निमित्तरूप हुई वहाँ लोगोंकी निमित्ताधीन दृष्टि होनेसे, कुम्हारने घड़ा बनाया—ऐसा कथन रूढ़ि-व्यवहार अनादिसे चला आ रहा है। पुनश्च, घड़ेको तो मिट्टी ही भोगती है परन्तु घड़ेके द्वारा कुम्हारने पानी पीनेके तृप्ति भावका उपभोग किया वहाँ निमित्ताधीन दृष्टिवाले अज्ञानियोंका व्यवहार ऐसा हो गया कि कुम्हारने घड़ेका उपभोग किया ऐसा रूढ़ि-व्यवहार चला आ रहा है।

जब अज्ञानी जीव असाध्य हो जाता है उस समय उसके मुँहमें कोई भी खानेकी अच्छी वस्तु डालो तो भी वह असाध्य होनेसे-उसे कुछ भी खबर न होनेसे तृप्ति नहीं होती, परन्तु यदि स्वस्थ मनुष्यके मुँहमें वह वस्तु डालें तो उसे तृप्ति होती है। उसे होश था इसलिये [illegible] तृप्ति हुई वैसा जाना। तृप्ति होने-न होनेमें ज्ञानको खबर हो

तो रागसे संतुष्ट होता है, किन्तु किसी अन्य वस्तुसे सन्तुष्ट होता है—ऐसा नहीं है। उसीप्रकार कुम्हार भी अपने रागसे सन्तुष्ट हुआ है किन्तु घड़ेके ठण्डे पानीसे उसे सन्तोष नहीं हुआ है।

इसप्रकार पुद्‌गलद्रव्य स्वतः व्याप्यव्यापकभावसे कर्मको करता है, और वही कर्मको भोगता है, अर्थात् पुद्‌गल द्रव्य स्वतः कर्मरूप परिणमित हुआ, वह उसका कर्तृत्व है और पुद्‌गल कर्म उदयमें आकर खिर जाता है वह उसका भोक्तृत्व है; तथापि बाह्यमें व्याप्यव्यापकभावसे अज्ञानके कारण पुद्‌गलकर्मके सम्भवको अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामोंको करता हुआ और पुद्‌गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई जो विषयोंकी निकटता है उससे उत्पन्न हुई (अपनी) सुख-दुःखरूप परिणतिका भाव्यभावकभाव द्वारा अनुभवन करता-उपभोग करता हुआ जीव पुद्‌गलकर्मोंको करता है और भोगता है—ऐसा व्यवहार अज्ञानियोंका अनादि संसारसे है।

कोई भी आत्मा अज्ञानभावके कारण भी पुद्‌गलद्रव्यमें व्याप्त नहीं हो सकता किन्तु पुद्‌गल द्रव्य मेरी वस्तु है—ऐसी परवस्तुमें अपनेपनकी बुद्धिरूप विपरीत मान्यता स्वयं करता है सो व्यापक और जो राग-द्वेषकी अवस्था हुई वह व्याप्य है। अज्ञान परके ग्रहणका भाव व्यापक है और उसके कारणसे होनेवाली राग-द्वेषकी अवस्था व्याप्य है। ज्ञानीके स्वकी पकड़ है इसलिये उसमेंसे निर्मल पर्यायरूप व्याप्य प्रगट होता है।

पुद्‌गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई विषयोंकी जो निकटता है उससे उत्पन्न हुई सुख-दुःखरूप परिणति भोगता हुआ अर्थात् इसमें ऐसा है कि पुद्‌गलकर्म द्वारा बाह्य सामग्री एकत्रित हुई वह विषयोंकी निकटता हुई; धन, कुटुम्बादि अनुकूल सामग्रीका संयोग हुआ। उससे मुझे सुख-दुःख होता है ऐसा मानता है इसलिये विषयोंसे उत्पन्न हुई सुख-दुःखरूप परिणति-ऐसा यहाँ कहा है। अज्ञानीको बाह्य अनुकूल वस्तुएँ देखकर कल्पना होती है कि यह वस्तु ठीक है, यह अच्छा है इससे मुझे सुख होता है, और अपनी इच्छासे विरुद्ध बाह्य वस्तु देखकर

ऐसी कल्पना करता है कि यह मुझे ठीक नहीं है, इससे मुझे दुःख होता है। परन्तु भाई! यह तो कर्मका फल है, वह कर्मका फल कर्ममें रहा है, तुझमें नहीं है। यह सुख-दुःख कर्मके फलमेंसे नहीं आता किन्तु अपनी अज्ञानताके कारण तू ऐसी कल्पना करके, सुख-दुःख बाह्य वस्तुमेंसे आता है, ऐसा मानकर, सुख-दुःखका वेदन करता है।

कर्मके फलके कारण बाह्य शरीर, कुटुम्बादि सामग्री एकत्रित हुई है, उसे आचार्यदेवने 'विषयोंकी निकटता' कहा है। उन विषयोंकी निकटतासे मुझे सुख-दुःख होता है ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तवमें तो अज्ञानी अपनी भाव्यभावकभावकी अवस्थाको ही भोगता है और करता है, तथापि उसकी दृष्टि बाह्य होनेसे अनादि अज्ञानियोंका रूढ़ि-व्यवहार है कि जड़की अवस्था हम करते हैं।

आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे हैं कि जड़की-परकी अवस्थाको हम करते हैं—ऐसा मानने और कहनेवाले इसी समय ही हैं—ऐसा नहीं है, किन्तु अनादिकालसे हैं; अज्ञानियोंका अनादि संसारमें परिभ्रमण करनेके भावसे निमित्तको कर्ता माननेका निश्चित् हुआ व्यवहार है; यह व्यवहार निमित्ताधीनदृष्टिका है।

आठ प्रकारके कर्मोंके रजकणोंको करना अथवा टालना आत्माके हाथकी बात नहीं है किन्तु अपने रागको दूर करनेसे कर्म उनके अपने कारणसे दूर हो जाते हैं। दोनोंके कार्य स्वतंत्र भिन्न-भिन्न हैं। यह बात कहकर यहाँ यह कहते हैं कि तू अपने भावोंको देखना सीख; तूने जैसे विपरीत भाव किये हैं वैसे ही सीधे भाव कर। दुनियामें कहावत भी है कि इस हाथसे बांधा और इस हाथसे छोड़ता है—ऐसा उसका अर्थ है। दुनियामें भी कितने ही वास्तविक बोलते हैं किन्तु उन्हें उसके अर्थकी खबर न होनेसे मात्र बोलते ही जाते हैं। धर्मके बहाने आपने आप धर्म किया मानते हैं।

जीव रागादि करता है जिससे पुद्गलकर्मका बन्ध हो और राग करते समय पुद्गलकर्मकी उपस्थिति होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे देखकर अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि

व पुद्गलकर्मको करता और भोगता है; किन्तु वास्तवमें जीव गलकर्मको करता और भोगता नहीं है परन्तु अपने राग-द्वेषको ही ता और भोगता है। यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें स्थिरता तो कर्म टल जाते हैं।

कितने ही जीव कहते हैं कि कर्मके साथ सम्बन्ध अनादिसे ता आ रहा है, उसे कैसे तोड़ा जा सकता है? किन्तु परमात्म-काशमें कहा है कि कर्म अनादिके बन्धुरूप हैं उन्हें मुनिजन जला कर स्म कर देते हैं। जिन्हें आत्माका हित करना हो उन्हें कर्म सम्बन्धको ड़कर आत्माका भान करके, उसमें लीन होकर कर्मोंका क्षय करना ाहिये। ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है।

जड़की और आत्माकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न ही हैं, परन्तु जहाँ क भेदज्ञान न हो वहाँ तक बाहरसे एक समान ही दिखाई देती हैं। ज्ञानीको भान न होनेसे उसे जैसा ऊपरसे दिखाई देता है वैसा ही ान लेता है। वास्तवमें प्रत्येक पदार्थकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है तथापि ाह्यसे निमित्तकी उपस्थिति होती है उसे कर्ता और भोक्ता मान लेता ; स्वतंत्र वस्तुस्थितिको भूलकर स्थूल संयोगमात्रको देखनेवाली ाह्यदृष्टिसे अर्थात् मिथ्यादृष्टिसे जैसा दिखाई दे वैसा ही मान लेता है, से श्रीगुरु भेदज्ञान कराके अज्ञानीके इस प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं।

जीवोंने बाह्यमें धर्म मान लिया है किन्तु "धर्म वाडीअेन ीपजे, धर्म हाटे न वेचाय, धर्म विवेक नीपजे, जो करीअे तो थाय" लोग यह पद कहते हैं, उसमें भी ऐसा आया कि धर्म सम्यग्ज्ञान द्वारा विवेकसे प्रगट होता है, बाह्य क्रियाओंसे धर्म नहीं होता। विवेक अर्थात् परसे पृथक्त्वका यथार्थ ज्ञान; देव-गुरु-शास्त्रसे, कर्मसे, मनसे, वाणीसे, शरीरसे और शुभाशुभपरिणामोंसे अन्य सर्व जीवोंसे आत्माका पृथक्-पनेका भान; विवेक अर्थात् परपदार्थ और मेरा आत्मा त्रिकाल भिन्न है, मेरा और परपदार्थोंका त्रिकालमें मेल नहीं है। ऐसा जानकर ज्ञान-स्वरूप आत्माका निर्णय कर स्वसन्मुख होना उसका नाम विवेक है, ऐसे विवेक द्वारा धर्म प्रगट होता है।

आचार्यदेव अज्ञानीके प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं, उस व्यवहारका फल चौरासीमें परिभ्रमण करना है। श्रीगुरु भेदज्ञान कराके, जीवका स्वरूप बतलाकर अज्ञानीके अभिप्रायको दोष देते हैं। ८४।

अब इस व्यवहारको दोष देते हैं:—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥ ८५ ॥

अर्थ:—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करे और उसीको भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओंसे अभिन्न सिद्ध हो—ऐसा प्रसंग आता है—जोकि जिनेन्द्र भगवानसे सम्मत नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई सुन! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव, परमात्मस्वरूपको प्राप्त देवाधिदेवका ऐसा मत है कि दो द्रव्योंकी क्रियाको एक आत्मा नहीं करता। दो द्रव्योंकी क्रियाको करनेका अभिप्राय वीतरागके मार्गसे बाहर है। आत्मा अपने भावको करे और जड़को अवस्थाको भी करे तो वह एक आत्मा दो क्रियाओंसे एकमेक हो गया है।

कोई मनुष्य ऐसा कहे कि मैं परद्रव्यका कर सकता हूँ, तब उससे पूछते हैं कि जब तू शरीरादि जड़की अवस्थाको कर सकता है और भोग सकता है तो तेरी अवस्थामें तेरा हाथ है या नहीं? क्या तेरी अवस्था निराश्रित पड़ी है? तू अवस्थासे रहित है? यदि तू परद्रव्यकी अवस्थाको करता है तो परद्रव्य तुझमें तन्मयरूप हो जाना चाहिये; यदि तू और जड़ एकमेक नहीं होते तो फिर तू जड़-शरीरादिका कुछ भी नहीं कर सकता। और यदि तू अपनी वैभाविक या स्वाभाविक परन्तु चैतन्यकी ही अवस्थाका कर्ता होता है तो परद्रव्यकी अवस्थाका किसी प्रकार कर्ता न हो क्योंकि एकद्रव्य एक ही क्रियाका कर्ता होता है परन्तु कोई द्रव्य इस जगतमें दो क्रियाओंका कर्ता हो ही नहीं सकता। आत्मा अपनी अवस्था करे और परकी अवस्थाको भी करे तो वह दो

क्रियाओंसे अभिन्न हुआ वह बात वीतरागदेवके मान्य नहीं है किन्तु अज्ञानीको मान्य है। जिन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ है, राग-द्वेषका सर्वथा नाश हो गया है, जड़-चैतन्यका परिपूर्ण स्वरूप जिनके ज्ञानमें प्रत्यक्ष-रूपसे ज्ञात हुआ है-ऐसे सर्वज्ञ वीतरागदेवको वह बात मान्य नहीं है।

प्रथम तो, जगतमें जो क्रियाएँ हैं वे सब परिणामस्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं हैं। जगतमें जो कोई भी शब्द बोला जाता है वह किसीका भाव तो होता ही है, या तो उस शब्द जैसी वस्तु होती है, या वस्तुका गुण होता है, अथवा किसी वस्तुकी अवस्था होती है। वैसे ही जो क्रिया है वह वस्तु, गुण और अवस्थामेंसे क्या है? वस्तुकी अवस्था ही है, परिणामस्वरूप है। अवस्था कोई भ्रम नहीं है किन्तु वह किसी वस्तुका परिणाम है—भाव है इसलिये क्रिया द्रव्यसे भिन्न नहीं हो सकती। जैसे खरगोशके सींग नहीं होते वैसे ही वस्तुमें क्रिया नहीं होती—ऐसा नहीं है परन्तु क्रिया परिणाम-स्वरूप होनेसे वस्तुकी अवस्था ही है।

परिणाम भी परिणामीसे (द्रव्यसे) भिन्न नहीं हैं, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं; पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं। जिसमेंसे अवस्था होती है उससे वह वस्तु भिन्न नहीं होती। सोना और सोनेके आभूषण क्या भिन्न होते हैं? नहीं होते। सोनेमेंसे अँगूठीकी अवस्था हुई, परन्तु अँगूठीरूप अवस्था कहीं रह जाये और स्वर्ण कहीं चला जाये—ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता। अँगूठी-रूप अवस्था स्वर्णरूप वस्तुमेंसे ही हुई है इसलिये स्वर्ण और उसकी अवस्था—दोनों पृथक् नहीं होते, किन्तु परिणाम-परिणामी अभेद ही होते हैं।

कोई कहे कि अँगूठी तो सुनारने बनाई है, परन्तु सुनारने अँगूठी नहीं बनाई है मात्र उसे बनानेकी इच्छा ही सुनारने की है। इच्छाका कर्ता सुनार है परन्तु अँगूठीका कर्ता नहीं है, उसका तो मात्र निमित्त है, उसने अँगूठी नहीं बनाई है। अँगूठीका कर्ता स्वर्ण है; स्वर्णमेंसे ही अँगूठी हुई है। इसप्रकार जो अवस्था चैतन्यकी हो वह

चैतन्यद्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण उसका कर्ता चैतन्य है, और जो अवस्था जड़की हो वह जड़द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण उसका कर्ता जड़ है; इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि जो भी क्रियाएँ हैं वे क्रियावानसे अर्थात् द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। जड़की क्रिया जड़ क्रियावानसे भिन्न नहीं है और चैतन्यकी क्रिया चैतन्य क्रियावानसे पृथक् नहीं है। सारे विश्वमें, त्रिकालमें वस्तुस्थितिको ऐसी मर्यादा होनेसे क्रिया और कर्ताका अभिन्नत्व निरन्तर प्रतापवन्त होता है, अर्थात् निरन्तर गुणका परिणमनरूप वर्तती क्रियाका द्रव्यमें कभी भी भङ्ग नहीं पड़ता; त्रिकाली वस्तुके बिना उसकी वर्तमान अवस्था नहीं होती और वर्तमान अवस्थासे रहित वस्तु नहीं हो सकती। निमित्त न मिले तो वस्तुका परिणमन प्रवाह रुक जाये ऐसा नहीं है।

आत्मा अपने भावको भी करता है और जड़की क्रियाको भी करता है—यह अभिप्राय अज्ञान है, यह बात यहाँ कहते हैं।

क्रिया और कर्ताका अभिन्नत्व सदा स्व-सामर्थ्यसे, प्रतापवन्त होनेसे, जीव व्याप्य-व्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्य-भावकभावसे उसीका अनुभवन-उपभोग करता है।

आत्मा व्यापक है और अवस्था व्याप्य है। जैसे अपने राग-द्वेष भावको आत्मा करता है उसीप्रकार पुद्गल कर्ममें व्याप्त होकर पुद्गल-कर्मको करे और भाव्यभावक भावसे पुद्गलके हर्ष-शोकको भोगे तो जीवको अपनी और परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नत्व-का प्रसंग आये। इसप्रकार यदि दोनोकी एकता हो तो स्व-परका पृथक्पना, स्वतंत्रपना नाश हो जाता है, जड़-चैतन्यके पृथक्-सत्ताका नाश होता है। इसप्रकार आत्मा और समस्त जड़द्रव्य एक हैं-ऐसा माननेवाले महा मिथ्यादृष्टि हैं, वे त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवानके मतसे अलग हैं।

आत्मा शुभाशुभभाव करता है और जड़की क्रिया भी करता है—इसप्रकार जो एक आत्माको दो क्रियाओंको करना और भोगना मानते हैं वे सर्वज्ञके मतसे बाहर हैं। जैसा कोई उच्चकुल और उच्चजातिका

मनुष्य हो और उसका पुत्र शराब पीता हो, मांस भक्षण करता हो या दुराचार करता हो तो उसका पिता उससे कहता है कि तू मेरा लड़का नहीं भङ्गीकी औलाद है; वैसे ही यहाँ पर वीतरागदेव कहते हैं कि मैं शुभाशुभभाव करता हूँ; शरीरादि जड़की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा माननेवाला जैन नहीं है, हमारी आज्ञामें नही है, हमारे मार्गमे नहीं है किन्तु अधर्मके मार्गमें है।

थैलेके अन्दर चिरायता भरा हो, और ऊपर मिश्रीका नाम पड़ा हो तो कहीं चिरायता मिश्री हो जाता है ? वैसे ही वस्तुका जो स्वभाव है वैसा न मानकर अन्य प्रकारसे माने तो क्या वस्तुस्वभाव बदल जायेगा ? वस्तु तो वस्तुरूप रहेगी लेकिन मिथ्या अभिप्रायसे वह दुःखी होगा। आत्मा ज्ञानमूर्ति है-स्व-परको सर्व प्रकार स्वतंत्र पृथक् जाननेके स्वभाववाला है उसे भूलकर वह औंधा पड़ा हुआ अपने अज्ञानभावको करता है और सीधा पड़ा हुआ अपने ज्ञानभावको करता है परन्तु उसका स्वामित्व किसी भी परवस्तु ऊपर है ही नहीं। राग-द्वेष करता हूँ, हर्ष-शोकको भोगता हूँ और जड़को भी करता हूँ—भोगता हूँ—ऐसा माननेवाला दो पदार्थोका कर्ता-भोक्ता हुआ; उसने असत्य-झूठका सेवन किया।

मैं परका नहीं कर सकता परन्तु स्वयं ही अपना ही कर सकता हूँ—ऐसा माननेवालेने अपनेको अनन्त पर आत्मा और अनन्त जड़से पृथक् किया, पुनश्च, मैं उनका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा माननेसे उसका अनन्त कषाय दूर हो गया जिससे अनन्त जन्म-मरण दूर हो गये, त्रिकालकी विपरीत दृष्टि हट गई और अनन्तगुनी निर्मल स्वभाव पर्याय प्रगट हुई। अन्य पदार्थकी अवस्थाको मैं अच्छा-बुरा कर सकता हूँ, वैसा माननेवाला त्रिकालके अनन्त पदार्थोका अभिमानी है, उसके अनन्त जन्म-मरण शेष हैं; जगतका मैं कर दूं-वैसा माननेवाला महामूढ़ है। दो बातें हैं—या तो त्रिकालके पदार्थोका स्वामी हो जाये अथवा अपने स्वपदार्थका ही स्वामी बन जाये, परन्तु दो द्रव्योंकी पर्यायको एक द्रव्य करता है—ऐसा माननेवाला महा अज्ञानी, महा

है; यह तीनों वस्तुरूपसे भिन्न नहीं हैं।

जो होनेवाला है वह कर्ता है, वस्तु परिवर्तित होते-होते होनेवालेका जो कार्य होता है वह कर्म है, और होनेवालेकी जो क्रिया है सो परिणति है। जो स्वतंत्ररूपसे करे वह कर्ता है; प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूपसे परिवर्तित होता है परिवर्तित होनेवाला स्वतंत्र है।

जब नवीन जड़कर्म बँधते हैं उस समय रागी जीवका राग निमित्त है, किन्तु जो ऐसा माने कि मैंने जड़कर्मको किया है वह मिथ्यादृष्टि है; निमित्त कहीं उपादानके आश्रित होकर उपस्थित नहीं होता। कर्म बँधते हैं उसमें कौन परिवर्तित होता है? कर्म या आत्मा? उसमें कर्म ही परिवर्तित होते हैं आत्मा परिवर्तित नहीं होता; इसलिये जो जिससे परिवर्तित होता है वही उसको करेगा कि दूसरा कोई? जो द्रव्य परिवर्तित होता है वही अपने परिणामोंका कर्ता है, अन्य कोई नहीं।

परिवर्तित होनेवालेका जो कार्य हुआ वह कर्म है, और अवस्थान्तर होनेमें जो क्रिया हुई वह परिणति है। प्रत्येक रजकण पृथक् है। एक रजकणको लेकर दूसरा रजकण परिवर्तित होता है—वैसा त्रिकालमें नहीं है; स्कन्धमें भी सभी रजकण पृथक्-पृथक् परिणमित होते हैं।

पवनके रजकणोंमें पानी होनेकी योग्यता होना हो तो होती है, उसे दूसरा कोई कर दे वैसा नहीं है। दो प्रकारकी पवन एकत्रित होकर पानी बनता है—ऐसा नहीं है; यह तो मात्र निमित्त बना, किन्तु वास्तवमें तो उन रजकणोंमें उस समय पानीरूप होनेकी योग्यता ही थी।

पानीका जो एक बिन्दु दिखाई देता है वह अनन्त रजकणोंका पिण्ड है; उन प्रत्येक रजकणोंका परिणमन पृथक्-पृथक् है।

जड़की अवस्था जड़से परिवर्तित होती है और आत्माकी अवस्था आत्मासे। विकारी अवस्थाका कर्ता तो आत्मा अज्ञानभावसे है किन्तु जड़का कर्ता किसी भी प्रकार नहीं है, द्रव्यदृष्टिसे और पर्याय-

दृष्टिसे स्वतंत्रता ही है इतना स्वीकार करे तो आंगनमें (व्यवहार-शुद्धिमें) आया है, जो पुण्यपरिणामके भाव हैं। वास्तवमें तो वस्तु-दृष्टिसे विकारी परिणामका कर्ता-भोक्ता जीव नहीं है। पुण्य-परिणामोंसे भी अपना स्वरूप पृथक् है—ऐसे स्वरूपका भान करे और उसमें स्थिर हो तो शुद्धता और निर्जरा है और उसने अन्तरङ्गमें शुद्धात्मघरमें प्रवेश किया है।

आत्मा नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है और बदलनेरूप कार्य है वह क्रिया है तथा परिवर्तित होकर जो कार्य आया सो कर्म है।

वस्तुदृष्टिसे परिणाम और परिणामी अभेद हैं; शरीरकी अवस्था और शरीर दोनों एक हैं, पुद्गल और पुद्गलकी अवस्था दोनों एक हैं, राग-द्वेषकी अवस्था और आत्मा दोनों अज्ञानभावसे एक हैं परन्तु सम्यक्भावसे एक नहीं हैं। यहाँ तो यह दर्शाया है कि जड़का कर्ता नहीं है परन्तु वास्तवमें तो विकारी भावोंका भी कर्ता नहीं है। किन्तु अपने ज्ञानभावका कर्ता और स्व-परप्रकाशक ज्ञातारूप आत्मा है।

अवस्थायी और अवस्था-दोनों द्रव्यदृष्टिसे एक हैं और पर्याय-दृष्टिसे दोनोंमें भेद है। कर्ता-कर्म और क्रिया तीनों भेददृष्टिसे कहे गये हैं।

जैसे चन्दनकी लकड़ी सुगन्धित है, चौड़ाई वाली है, भारी है; वैसे ही भङ्गदृष्टिसे कहा जाये तो द्रव्य और पर्याय लक्षणादि भेदसे पृथक् हैं तथापि वस्तुदृष्टिसे अभेद हैं। सुगन्ध और लकड़ी दोनों एक हैं-अभेद हैं—उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। परिणाम और परिणामी दोनों अभेद हैं। इस शरीरकी अवस्था शरीरसे पृथक् नहीं है, शरीर और उसकी अवस्था-दोनों एक है। आत्माकी अवस्था और शरीरकी अवस्था-दोनों कभी भी किसी प्रकार भी एकमेक नहीं हुई हैं। अज्ञानी दोनोंकी खिचड़ी बनाकर मानता है कि जड़को मैं ऐसा करता हूँ-वैसा करता हूँ, व्यवहारसे तो परका कर सकता हूँ, किन्तु परका कोई नहीं कर सकता; अपने ही विपरीत भावोंका ग्रहण करता

है और उन्हें त्यागता है, किन्तु परका ग्रहण और त्याग त्रिकालमें नहीं है।

परिणाम और परिणामी अभेद हैं। गुड़ और मिठास अभेद हैं, उनमें क्षेत्रभेद नहीं है—प्रदेशभेद नहीं है; चन्दनकी लकड़ी और उसकी सुगन्धमें प्रदेशभेद नहीं है। प्रत्येक वस्तु, उसका परिणाम, और परिणतिमें प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु स्वतः कर्ता, परिवर्तित हुई वह परिणति और परिवर्तनमें जो कार्य आया वह पर्याय—उन तीनोंमें क्षेत्रभेद-प्रदेशभेद नहीं है। वैसे ही शरीरकी क्रियाके साथ शरीरका प्रदेशभेद नहीं है, और आत्माकी क्रियाके साथ आत्माको प्रदेशभेद नहीं है। आत्मामें जो रागको कम करनेका भाव हुआ वह आत्मामें, और अशुभभाव हुआ वह आत्मामें; आत्माका भान करके स्थिर हुआ सो आत्मामें और जो शुभाशुभ कर्मबन्ध पुद्गल द्रव्यमें हुआ वह पुद्गल द्रव्यमें—इसप्रकार दोनों द्रव्य पृथक् हैं; दोनों द्रव्योंके कर्ता, क्रिया और कर्म पृथक् हैं।

कर्ता-कर्मका अधिकार चल रहा है; कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तुका कर्ता नहीं है। कर्ताकर्म अधिकारकी ७६ गाथाओंकी सर्वोत्तम रचना आचार्यदेवने की है, उनमें कर्ताकर्मको अत्यन्त विस्तृत किया है और तीनकाल तीनलोककी वस्तुस्थितिको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है, इतना स्पष्ट है तब लोगोंके ध्यानमें बड़ी कठिनाईसे बैठता है।

यह निश्चित् हुआ कि परका कर्ता नहीं है अर्थात् स्वतःको अपने ही भावका कर्तापना रहा।

कोई कहे कि तुम्हीं तो बोलते हो और तुम्हीं कहते हो कि बोला नहीं जा सकता। यह तो मनुष्योंको ऐसा लगता है कि यह बोलता है, परन्तु आत्मा बोल ही नहीं सकता, एक 'हाँ' भी आत्मा नहीं कर सकता; जो बोला जाता है वह सब पुद्गलकी पर्याय है; उसका कर्ता पुद्गल ही है। पुद्गलमें शब्दरूप परिणमित होनेकी योग्यता हो तब आत्मा उपस्थित होता है और कर्मका निमित्त भी उपस्थित होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका मेल हो जाता है।

[illegible] है वह भी पुद्गलको पर्याय है, वह आत्मासे नहीं निकलती। जो वाणी उसके अपने कारणसे निकलती है उस वाणीको पर अभिमान करता है कि मैं वाणी बोलता हूँ। अज्ञानीको ऐसा लगता है कि जब मैं इच्छा करता हूँ तब वाणी बोली जाती है किन्तु ऐसा नियम नहीं है कि इच्छा हो और वाणी निकले। इसके चार भङ्ग हैं—इच्छा हो और वाणी निकले, इच्छा हो और न निकले, इच्छा न हो और निकले, इच्छा न हो, और न निकले। इच्छा हो और वाणीका उदय हो इससे बोली जाती है, वाणी वाणीके कारणसे निकलती है, तथापि इच्छाके समय वाणीका उदय हो तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है यह पहला भङ्ग। बोलनेकी इच्छा हो परन्तु लकवा लग जाय तो भी नहीं बोली जा सकती; इच्छा हो किन्तु वाणीका अनुकूल उदय न हो तो नहीं निकलती—यह दूसरा भङ्ग हुआ। केवलज्ञानीको तेरहवें गुणस्थानमें इच्छा न हो और वाणीका उदय हो तो ध्वनि खिरती है—यह तीसरा भङ्ग है, कोई मूक केवली होता है उसके इच्छा भी नहीं होती और वाणी भी नहीं होती; केवलज्ञान हो जाये परन्तु वाणी नहीं खिरती। इसप्रकार चार भङ्ग हुए। दोनों द्रव्य पृथक् परिणमित होते हैं, इसलिये आत्मा वाणी बोलता ही नहीं है। सबके कर्ताकर्म स्वतः अपने-अपनेमें ही हैं। पुनः कहते हैं:—

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ५२ ॥

अर्थः—वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है, एकके ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्थाएँ एककी ही होती हैं) और एककी ही परिणति क्रिया होती है; कारण कि अनेक दशारूप होने पर भी वस्तु अपने गुण-पर्यायोंसे अभेद-एक ही है, भेद नहीं हैं।

वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है वह सम्पूर्ण सिद्धान्त है। जो परिणाम होते हैं वे एकके ही होते हैं, एक अवस्थासे दूसरी अवस्था होती है वह एककी ही होती है; आत्मामें अनेक अवस्थाएँ होने पर भी भेद नहीं है अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया-तीनों पृथक् नहीं हैं एक ही वस्तुके हैं; आत्माके कर्ता-कर्म-क्रिया आत्मामें हैं और जड़के जड़में हैं।

एक आत्मामें अनन्तगुण हैं, एक परमाणुमें भी अनन्तगुण हैं। उन अनन्त गुणोंमें प्रतिसमय जो अवस्था होती है उसे परिणाम कहते हैं। वस्तु और परिणाममें नामभेद, लक्षणभेद है किन्तु वस्तु-भेद नहीं है। जैसे गुड़ और मिठासमें लक्षणभेद और संज्ञाभेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है।

उसीप्रकार शरीर और उसकी अवस्था भिन्न नहीं है। पुद्गल, पुद्गलके गुण और उसकी अवस्थामें नामभेद, लक्षणभेद है परन्तु वस्तुभेद नहीं है—प्रदेशभेद नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वमें एकमेक है किन्तु अन्य वस्तुसे एकमेक नहीं होती, सबके परिणाम पृथक्-पृथक् होते हैं। वस्तुमें कर्ता-क्रिया और कर्म होते हैं—उनमें लक्षणभेद है, नामभेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है। अनेक परिणाम होने पर भी वस्तु एक है, उसमें भेद नहीं है।

जैसे स्वर्णरूप वस्तु और उसके पीलापन, चिकनाहट आदि गुण तथा कंगन, कुण्डल आदि उसकी पर्यायें—उन तीनोंमें नामभेद, संख्याभेद और लक्षणभेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है। जो अवस्थाका और गुणोंका क्षेत्र है वही वस्तुका क्षेत्र है। वैसे ही आत्मामें जानना, मानना और स्थिर होना आदि अनन्तगुण हैं और उनका धारण करनेवाला गुणी एक है। इसप्रकार वस्तु अपने अनन्तगुणसे अनन्त और वस्तुसे एक—इसप्रकार संख्याभेद है, परन्तु वस्तुभेद नहीं है, क्षेत्रभेद नहीं है। गुण कहीं रहे और द्रव्य कहीं रहे—ऐसा नहीं है; इससे वस्तुभेद नहीं है। यदि द्रव्य और गुण पृथक् हों तो जो पृथक् हो वह पृथक् हो सकता है किन्तु जो अभेदरूपसे एकत्र हो वह भिन्न नहीं

हो सकता। आत्मा और गुण—इसप्रकार नाम पृथक् हैं, वह नामभेदसे भेद है। अनन्त गुणोंका पिण्ड द्रव्यका लक्षण है और प्रत्येक गुणका, जानना-मानना-स्थिर होना इत्यादि पृथक्-पृथक् कार्य है। इसप्रकार गुण और द्रव्यमें लक्षणभेदसे भेद है। द्रव्यका प्रयोजन गुणोंके कार्योंको धारण कर रखना है और गुणोंका प्रयोजन अपने-अपने स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करना है। द्रव्यका प्रयोजन प्रत्येक गुण और उसकी अवस्थाको धारण कर रखना है और अवस्थाका प्रयोजन प्रतिक्षण अनुभव कराना है।

प्रत्येक वस्तु और वस्तुकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्था-उसमें लक्षणादि भेद है, तथापि वस्तुमें भेद नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक आत्मा, परमाणु, कालाणु, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—इन सभी पदार्थोंमें वस्तु और अवस्थाके नामभेद और लक्षण भेदादि हैं किन्तु वस्तुभेदसे भेद नहीं है।

जिस भावसे संसार है उससे विपरीत भावसे मोक्ष है। सांसारिक विद्या पढ़नेके लिये पाठशालामें मास्टरके पास जाना पड़ता है वैसे ही मोक्षमार्गका स्वरूप समझनेके लिये, संसारका अभाव करनेके लिये गुरुके पास अभ्यास करने जाना पड़ता है। सांसारिक विद्या उदर-पोषणके लिये है और आत्माकी विद्या मोक्ष-प्राप्तिके लिये है; संसार और मोक्ष—दोनोंके विपरीत भाव हैं। जिस भावसे संसार फलता है उस भावसे कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती और आत्माके शुद्ध स्वभावसे मोक्ष फलता है, उससे संसार नहीं फलता किन्तु संसारका नाश ही होता है।

पुनश्च कहते हैं कि:—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायते ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥

अर्थः—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्योंका एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्योंकी एक परिणति-क्रिया नहीं होती, क्योंकि अनेक द्रव्य अनेक ही है, वे पलटकर एक नहीं हो जाते।

आत्माकी अवस्था आत्मामें होती है और जड़की अवस्था जड़में होती है। अरे! प्रत्येक रजकणकी अवस्था स्वतः अपनेमें ही होती है। छाछके रजकण पृथक् हैं और दूधके रजकण भी पृथक् हैं, दोनों एकमेक होकर कार्य नहीं करते। कोई कहेगा कि दूधमें छाछ पड़ी इसलिये दही जमा, किन्तु भाई! दही अर्थात् क्या? दही किसे कहा जाये? अमुक काल तक एक संयोगी वस्तु रहे उसका नाम लोगोंने दही रखा; दूधके रजकणोंकी मीठी अवस्था पलटकर खट्टी अवस्था होनेकी योग्यता तैयार हुई उस समय उसे छाछका निमित्त मिला, इसलिये दूधमेंसे दही रूप अवस्था हुई, तथापि दहीके लोथेमें जो अनन्त रजकण हैं उन सबका कार्य भिन्न-भिन्न है, किसी रजकणका कार्य कोई रजकण नहीं करता।

परमाणुमें रस नामका गुण है, उसकी मिठास और खटास आदि अवस्थामें होती हैं, रसगुण स्थायी रहकर अवस्थायें बदलती हैं।

दूधमें जब मीठी अवस्था बदलकर खट्टी अवस्था होनेकी योग्यता हो उसी समय अवस्था बदलती है; किन्तु लोगोंमें ऐसी विपरीत मान्यता बैठी है कि छाछ ही दूधमेंसे दही बनाती है। दूधके परमाणु खटाईके सन्मुख होकर परिणमित हों तभी खट्टी अवस्था होती है, उसके स्वतंत्र परिणमनके बिना छाछकी शक्ति नहीं कि दूधको दही बना दे। प्रत्येक परमाणुका परिणमन स्वतंत्र है, कोई किसीका कर्ता नहीं है।

कोई कहे कि अमुक वस्तुएँ शरीरको सर्दी करती हैं, परन्तु प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र भिन्न है। कोई पुद्गल किसी अन्य पुद्गलमें सर्दी कर ही नहीं सकता। शरीरमें जब सर्दी होनेकी योग्यता हो उस समय उसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं; अन्य द्रव्य मात्र साथ रहते हैं, वहाँ अज्ञानी कहते हैं कि इस साथवाले द्रव्यने इसका कार्य कर दिया,— वह मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। जिन्हें तत्त्वकी खबर नहीं वे तत्त्वका खून करनेवाले हैं; अज्ञान कोई बचाव नहीं है; अदालतके कानूनमें भी आता है कि—अज्ञान कोई बचाव नहीं है। उसीप्रकार वस्तुका जो

स्वभाव अर्थात् नियम है उसे न जाने और कहे कि हमें खबर नहीं थी, तो वीतरागदेव कहते हैं कि परिभ्रमण कर! जड़-चैतन्यका जो स्वभाव है उसे न जाने और कहे कि ऐसे स्वभावकी हमें खबर नहीं थी, तो वीतरागदेव कहते हैं कि जा, चौरासीमें परिभ्रमण कर बचाव-फचाव काममें नहीं आयेगा।

आत्माका स्वतंत्र स्वभाव कैसा है—वह समझनेका अवसर आ गया है, और जो नहीं समझता उससे आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भव्यात्मा! सत्को समझ और अज्ञानको दूर कर! दो द्रव्योंका एक परिणमन नहीं होता—ऐसा स्वतंत्रताका ज्ञान कर।

आत्मा राग भी करे और जड़ द्रव्यकी बोलने तथा चलनेकी क्रिया भी करे—ऐसा नहीं होता। कोई वस्तु बदलकर दूसरोंके साथ एक हो ऐसा नहीं हो सकता। एक रजकणका दूसरा रजकण कुछ भी नहीं करता, एक आत्माको अन्य आत्मा कुछ नहीं करता, एक भी आत्माका कार्य रजकण कुछ नहीं करता और एक भी रजकणका आत्मा कुछ नहीं करता—इस चौभंगीसे ऐसा समझ लेना कि कोई किसीका कुछ नहीं करता, नहीं करा सकता, न प्रेरक बनता है। प्रत्येक वस्तुका क्षेत्र पृथक् है इसलिये दो द्रव्य एक नहीं होते, दो द्रव्योंका एक कार्य नहीं होता और दो द्रव्योंकी एक क्रिया नहीं होती।

कितने ही लोग कहते हैं कि जब आत्मा सिद्धमें जाता है उस समय एक आत्मा दूसरेमें मिल जाता है, "ज्योतमां ज्योत मिलाय" ऐसा कहते हैं, किन्तु यह बात बिलकुल मिथ्या है, तीनकाल और तीनलोकमें भी ऐसा नहीं होता। आत्मा संसारमें भी पृथक् है और मोक्षमें भी पृथक् ही रहता है, जो भिन्न है वह त्रिकाल भिन्न ही रहता है। दो द्रव्य कभी भी एक नहीं होते, उनका कार्य एक नहीं होता और न उनकी क्रिया भी एक होती है दो द्रव्यमें प्रदेशभेद होनेसे परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। इस सत्य नियमको भूलकर यथार्थ प्रतीतिके बिना व्यवहारज्ञान भी मिथ्या है, शास्त्रज्ञान भी कुज्ञान है।

प्रत्येक द्रव्यका स्वक्षेत्र भिन्न है, और स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न हैं उसमें निमित्त कुछ नहीं कर देता. इस नियमका निश्चय प्रथम करना पड़ता है।

प्रश्न:—यदि वस्तुमें स्वतःसे ही कार्य होता हो तो फिर निमित्तकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर:—जब कार्य होता है उस समय निमित्तकी उपस्थिति होती है किन्तु निमित्त कुछ कर नहीं देता। जब सूर्य-विकासी कमल विकसित हो उस समय सूर्योदय होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु सूर्यने कमलको विकसित नहीं किया है। जब कमल स्वतः—अपनी योग्यताके कालमें अपने आप विकसित होता है उस समय सूर्यकी उपस्थिति होती है—ऐसा स्वतंत्र सम्बन्ध है; उसीप्रकार जब चन्द्र-विकासी कमल खिले उस समय चन्द्रमाका उदय हो—ऐसा संबंध है तथापि चन्द्र-विकासी कमलको चन्द्रमाने नहीं खिलाया किन्तु कमल खिलनेके समय चन्द्रमाकी उपस्थिति होती है।

स्वतःमें जब अवस्था होनेकी योग्यता हो तब निमित्तकी उपस्थिति होती है; उपादानको निमित्तकी वाट (राह) देखना पड़े ऐसा नहीं है; किन्तु जिस समय उपादानमें वह अवस्था होनेकी योग्यता हो उस समय उसके अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा सम्बन्ध है। उपादान और निमित्त आगे-पीछे नहीं किन्तु दोनों साथ ही होते हैं।

घट रूप कार्यमें मिट्टी अनुरूप है, उपादान कारण है और वह सच्चा कारण है और घड़ेकी उत्पत्तिमें कुम्हार अनुकूल है निमित्त-कारण है, व सच्चा कारण नहीं है अतः कुम्हार घड़ेको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, परन्तु अपने अभिमानके परिणामको करता प्रतिभासित होता है। कोई कहे कि निमित्त और उपादान युगपद् हैं इसलिये भूल हो जाती है, किन्तु वैसा कहनेवालेकी वात विल्कुल मिथ्या है। स्वतः अपनी मान्यताके कारण भूल करता है, युगपद् है इसलिये

आत्मा राग-द्वेषकी अवस्था प्रतिक्षण परिवर्तित करे और द्रव्यकर्मकी अवस्था भी प्रतिक्षण परिवर्तित करे—ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होतीं। इसप्रकार प्रत्येक वस्तुके द्रव्य-गुण-पर्यायको और कर्ताकर्मको अभेददर्शक द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुस्थितिका नियम कहा अर्थात् मर्यादा बताई। पर्यायार्थिकनयसे परस्पर एक-दूसरेका कर सकते हैं ऐसा त्रिकालमें नहीं है व्यवहारसे ऐसा कथन होता है।

अब कहते हैं कि—आत्माको अनादिकालसे परद्रव्यके साथ माना हुआ कर्ता-कर्मपनेका अज्ञान है, यदि वह परमार्थनयके ग्रहणसे एक बार भी विलीन हो जाये तो पुनः नहीं आये।

अनादि अज्ञानसे जीव मिथ्यादृष्टि है। वह सब विपरीत ही मानता है, वीतराग कथित स्वरूपको नहीं मानता इससे उसको कर्ता-कर्मपनेका अज्ञान है; किन्तु यदि यथार्थ परमार्थदृष्टिसे वस्तुस्वभावको ग्रहण करे और एकवार कर्तापनेका नाश करे तो वह पुनः उत्पन्न न हो।

अज्ञानतासे जीव ऐसा मानते हैं कि अमुक भाईने तो दूसरोंके लिये बड़े अच्छे कार्य किये हैं, उन्होने जीवित रहना भी जाना और मरना भी जाना। हरी-भरी फुलवारी छोड़कर मरे हैं; हरी-भरी फुलवारी अर्थात् क्या? लड़के, बहुएँ, धन, मकान इत्यादि हरी-भरी फुलवारी कहलाती होगी? वह तो इनका मोह लेकर मरा है, इसमें क्या तो मरना जाना और क्या जीना?

जीवित अवस्थामें दूसरोंके कार्य करनेका अभिमान करता था—वह भाव लेकर मरा अर्थात् कर्ताभावको साथ लेकर गया और उसके प्रशंसक उसके कर्तापनेका बखान करते हैं अर्थात् दोनों अनादिसे कर्ता-कर्मके अज्ञानमें डूबे हैं, किन्तु ज्ञानभावसे उस कर्ता-कर्मपनेका नाश करे कि मेरे स्वभावमें परका कर्तृत्व त्रिकाल है ही नहीं–इसप्रकार यदि एकबार भी कर्तृत्व विलयको प्राप्त हो तो वह मिथ्याबुद्धि पुनः न आये। यहाँ तो अप्रतिहत धाराकी ही बात है। अब ५५ वाँ कलश कहेंगे—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः॥ ५५॥

अर्थः—इस जगतमें मोही (अज्ञानी) जीवोंका 'परद्रव्यको मैं करता हूँ'—ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहङ्काररूप अज्ञानान्धकार—जोकि अत्यन्त दुर्निवार है—वह अनादिसंसारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! परमार्थनयका अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे यदि वह एकबार भी नाशको प्राप्त हो जाये तो ज्ञानघन आत्माको पुन: बन्धन कैसे हो? (जीव ज्ञानघन है इसलिये यथार्थज्ञान होनेके पश्चात् ज्ञान कहाँ चला जायेगा? नहीं जायेगा। और यदि ज्ञान न जाये तो फिर अज्ञानसे बन्ध कैसे होगा? कभी नहीं होगा।)

आचार्य भगवान जगतके जीवोंसे कहते हैं कि—इस जगतमें परका मैं करता हूँ और पर मेरा करता है, मैं परका अच्छा-बुरा करता हूँ और पर मेरा,—ऐसे परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहङ्काररूप अज्ञानान्धकार जीवोंके अनादि-संसारसे चला आ रहा है, जोकि अत्यन्त दुर्निवार है, उस अज्ञानको सत्यार्थ प्रकाशक अभेदनयका ग्रहण करके यदि एकबार भी नष्ट कर दे तो पुनः बंधन न हो किन्तु मोक्ष ही हो।

कोई कहे कि हम परद्रव्यके कर्तृत्वका अहङ्कार न करें किंतु अनासक्ति भावसे परका कार्य करें तो?

उत्तरः—जहाँ परका करनेकी इच्छा है वहाँ अनासक्ति भाव ही नहीं है किन्तु अनन्ती आसक्ति है। परका मैं कर सकता हूँ—ऐसा जहाँ जीवने स्वीकार किया वहाँ तो वह पापी है—मोही है, मूढ़ है, अनन्त [illegible] स्वामी है। क्योंकि परद्रव्यके कर्तृत्वकी बुद्धि नहीं

होती, सर्वत्र ज्ञाता ही हूँ स्वतंत्र अपनी-अपनी योग्यता (-सामर्थ्य)से ही सबका कार्य होता है ऐसा मानना यथार्थ अनासक्ति है, परन्तु परद्रव्यके कार्यका मैं कर्ता हूँ—प्रेरक हूँ— ऐसी बुद्धि हुई वहाँ अनन्ती आसक्ति है। प्रश्न:—व्यवहारनयसे तो परका कुछ कर सकते हैं? उत्तर:—नहीं, कारण कि-प्रत्येक वस्तु नित्य परिणामी है वह अन्य द्रव्यके कारणसे नहीं है स्वत: है, 'उपादान निश्चय जहाँ तहँ निमित्त पर होय' ऐसा नियम होनेसे निमित्तको उपचार कारण कब माना जाय? उपादान स्वयं कार्यरूप परिणत हो-तब तो हरेक द्रव्य निरंतर परिणत होते ही हैं, इसमें दूसरा कोई व्यवहार कर्ता मानना अज्ञानी जीवोंका मिथ्या विकल्प है।

जगतके मोही जीवको आसक्ति—अनासक्तिकी खबर नही है, संयोगमें एकताबुद्धि होनेसे यह मान रहे हैं कि हम परका कुछ कर सकते हैं, पर हमारा कर सकता है वही कर्ताबुद्धि महा मोह है। वह अज्ञान-अन्धकार सम्यग्भानके विना नाश नही होता, सम्यग्ज्ञानरूपी बोधकी किरणोंके विना वह अज्ञान-अन्धकार नाश नही हो सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! परका मैं नहीं कर सकता, और पर मेरा नही कर सकता—ऐसा परमार्थनयका ग्रहण करके देख। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय अर्थात् पराश्रय रहित पवित्र द्रव्य सो शुद्ध है। आर्थिक अर्थात् उस परसे पृथक् निर्मल वस्तुको देखनेका प्रयोजन और नय अर्थात् उसका ज्ञान। शुद्ध द्रव्यको देखनेका जिसका प्रयोजन है उस ज्ञानके अंशको शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते है। आचार्यदेव कहते हैं कि—शुद्धस्वभावका इच्छुक होकर देख! तो परद्रव्यका अकर्तृत्व ही ज्ञात होगा और अपने स्वभावका कर्ता ही प्रतिभासित होगा। शुद्धस्वभावका ग्रहण करनेसे परद्रव्यका कर्तृत्व छूट जाता है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कुछ भी करनेमें समर्थ नही है। आत्माका मात्र स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव है, परको जानने पर भी परका कुछ भी करनेमें समर्थ नही है। जिसप्रकार आँख बरफ और

अर्थः—पुनश्च, जो मिथ्यात्व कहा गया सो दो प्रकारसे है—एक जीवमिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व; और इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि कषाय—यह सर्व भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारसे हैं।

मिथ्यात्वके दो प्रकार हैं— परपदार्थको अपना माननेरूप विपरीत अभिप्राय सो जीवमिथ्यात्व है, उसका बाह्य निमित्त पाकर रजकण मिथ्यात्व-कर्मरूप परिणमित हो वह अजीवमिथ्यात्व है। जीव विपरीत भाव करे तो उस समय पूर्व कर्म निमित्त होता है। विपरीत मान्यताके भावोंके समय दर्शनमोहनीयकर्मका उदय निमित्तरूप है।

अपने स्वज्ञेय ज्ञायकस्वभावको भूलकर मात्र परको ज्ञेय करे और उस परज्ञेयको अपना माने—वह जीवअज्ञान है। उस जीव-अज्ञानके उल्टे भावोंके समय ज्ञानावरणीय कर्मका उदय जो निमित्त-मात्र है—वह अजीवअज्ञान है। जड़कर्म आत्माको विपरीत भाव नहीं करा देता, किन्तु जब जीव स्वतः विपरीत भाव करता है उस समय जड़ कर्मके उदयका निमित्त होता है।

परपदार्थके प्रति जो आसक्ति है उसका अत्यागभाव सो जीव अविरति; अपने स्वरूपमें स्थिर न रहकर अस्थिर हो जाये वह अविरति। सम्यग्दर्शन होने पर परपदार्थकी आसक्तिका श्रद्धामेंसे त्याग हो गया हो, जो-जो राग-द्वेषके परिणाम आयें उनसे पृथक् भान प्रवर्तमान हो, तथापि अस्थिरतामेंसे आसक्ति न छूटी हो उसका नाम जीवअविरति है; उस जीवअविरतिके समय अप्रत्याख्यानावरणीयादि चारित्रमोहका उदय निमित्त है—वह अजीवअविरति है।

आत्मप्रदेशोंका कम्पन सो जीवयोग है। मनयोग, वचनयोग और काययोगकी प्रकृतिका उदय सो जड़योग है।

आत्माका असावधानरूप भाव-वह जीवमोह है; और उस भावके समय मोहनीयकर्मका उदय निमित्त है सो अजीवमोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक इत्यादि कषायभाव जीवके परिणाममें होते हैं—वह जीव क्रोधादि है। उन भावोंके समय द्रव्यकर्मरूप क्रोधादि कर्म उदयमें है—वह जड़क्रोधादि है।

इसप्रकार समस्त विकारीभावोंमें जीव-अजीव दो-दो प्रकार हैं। सम्यग्दर्शनकी भूल मिथ्यात्व, ज्ञानकी भूल सो अज्ञान, चारित्रकी भूल अस्थिरता; मोह और क्रोधादि चारित्रकी भूलमें समावेश हो जाते हैं।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक मयूर और दर्पणकी भाँति, अजीव और जीव द्वारा भाया जानेसे अजीव भी हैं और जीव भी हैं।

जैसे-नीला, पीला, हरा आदि भाव (वर्णका अस्तित्व) जो मोर द्वारा भाया जाता है-बनते हैं—होते हैं, वह मोर ही है। मोरके शरीरमें और पंखोंमें जो नीला, हरा, पीला आदि रङ्ग हैं वह मोर ही है और दर्पणमें प्रतिबिम्बरूपसे दिखाई देता नीला, पीला, हरा, सुनहरी आदि भाव—वह दर्पणकी विकारी पर्याय है, दर्पणकी स्वच्छताका वह विकार है। इसलिये दर्पणमें पड़नेवाला मोरका प्रतिबिम्ब और मोर-दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। दर्पणमें मोरके आकारकी जो विकारी पर्याय होती है वह दर्पणका मूलस्वभाव नहीं किन्तु विकारी-पर्याय है; मोरका जो रङ्ग दर्पणमें दिखाई देता है वह दर्पणकी विकारी पर्याय है, दर्पणकी योग्यतानुसार ही उसकी पर्याय होती है। दर्पणके सामने मोर पंखोंको रखा जाये तो दर्पणकी अपनी योग्यताको लेकर उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, परन्तु निमित्तको लेकर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। निमित्त तो मात्र निमित्त ही है; यदि निमित्तको लेकर प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो लकड़ीमें भी प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिये, किन्तु उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। इससे यह सिद्धान्त हुआ कि निमित्तको लेकर प्रतिबिम्ब नहीं है किन्तु दर्पणकी अपनी योग्यता नीले, पीले, हरे, सुनहरी आदि रङ्गकी अवस्था होने की थी इससे उस समय मोर पंखोंका निमित्त बन जाता है। दर्पणकी स्वच्छता

परिवर्तित होकर नीले, पीले, हरे आदि अनेक प्रकारकी हो जाती है, तथापि उसकी स्वच्छताका नाश नहीं होता। विकारी अवस्था स्थायी नहीं, किन्तु क्षणिक है।

सामने अग्नि जल रही हो तो क्या दर्पण उससे गर्म हो जायेगा? नहीं होगा। लाल अग्नि सामने है, वैसा प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है—दिखाई देता है, वह दर्पणकी योग्यता है, दर्पणकी स्वच्छताका विकार है, विकार है अवश्य, किन्तु विकार नहीं ही है—ऐसा नहीं है, विकार भ्रम है-ऐसा नहीं है, किन्तु विकारका पर्याय-रूप क्षणिक अस्तित्व है।

जैसे मोरके लाल, पीले आदि रङ्ग मोरमें हैं और दर्पणके रङ्ग दर्पणमें हैं, उसीप्रकार मिथ्यात्वभाव जीवकी पर्यायमें होते हैं वह जीवमिथ्यात्व है, वह जीवकी विकारी अवस्था है और मिथ्यात्वभाव होनेमें उपस्थित निमित्त-कारण जड़ मिथ्यात्व है, यह शरीर मेरा है, यह राग मेरा भाव है, मैं इस राग, शरीर, मकान आदिका कर्ता हूँ—वैसी विपरीत मान्यताका भाव जीवका है और जैसे दर्पणके प्रतिबिंबके सम्मुख मोर है उसीप्रकार जीवका मिथ्यात्वभाव होनेके समय जड़कर्ममें मिथ्यात्व नामकी प्रकृतिका उदय है—वह निमित्तरूप है।

कोई कहे कि आत्मामें अज्ञानभावसे भी विकार नहीं होता, तो वह बात बिल्कुल अयथार्थ है; अवस्थामें विकार होता है, अवस्थामें विकारका अस्तित्व है। यदि पर्यायमें विकार न हो तो संसार ही न हो, और जब संसार न हो तो मोक्ष भी न हो। यदि अवस्थामें विकार न हो तो फिर उसे दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करनेका प्रयोजन क्या? सत्य समझनेका कारण क्या? देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति भी अशुभभावरूप विकारको दूर करनेके लिये है, यदि पर्यायमें शुभ-अशुभ विकार न हो तो फिर देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति करना उपदेश आदिका कारण क्या? इसलिये पर्यायमें शुभाशुभभावरूप विकार है, और उसे दूर करनेका उपाय भी है। आत्मा परसे तीनोंकाल निराला, परम पवित्र, शुद्ध, चिदानन्द है, उसकी पहिचान करके, श्रद्धा करके, उसमें स्थिर होना सो शुभाशुभ

विकारको नष्ट करनेका उपाय है।

जिसप्रकार दर्पणकी अपनी योग्यताके कारण मोरका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीप्रकार आत्माकी अपनी योग्यताके कारण मिथ्यात्वरूप अवस्था होती है। जड़ मिथ्यात्वप्रकृति कहीं चैतन्यकी मिथ्यात्वरूप अवस्थाको नहीं कर देती किन्तु चेतन्यकी अपनी योग्यताके कारण वह स्वतः ही विपरीत वीर्य द्वारा विकारमें युक्त होता है— इससे मिथ्यात्व अवस्था होती है। विपरीत मान्यता होनेका निमित्त सम्मुख उपस्थित है, उस ओर यदि स्वतः झुकाव करे तो अपनेमें विपरीत अवस्था होती है; उस ओर झुकाव न करे और अपने नित्य स्वभावकी ओर लक्ष दे तो सम्यक्‌अवस्था होती है किन्तु मिथ्यात्वअवस्था नहीं होती।

स्व-पदार्थ कौन है उसे न जाने परन्तु मात्र परको ही जाना करे—वह अज्ञान आत्माकी अवस्थामें होता है। वैसी अज्ञान अवस्था होते समय सन्मुख ज्ञानावरणीय कर्मका उदय निमित्तमात्र उपस्थितिरूप होता है—वह जड़ अज्ञान है।

सम्यग्दर्शन होने पर चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है, उस चतुर्थ भूमिकामें पर-पदार्थके प्रति रुचि छूट जाती है, किन्तु अल्प आसक्ति रहती है वह अविरति है। जो आसक्तिरूप परिणाम चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं वह चैतन्य अविरति है और अविरतिका निमित्त जो अप्रत्याख्यानावरणीय प्रकृतिका उदय है—वह जड़ अविरति है। अविरतिके पश्चात् पांचवें और छट्ठे गुणस्थानमें अल्प क्रोधादिकषाय होती है—उसमें चैतन्यकी अवस्थामें होनेवाले क्रोधादि चैतन्य विकार है और उस समय सामनेवाले निमित्तमें जड़कर्मका उदय हो—वह जड़कषाय है। आत्माके प्रदेशोंका कम्पन सो चैतन्ययोग है और उस समय निमित्तमें नामकर्मकी प्रकृतिके योगका उदय है—वह जड़योग है।

अज्ञान और अस्थिरता चैतन्यके विकार मात्रसे माया जाता है अर्थात् बनते है। परका मैं कर्ता हूं, पर मुझे मुक्ति दे देगा; मैं उसे मुक्ति दे दूंगा—ऐसे मिथ्याज्ञानमय विकल्पोंका विकार चैतन्यकी

पर्यायमें होता है, जीव द्वारा वह भासमान जाता है और उस भावका निमित्त जो अजीव प्रकृति है वह उसके द्वारा समझमें आती है।

जड़की अवस्था जड़में होती है और आत्माकी भूलरूप अवस्था आत्मामें होती है। दृष्टान्तमें मानको जड़कर्मप्रकृतिकी उपमा दी है और दर्पणको आत्माकी उपमा दी है।

आत्मामें विकार होता है वह स्वतःसे होता है या परसे? स्वतःमें ही होता है। चैतन्यकी अवस्थामें कहीं परवस्तु विकार नहीं करा देती, विकार होनेमें सन्मुख अन्य वस्तुकी उपस्थिति है अवश्य; किन्तु वह कहीं विकार नहीं करा देती। यहाँ तो दो वस्तुएँ सिद्ध करना है "छनका एक और दूनो दो" दो हों तो बिगड़ती है, दो चूड़ियाँ एकत्रित हों तो खड़खड़ाहट होती है, उसीप्रकार आत्मा यदि अकेला हो और स्वसन्मुख हो तो भूल नहीं होगी, किन्तु परवस्तु पर दृष्टि डालता है तब भूल होती है। जैसे कोई पुरुष परस्त्री पर दृष्टि डाले तो भूल होती है; वैसे ही आत्मा अपने स्वभाव पर दृष्टि डाले तो भूल नहीं होती किन्तु परके ऊपर दृष्टि डाले तो भूल होती है, इसलिये आत्माको विकार होनेमें परवस्तु सामने होती है परन्तु परवस्तु विकार नहीं करा देती।

जब आत्मा राग-द्वेषके भाव करे उस समय सम्मुख जड़कर्मका बाह्य निमित्त कारण है। यदि स्वमें दृष्टि करे तो अपने स्वभावमें रहा और यदि परमें दृष्टि की तो तुझमें विकार हुआ। आत्मामें जो मिथ्यात्व और अस्थिरताकी अवस्था होती है वह आत्माकी है और जड़कर्मकी अवस्था जड़कर्ममें है।

दर्पण मूलद्रव्य नहीं, किन्तु अनन्त परमाणु द्रव्यकी पर्याय है, तथापि सम्मुख निमित्त हो तो प्रतिबिम्बका परिणमन उसमें अपने द्वारा होता है—ऐसा स्वभाव है। रजकणमें परिवर्तन हो वह उसकी अपनी योग्यता है। स्वच्छ चांवल खाते हैं और उसका रक्त लाल हो जाता है, विष्टा बन जाता है; उसीप्रकार एकदम पुद्गलकी अजीव शक्तिसे पुद्गलका परिणमन हो जाता है—वह पुद्गलका अपना स्वतंत्र

परिणमन है। जिसप्रकार पुद्‌गलका परिणमन स्वतंत्र है वैसे ही आत्माका परिणमन भी स्वतंत्र है; जड़की अवस्था जड़में होती है और आत्माकी आत्मामें। वस्तुस्वरूप जैसा है उसीप्रकार उसका श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिर हो तो मोक्ष हुए विना न रहे।

आत्मामें जो क्रोधादि होते हैं वह आत्माका अरूपी विकार है और उसीप्रकार जो जड़प्रकृति मिथ्यात्वादि हैं वह जड़का विकार है, आत्मा और कर्म-दोनों एक स्थानमें रहते हैं किन्तु जड़का भाव जड़में है और चैतन्यका चैतन्यमें है; दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं।

दर्पणके सन्मुख यदि मोर खड़ा हो तो उसमें मोर ही दिखाई देता है, इससे जगतके जीवोंको भ्रम हो जाता है कि बाहरका मोर दर्पणमें कैसे प्रवेश कर गया होगा! उसीप्रकार आत्मामें राग-द्वेष, हर्ष-शोकके भाव हों उस समय सन्मुख उसीप्रकारके कर्मका निमित्त उपस्थित होता है, इससे जीवोंको ऐसा भ्रम हो जाता है कि कर्मने मुझे राग-द्वेष, हर्ष-शोक कराया; परन्तु वह कर्म नहीं कराता; स्वतः विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारमें युक्त होता है इससे विकार होता है।

यह शरीर स्थूल मिट्टी है, वैसे ही कर्म भी सूक्ष्म रज है, वह आत्मामें विकार होनेमें निमित्त है। जैसे दर्पणमें स्वच्छता है, उसीप्रकार आत्माकी ऐसी निर्मलता है कि कर्मका उदय आने पर यदि स्वतः उसमें युक्त होता है तो उससे विकार होता है। यदि उसप्रकार की निर्मलता होगी तभी तो विकार होगा न? ऐसी योग्यता न हो तो फिर विकार भी क्या होगा? आत्मामें ऐसी निर्मलता है इससे विकार होता है।

जिसप्रकार दर्पणके सम्मुख मोरके आने पर उसका रङ्ग नीला, पीला आदि हो जाता है वैसे ही आत्माके ज्ञाता-दृष्टा आदि निर्मल स्वभाव है लेकिन उसीका भान नहीं है, इसलिये जो उदयमें आता है उसमें युक्त होने पर स्वच्छ उपयोग उस आकारका हो जाता है। चैतन्यमूर्ति आत्मा पृथक् है, उसका भान नहीं है, इसलिये अज्ञानी ऐसा मानता है कि आत्मा क्रोध-मान-माया आदि रूप हो गया है।

उस समय मोर उपस्थित होता है—इतना सम्बन्ध है, इससे मोरका प्रतिबिम्ब दर्पणमें है—ऐसा उपचारसे कहा है।

दर्पण अनन्त रजकणोंका पिण्ड है, अखण्ड-पूर्ण द्रव्य नहीं है, किन्तु स्कन्ध है, इसलिये क्षण-क्षणमें सफेद, नीला, हरा, पीला आदि भंगवाला परिणमित दिखाई देता है; वह पूर्ण द्रव्य नहीं है इससे वैसे भंग दिखाई देते हैं। जब दर्पणमें मोरकी अवस्था होना हो उस समय मोर उपस्थित होता है।

कोई कहे कि मोर उपस्थित न हो तो अवस्था नहीं होती, किन्तु भाई! द्रव्यमें क्रमानुसार त्रिकालकी अवस्थायें होनेकी शक्ति भरी हुई है। वह क्रमबद्ध अवस्था होनेकी योग्यता हुई; वह समय आया वहाँ मोर उपस्थित होता है, यदि योग्यता न हो तो उस समय मोर उपस्थित नहीं होता; किन्तु योग्यताके समय मोर उपस्थित होता ही है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि निमित्त न हो तो उतने समय तक दर्पणकी योग्यता उसकी बाट देखे ऐसा पराधीन वस्तुस्वभाव नहीं है। दर्पणकी योग्यता मोरके वशमें नहीं है और मोर दर्पणके वशमें नहीं है किन्तु जब योग्यता होती है उस समय मोर उपस्थित होता ही है—ऐसा सम्बन्ध है। दर्पणकी अवस्था सफेदसे नीली हुई, वह दर्पण स्वतः परिणमित हुआ है या मोर परिणमित हुआ है? दर्पण स्वतः परिणमित हुआ है मोर नहीं। वह दर्पणकी पर्याय है किन्तु मोरकी नहीं, वह दर्पणका विकार है किन्तु उसका मूल स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार आत्मामें जो विकार होता है वह आत्माकी पर्याय है, उस समय कर्मके उदयका निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा सम्बन्ध है। विकार आत्माका मूल स्वभाव नहीं है किन्तु स्वतः कर्मके निमित्तके आधीन होनेसे अपनेमें विकार होता है; द्रव्यदृष्टिसे वह विकार अपना नहीं है किन्तु पर्यायदृष्टिसे अपना है। भेदज्ञान होनेसे सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यदृष्टिसे उस विकारको परका जानते हैं, क्योंकि वह क्षणिक-नाशवान है

और अपनी पूर्व पर्यायको तो मात्र आरोप लगाया जाता है। अपनी परिणमनशक्ति स्वतः उग्र करनेसे होती है; वर्तमान सामर्थ्य द्वारा हीन और उग्र करनेकी शक्ति स्वतःमें है, उसमें कर्मका कारण नहीं है।

मैं परसे निराला, अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्वमें स्थिर नहीं हुआ, इसलिये अपना परिणमन-चक्र हीन हुआ, उसमें कर्मका कारण नहीं है, परिणमन-चक्रको उग्र करनेकी शक्ति भी स्वतःमें ही है। कर्मकी आत्मामें नास्ति है वह आत्माका कुछ नहीं कर सकता, वह तो धर्मास्तिकायकी भाँति मात्र निमित्तरूप है। अपनी परिणमनशक्तिको स्वतः हीन बनाया, इससे ऐसा आरोप लगाया जाता है कि कर्मका उदय निमित्त है। द्रव्यमें वीर्य भरा हुआ है परन्तु पर्यायमें स्वतः वीर्य प्रगट नहीं किया इससे वह प्रगट नहीं होता; कर्मको मात्र आरोप दिया जाता है। अपनी परिणमनशक्तिको स्वतः उग्र करे तो कर्मका उदय दूर हो जाता है और वह कर्मको निर्जराका निमित्त कहलाता है। औंधा गिरे तो अपने भावसे और सीधा बैठे तो अपने भावसे, कोई उसे प्रेरक, सहायक नहीं है। वस्तु, गुण और पर्याय स्वतः अपनेसे हैं; उन्हें कोई अन्य आधार, सहायक नहीं है।

जब स्वतः जितने अंशरूप क्रोधमें युक्त हुआ तब सम्मुख कर्मके उदयको उतने अंश मात्ररूप क्रोधका निमित्त कहा, और यदि अपने स्वभावमें युक्त हुआ तो उस कर्मको निर्जराका निमित्त कहा। स्वतः युक्त हो अथवा न हो, किन्तु कर्मका उदय तो प्रति समय खिर हो जाता है।

कर्मका उदय तो उत्पाद रूपसे है, क्रोधमें युक्त हो तो उस उत्पादको उदय कहा जाता है और अपने स्वरूपमें जागृत हो तो उस उत्पादको निर्जरा हुई अर्थात् व्यय हुआ कहा जाता है।

जिस समय जड़ कर्मका उदय है उस समय जीव उसमें युक्त हुआ तो वह मोहादि कर्मके उदयको विपाकरूप उदय अर्थात् बन्धका निमित्त कहलायगा और उसी समय स्वयं यदि स्वसन्मुख ज्ञाता रहे—ज्ञानमें युक्त हुआ—रागमें युक्त न हुआ तो उसी समय उन जड़कर्मोंकी

उदयरूप अवस्थाको निर्जरा कह दिया, जीवने मोहभाव उत्पन्न न किया, तो सामने कर्मका उदय जो उत्पादरूप अस्तिपर्याय है उसीको उस समय व्ययरूप-नास्तिरूप कहनेमें आया, जीवकी पर्यायमें योग्यतानुसार कर्ममें उपचार किये जाते हैं। जीवके परिणाम अनुसार सामने अजीव कर्ममें नाम पड़ते हैं, जड़ कर्मके अनुसार 'डिग्री टू डिग्री' जीवको विकार करना पड़ता है ऐसी मान्यता मिथ्या है।

जिसने यह माना कि मैं परवस्तुके आधीन हूँ, उस समय उसे राग-द्वेष और मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहता; यदि उसी क्षण ऐसा भेदज्ञान करे कि मैं नित्य ज्ञानमूर्ति हूँ, स्वाधीन हूँ, स्वमें ज्ञातारूप सावधान रहूँ तो जितने अंशमें रागादिमें युक्त नहीं होता उतनी निर्जरा होती है। (आंशिक शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्धिकी हानि 'निर्जरा' है) जितने अंशमें युक्त नहीं होता—अर्थात् रागमें अल्प जुड़ता है वह भी न हो तो उत्कृष्ट वीतरागता हो जाय, स्वद्रव्यका स्वभाव उग्र आलंबनके बल द्वारा उत्कृष्टरूपसे अपनेमें स्थिर-निश्चल हो जाय तो जैसी पूर्णताकी श्रद्धा थी वैसा ही पूर्ण चारित्र हो जाय-पूर्ण वीतरागता प्रगट हो जाय। यदि पूर्ण वीतरागता न हो तथापि सम्यग्ज्ञान और आंशिक वीतराग भाव होता है, उसके जो अल्प राग-द्वेष होता है वह अपनी निर्बलताके कारण होता है; कर्मके कारण पुरुषार्थ मन्द नहीं है, किन्तु अपनी कमजोरी-च्युतिके कारण पुरुषार्थ मन्द है। राग-द्वेष चैतन्यका रूप नहीं है, मेरे अस्तित्वमें रागादि हैं ही नहीं—ऐसी दृढ़ श्रद्धा होते ही उतना राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता।

कर्मके कारण मुझे रागादि होते है ऐसा माननेवालोंको जड़-कर्मकी गांठ बढ़े बिना नहीं रहती—संसारकी वृद्धि हुए बिना नहीं रहती, राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जैसे विवाह हो रहा हो उस समय मृत्युका समाचार देना विवाहके उत्सवमें हानि पहुँचाना है, इसप्रकार जागृत चैतन्यस्वभाव अपने कारणसे अपने कार्य-पर्यायरूप प्रवाहित-परिणमित होता है उसे जड़कर्मके कारण बिगड़ना बताना तत्वकी हत्या करना है।

ज्ञानी भेदज्ञान द्वारा अपने पूर्ण सामर्थ्यको सम्हालकर चैतन्य-स्वभावमें दृष्टि रखकर स्वाधीनताकी शोभामें वर्तता है, उसे बन्धनकी शंका ही नहीं-जड़कर्मकी ओर दृष्टि देता ही नहीं। अपने स्वभावको यदि इसी क्षण प्रगट करना चाहे तो मोक्ष हो सकता है-स्वभाव अपनेसे दूर नहीं है, किन्तु अपने पुरुषार्थकी निर्बलतासे देर लगती है, उसमें कर्मका कोई कारण नहीं है।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आपने मिथ्यात्वादिकको जीव और अजीव कहा है—वह कौन है? उसका उत्तर कहते हैं:—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥ ८८ ॥

अर्थः—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव है वह तो पुद्गलकर्म है; और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव है वह उपयोग है।

८७ वीं गाथामें जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि इस-प्रकार दो भेद किये, उस समय शिष्यने पूछा कि प्रभो! अजीव-मिथ्यात्व कौन है? क्या धर्मास्तिकाय है? अधर्मास्तिकाय है? पुद्गलास्तिकाय है? आदि अजीव पदार्थोंमेंसे कौन है? और जीव-मिथ्यात्वादि कौन हैं? उसका उत्तर इस ८८ वीं गाथामें देते हैं कि-अजीव मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म है और जो जीव मिथ्यात्वादि है वह जीवका उपयोग है-इसप्रकार दोनों गाथाओंमें इस प्रकारका अन्तर है।

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता; अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान, और अविरति अर्थात् चारित्रगुणका विकार यह तीनों अवस्थाएँ है, तीनों उपयोगरूप हैं, और तीनों चैतन्यका अरूपी विकार है।

निश्चयसे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव है वह तो अमूर्तिक चैतन्यपरिणामसे अन्य-ऐसा मूर्तिक पुद्गलकर्म है;

देता है किन्तु उसके स्वभावमें वह विकार नहीं है, स्वभाव तो शुद्ध है। पानी जिस समय तप्त है उसी समय स्वभावसे शीतल है, वैसे ही आत्माकी पर्यायमें जिस समय विकार है उसी समय अन्तरमें शुद्धता भरी हुई है।

आत्मा पहले शुद्ध था और अब अशुद्ध हो गया हो वैसा नहीं है परन्तु एक-एक समय होकर अनन्तकालसे आत्माकी पर्यायमें नया-नया विकार स्वतः करते हैं। शरीर मेरा, इन्द्रियाँ मेरी, राग-द्वेष मेरे, निमित्त व्यवहार चाहिये—ऐसी अपनत्वकी मिथ्या मान्यता नवीन नहीं की है; यदि पहले शुद्ध हो और फिर अशुद्ध हो जाये तो सिद्धोंके भी विकार होना चाहिये।

कोई कहे कि वोरिंगमेंसे तो तप्त जल ही निकलता है? किन्तु भाई! वह जल वर्तमान अवस्थासे तप्त है नित्य स्वभावसे तो शीतल है। वोरिंगमेंसे पानी बाहर निकालकर ठण्डा करो तो ठण्डा हो जायेगा; तो फिर जब वह स्वभावसे शीतल होगा तभी तो शीतल होगा; नहीं तो कैसे होगा? कोई कहे कि बोरिंगमें नीचे गंधक है इससे पानी तप्त रहता है; यदि गंधक पानीको गर्म करता हो तो आकाशको गर्म क्यों नहीं करता? यह तो जब पानीमें गर्म होनेकी योग्यता हो उस समय गंधक उपस्थित होता है, इसीप्रकार जब आत्मामें विकारकी योग्यता हो उस समय कर्मकी उपस्थितिको निमित्तकारण कहा जाता है ॥ ८९ ॥

अब, आत्मामें तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व दर्शाते हैं:—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥ ९० ॥

अर्थः—अनादिसे यह तीन प्रकारके परिणामविकार होनेसे, आत्माका उपयोग यद्यपि (शुद्धनयसे) शुद्ध, निरंजन (एक) भाव है, तथापि तीन प्रकारका होता हुआ वह उपयोग जिस (विकारी) भावको स्वतः करता है उसी भावका कर्ता होता है।

अनादिसे आत्मामें तीन प्रकारकी अवस्था है—विपरीत मान्यता, विपरीत ज्ञान और विपरीत एकाग्रता—यह तीन प्रकारका विकार है; यद्यपि आत्माका उपयोग तो शुद्धनयसे तीनों काल शुद्ध है।

भूतकालकी अवस्था और भविष्यकी अवस्थाका सामर्थ्य द्रव्यमें ध्रुवरूपसे है।

वस्तु स्वतः अनन्त गुण और पर्यायोंका पिण्ड है। भूतकालमें जो पर्यायें हो गई हैं और जो भविष्यमें होंगी—उन सभी पर्यायोंके सामर्थ्यरूप द्रव्य है, जो मोक्षपर्याय प्रगट होती है वह सब शक्ति द्रव्यमें भरी पड़ी है।

परसे पृथक् वस्तुकी अपेक्षा लागू नहीं होती। वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी पर्याय—यह तीनों अपेक्षारहित निरपेक्ष हैं।

द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे-तीनों प्रकारसे वस्तु अनादि-अनन्त एकरूप है, किन्तु उसमें बन्ध-मोक्षकी अपेक्षा लें तो वह निमित्तके ओरकी अपेक्षा है, बन्ध-मोक्षकी पर्याय व्यवहारसे सापेक्ष पर्याय है।

प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है वह व्यवहार है; बन्धका व्यय और मोक्षका उत्पाद भी व्यवहार है; परिणामी वस्तुके निश्चयसे द्रव्य, गुण और उसका वर्तमान अंश शक्तिरूप नित्य एक ही प्रकारसे हैं, ध्रुवरूप हैं, तथापि व्यवहारसे तीन प्रकारसे विकारी परिणमित होता हुआ वह उपयोग स्वतः विकारी भावको करता है; उस भावका वह कर्ता होता है।

आत्मा द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे अनादि-अनन्त शुद्ध है, तथापि वर्तमान पर्यायदृष्टिसे अनादिसे अन्य वस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तताके कारण अर्थात् उपयोगरूपसे-अपनेमें उत्पन्न होनेवाले परिणामविकार तीन प्रकारके हैं। विपरीत मान्यताका अर्थ है पर-

शरीरादिको अपनेरूप मानना; रागी-द्वेषी मैं हूँ—ऐसा मानना। और अज्ञानका अर्थ है परको अपनेरूप जानना। अविरति अर्थात् स्वसे च्युतिरूप परमें उपयोगको स्थिर करे वह। इस प्रकार तीन प्रकारसे परिणाम-विकार होते हैं।

यद्यपि परमार्थसे तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावरूप एक ही प्रकारका है।

देखो! इसमें आचार्यदेवने क्या अलौकिकता की है। परमार्थ-दृष्टिसे तो उपयोग वास्तवमें शुद्ध है। मोक्षमार्गकी अवस्था और मोक्ष अवस्था ये दोनों अवस्थायें व्यवहारनयसे सापेक्ष हैं, वस्तु तो शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध उपयोगरूप है, वह निरंजन है, अर्थात् उसमें मलिनता बिल्कुल नहीं है, उसमें राग-द्वेषकी या परको अपेक्षाकी गंध भी नहीं है, वस्तु अनादि-अनन्त है, अर्थात् जिसका आदि भी नहीं है और अनन्त भी नहीं है; जिस प्रकार वस्तु त्रिकाली है वैसे ही उसका भाव भी त्रिकाल है और वह उपयोगस्वभाव वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप एक ही प्रकारका है।

निगोदसे लेकर सिद्ध तक सभी आत्माओंमें यह उपयोग शुद्ध-नयसे शुद्ध ही है, एक ही प्रकार है, विकारी पर्याय, मोक्षमार्गकी पर्याय और मोक्षकी पर्याय—ये सभी पर्यायें भी आत्मामें ही होती हैं, वे पर्यायें व्यवहारनयसे सापेक्ष हैं, निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाली हैं; परन्तु जो अनादि-अनन्त शक्ति है वह ध्रुव है, वस्तु स्वतः शुद्ध, उसके गुण शुद्ध और उसकी वर्तमान शक्ति भी शुद्ध है। द्रव्यदृष्टिसे देखें तो द्रव्यका और गुणका वर्तमान अंश शक्तिरूपमें परिपूर्ण है, ध्रुवरूप है, परिपूर्ण शुद्ध है और वह त्रैकालिक स्व स्वभावमें अभेद है—वह एक, और पर्यायदृष्टिकी अपेक्षासे देखें तो राग-द्वेषकी अशुद्ध अवस्था, मोक्षमार्ग और मोक्षकी शुद्ध अवस्था उनमेंसे एक, इसप्रकार दोनों (त्रैकालिक शक्ति अंश और वर्तमान व्यक्तिरूप प्रगट पर्याय अंश यह दोनों) एक साथ हैं। अशुद्ध अवस्था, मोक्षमार्गरूप अपूर्ण शुद्ध अवस्था और केवलरूप परिपूर्ण शुद्ध अवस्था ये जीवके स्वतन्त्र होनेसे निश्चय-

दृष्टिकी अपेक्षा निरपेक्ष है और व्यवहारदृष्टिकी अपेक्षासे सापेक्ष कही जाती है। (यह सापेक्ष पर्याय भी निश्चयनयसे तो निरपेक्ष ही है। देखो, पंचास्तिकाय गाथा ६२ और उसकी टीका)।

स्वभावभावमें देखने पर परमार्थतः द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे ऐसा शुद्ध आत्मा है, तथापि अपनी विपरीत योग्यताके कारण अशुद्ध, सांजन अनेक प्रकारको प्राप्त करता हुआ अर्थात् राग-द्वेष, हर्ष-शोक, शुभाशुभभाव इत्यादि अनेक प्रकारका होकर, तीन प्रकारका होकर, स्वतः अज्ञानी होता हुआ कर्तापनेको प्राप्त होता है, मिथ्यादृष्टिरूप, अज्ञानरूप और अविरतिरूप परिणमित होता है। दोषरूप—जो-जो भाव करता है, उन-उन भावोंका वह मलिन अवस्थारूप उपयोग कर्ता होता है; स्वतः मोहमें युक्त होकर परभावोंको अपना कर्तव्य मानकर विभावरूप उपयोग होकर विभावका कर्ता होता है। स्वतः विभावमें युक्त होता है वहाँ पराङ्मुखपनेमें निमित्तकी अपेक्षा है, वहाँ कर्मके सद्भावरूप व्यवहार है और उस विभावके योगको दूर करके मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट करना भी व्यवहार है, वह कर्मके अभावकी अपेक्षा रखनेवाला व्यवहार है।

अरे भाई! यह बात हमारी समझमें नहीं आती-ऐसी शल्यको मस्तिष्कमेंसे प्रथम निकाल देना चाहिये। सभी आत्मा स्वशक्तिसे पूर्ण भगवान हैं, प्रभु हैं; यह बात भी भगवान आत्माकी ही चलती है, अपने घरकी ही बात चलती है; उसमें जिज्ञासासे, ध्यान रखकर सुने तो समझमें न आये—ऐसा कैसे हो सकता है? 'मुझे समझमें नहीं आयेगा'—ऐसी जो कल्पना कर रखी है वह भी एक महान शल्य है। मैं स्वतः ज्ञायकस्वभाव हूँ, मेरी समझमें न आये ऐसी कौन सी बात है? यह ऐसी वस्तु है जो समझमें आ सकती है, इसलिये समझमें नहीं आती—ऐसी शल्यको निकाल देना चाहिये।

जितना केवलज्ञानियोंने जाना है उतना ही आत्मा-सामर्थ्यरूप पूर्ण है; केवलीके ज्ञानमें आत्माका स्वरूप जितना ज्ञात हुआ है उतना उनकी वाणीमें नहीं कहा गया; केवली भगवानका सामर्थ्य अनन्त-

वह कर्म है। कुम्हार कर्ता है और घड़ा कार्य है—ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है; मिट्टी उपादान है और कुम्हार निमित्त है। (कर्म अर्थात् कार्य-क्रिया)

आत्मा स्वतः अपने कार्यरूप होनेवाला कर्ता है और आत्माका यथार्थ कार्य सो स्वभावकार्य है। विकल्परहित श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना वह आत्माका वास्तविक कार्य है। निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र स्वभावकार्य है। अज्ञान अवस्था कर्ता और पुण्य-पापके भाव वह कर्म—वह विभावकार्य है। आत्मा जड़का कर्ता और जड़ आत्माका कार्य हो—इसप्रकार कर्ता-कार्य (कर्म) नहीं है। आत्मा करनेवाला अर्थात् होनेवाला है और वीतरागभाव उसका वास्तविक कार्य है। कारण-पर्याय कारण है और जो निर्मल पर्याय प्रगट हो वह कार्य है।

द्रव्य-गुण और शुद्ध कारणपर्यायिरूप पूर्ण शक्ति पर अभेददृष्टि डालनेसे स्वाश्रयके बलसे निर्मल उत्पादरूप कार्य प्रगट होता है। निर्मल सम्यग्ज्ञान, सम्यक्प्रतीति और सम्यक्चारित्र वह स्वभावकार्य-पर्याय है। वस्तु प्रवर्तन करते-करते त्रिकाल प्रवर्तमान रहती है वह स्वभाव कारणपर्याय है-अनादि अनन्त है। वस्तु ध्रुव है, वस्तुका गुण और उसकी शक्तिरूप कारण शुद्ध पर्याय प्रति समय अनादि अनन्त ध्रुव है, इसका मनन करनेसे स्वभावपर्याय प्रगट हो वह सादि-सांत कार्यपर्याय है।

द्रव्य, गुण और उसकी कारणपर्याय सो निश्चय है; उन तीनों पर अभेददृष्टि डालनेसे और उनमें एकाग्र होनेसे निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र प्रगट होता है वह सद्भूत व्यवहार है। वस्तुस्वभावरूप जैनदर्शनकी यह सर्वोत्कृष्ट मूल बात है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये सभी वस्तुएँ, उनके गुण और उनकी पर्याय भी निर्मल ही है। परमाणु स्वतः वस्तु, उसका गुण और उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल ही है, परमाणु स्वतः सर्व प्रकारसे निर्मल है, परन्तु उसमें दो प्रकारके विभाव भी होते हैं—परमाणुकी स्कंधरूप अवस्था होती है

रूप—कारणशुद्ध पर्यायरूप अंश विद्यमान न हो तो चैतन्यवस्तु पूर्ण-स्वरूप नहीं हो सकती। लेकिन उसमें खण्ड पड़ जाते हैं। द्रव्य, गुण शुद्ध और उसका स्वाकार पर्यायविशेष भी (शुद्धनयसे) शुद्ध, वे तीनों मिलकर अखण्डसम्पूर्ण वस्तु है वह आध्यात्मिक शैलीका शुद्ध-नयका विषय है-सम्यग्दर्शनका विषय भी ऐसा पूर्ण स्वरूप है।

कारणपर्याय स्वाकार परिणामी होनेसे किसी अपेक्षासे परिणामी है; द्रव्य और गुण भी कथंचित् परिणामी हैं। पर्यायदृष्टिसे सापेक्ष पर्याय प्रगट है और निरपेक्ष पर्याय अप्रगट है। द्रव्यदृष्टिमें प्रगट-अप्रगटका भेद नहीं है; द्रव्यदृष्टिमें वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी कारणपर्याय प्रगट ही है। स्वरूपसे प्रत्यक्ष ही है, शुद्ध द्रव्यदृष्टिका विषय है और वही पूर्णरूप शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शनका विषय है सापेक्ष पर्याय गौण है वह व्यवहारनयका विषय है।

हीरा सान पर चढ़ता है; उसकी रज भी यदि कोई ले जाये तो लाभका ही कारण है। इसप्रकार यह बात अपूर्व है।

जैसे, चार अरूपी पदार्थ और पुद्गलपरमाणु—इन पदार्थोमें वर्तमान प्रवर्तित पर्याय प्रगट न हो तो परिणमन न हो; इसलिये वर्तमान परिणमित शुद्ध पर्याय इन पदार्थोमें प्रगट ही है, क्योंकि इन पदार्थोमें अशुद्धता नहीं है। उसीप्रकार आत्मामें यदि उत्पाद-व्ययरूप प्रगटरूपसे निर्मलता हो तो गुरु और शिष्य, साधकदशारूप मोक्षमार्ग आदि कुछ भी नहीं रहते। उपदेश देना, समझाना-समझना आदि कुछ भी नहीं रहता। उत्पादरूप पर्यायमें मलिनता है इसलिये उसे दूर करनेके लिये उपदेश दिया जाता है और इसीलिये शिष्य भी समझनेका प्रयत्न करता है; इसलिये मलिनता है, पर्याय अपेक्षा एकदम प्रगट-रूपसे निर्मलता नहीं है। और यदि वस्तु सत्तामें वस्तुके पूर्ण स्वरूप-आकारसे विद्यमान वर्तमान अंशरूप निर्मल कारणपर्याय न हो तो पूर्ण द्रव्यार्थिकदृष्टि नहीं होती, पूर्ण निरपेक्ष वस्तु सिद्ध नहीं होती।

वह एक प्रकारका विभाव है और परमाणु एकत्रित होकर आत्माके विभावपर्यायको निमित्त करके कर्मरूप परिणमित होते हैं वह दूसरे प्रकारका विभाव है। स्वाधीन परमाणुमें वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी पर्याय—तीनों निर्मल हैं। पाँचों द्रव्योंकी स्वाभाविक पर्याय निर्मल है तो फिर शुद्धनयसे आत्माकी ध्रुवशक्तिमें कारणशुद्धपर्याय क्यों निर्मल नहीं होगी? होगी ही। आत्मामें जो राग-द्वेषकी और भ्रान्तिकी मलिन पर्याय होती है वह पर्याय मूल स्वभावरूप नहीं है, किन्तु विकारी है; संसार और मोक्षमार्ग-मोक्षपर्याय भी अनित्य है, क्षणिक है-व्यवहार है। इसलिये आत्मामें मूल स्वभावरूप निर्मल कारणपर्याय नित्य निश्चयसे होना चाहिये।

यदि, अन्य द्रव्योंमें पर्यायकी प्रगटरूप निर्मलता है, उसीप्रकार यदि आत्मामें भी प्रगट निर्मलता हो तो संसार कैसे हो सकता है? [illegible] हो सकता। इसलिये आत्माकी कारणशुद्धपर्यायमें जो निर्मलता है वह प्रगट नहीं है किन्तु अनादि-अनन्त स्वभावाकारसे है, जैसे [illegible] पर्याय प्रगट है उसीप्रकार यह निरपेक्ष पर्याय प्रगट नहीं है [illegible] किन्तु अप्रगट शक्ति है।

रूप—कारणशुद्ध पर्यायरूप अंश विद्यमान न हो तो चैतन्यवस्तु पूर्ण-स्वरूप नहीं हो सकती। लेकिन उसमें खण्ड पड़ जाते हैं। द्रव्य, गुण शुद्ध और उसका स्वाकार पर्यायविशेष भी (शुद्धनयसे) शुद्ध, वे तीनों मिलकर अखण्डसम्पूर्ण वस्तु है वह आध्यात्मिक शैलीका शुद्ध-नयका विषय है-सम्यग्दर्शनका विषय भी ऐसा पूर्ण स्वरूप है।

कारणपर्याय स्वाकार परिणामी होनेसे किसी अपेक्षासे परिणामी है; द्रव्य और गुण भी कथंचित् परिणामी हैं। पर्यायदृष्टिसे सापेक्ष पर्याय प्रगट है और निरपेक्ष पर्याय अप्रगट है। द्रव्यदृष्टिमें प्रगट-अप्रगटका भेद नहीं है; द्रव्यदृष्टिमें वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी कारणपर्याय प्रगट ही है। स्वरूपसे प्रत्यक्ष ही है, शुद्ध द्रव्यदृष्टिका विषय है और वही पूर्णरूप शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शनका विषय है सापेक्ष पर्याय गौण है वह व्यवहारनयका विषय है।

हीरा सान पर चढ़ता है; उसकी रज भी यदि कोई ले जाये तो लाभका ही कारण है। इसप्रकार यह बात अपूर्व है।

जैसे, चार अरूपी पदार्थ और पुद्गलपरमाणु—इन पदार्थोंमें वर्तमान प्रवर्तित पर्याय प्रगट न हो तो परिणमन न हो; इसलिये वर्तमान परिणमित शुद्ध पर्याय इन पदार्थोंमें प्रगट ही है, क्योंकि इन पदार्थोंमें अशुद्धता नहीं है। उसीप्रकार आत्मामें यदि उत्पाद-व्ययरूप प्रगटरूपसे निर्मलता हो तो गुरु और शिष्य, साधकदशारूप मोक्षमार्ग आदि कुछ भी नहीं रहते। उपदेश देना, समझाना-समझना आदि कुछ भी नहीं रहता। उत्पादरूप पर्यायमें मलिनता है इसलिये उसे दूर करनेके लिये उपदेश दिया जाता है और इसीलिये शिष्य भी समझनेका प्रयत्न करता है; इसलिये मलिनता है, पर्याय अपेक्षा एकदम प्रगट-रूपसे निर्मलता नहीं है। और यदि वस्तु सत्तामें वस्तुके पूर्ण स्वरूप-आकारसे विद्यमान वर्तमान अंशरूप निर्मल कारणपर्याय न हो तो पूर्ण द्रव्यार्थिकदृष्टि नहीं होती, पूर्ण निरपेक्ष वस्तु सिद्ध नहीं होती।

गट नहीं था और पश्चात् प्रगट हुआ। इस कारणपर्यायमें ऐसा नहीं
, यह पर्याय तो अनादि-अनन्त वस्तुदृष्टिसे प्रगट ही है।

द्रव्य और गुण भी किसी अपेक्षासे परिणामी हैं। द्रव्यमें प्रतिक्षण
जो उत्पाद-व्यय होता है वह द्रव्य-गुण स्वतः ही परिणमित होकर
उत्पाद-व्यय होता है; ऐसा नहीं है कि द्रव्य-गुण पृथक् रह जायें
और उत्पाद-व्यय उनके आधारके बिना उत्पन्न हों। द्रव्य-गुणके ही
आधारसे उत्पाद-व्यय होता है, इसलिये द्रव्य-गुण भी किसी अपेक्षासे
परिणामी हैं। द्रव्य और गुणको सदृश-एक समान परिणमनकी
अपेक्षासे परिणामी कहा है। इसप्रकार द्रव्य-गुण भी कथंचित् परिणामी
हैं। वस्तुका वर्तमानमें प्रवर्तित ध्रुव अंश उसकी कारणपर्याय है।

जिसप्रकार द्रव्यकी कारणपर्याय है वैसे ही ज्ञान-दर्शनादि अनन्त
गुणोंकी कारणपर्याय है। द्रव्यका वर्तमान अंश द्रव्याकारसे परिपूर्ण
है वह द्रव्यकी कारणपर्याय है और ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणोंका
वर्तमान अंश गुणाकारसे परिपूर्ण है, वह गुणकी कारणपर्याय है और
ये शुद्ध निश्चयनयके विषय हैं।

शुद्ध पर्यायको निरंजन कहा है और अशुद्ध पर्यायको सांजन कहा
है; शुद्ध पर्याय एक प्रकारसे कही है और अशुद्ध पर्याय अनेकप्रकार
कही है, वह उपयोग अनेक प्रकारसे-तीन प्रकारसे होता हुआ, अज्ञानी
होता हुआ, कर्तृत्वको प्राप्त करता हुआ विकाररूप-दोषरूप-मलिन-
रूप-बन्धनभावरूप जिन-जिन अवस्थाओंको करता है, उनमें स्वभाव-
दृष्टिसे च्युत होकर उन भावोंका कर्ता होता है।

अब, एक दूसरी बात लेते हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति
और काल-ये चार द्रव्य तो स्वतंत्र है, एक ही प्रकारसे हैं, उनमें
विकार नहीं होता और पुद्गलपरमाणुमें दो प्रकारका विकार होता
है। एक प्रकार तो यह कि परमाणु परमाणुके साथ एकत्रित होकर
स्कन्ध होता है, वह विकार है और जीवके विकारभावको निमित्त
करके पुद्गलपरमाणु कर्म स्कन्धरूप परिणमित होता है। वह दूसरे

प्रकारका विकार है। वैसे ही आत्मामें कर्मकी अपेक्षाकी ओरके दो प्रकारके भाव होते हैं, (१) पर्याय अपेक्षा स्वतः कर्मनिमित्तकी ओर झुकाव करनेसे औदयिक भाव विभाव होते हैं। (२) दूसरे भावमें आंशिक या सर्वांश कर्मके अभावकी अपेक्षा है—वह क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव है। उन भावोंको कर्मके अभाव की अपेक्षासे निश्चयमें विभाव कहा है, व्यवहारनयसे सापेक्ष पर्याय है। जिसप्रकार पुद्गलमें दो प्रकारका विभाव है उसीप्रकार आत्मामें भी उसप्रकार दो जातिका विभाव है; पुद्गलकी अपेक्षा आत्माका स्वभाव भिन्न जातिका है इसलिये दूसरे प्रकारके दो विभाव लिये हैं। आत्मामें जो दो विभावभाव लिये हैं उनमेंसे एकमें कर्मके निमित्त- के सद्भावकी अपेक्षा है और दूसरेमें कर्मनिमित्तके अभावकी अपेक्षा है। पहलेमें अस्तिकी और दूसरेमें नास्तिकी अपेक्षा है। यहां क्षायोप- शमिक, [illegible] और क्षायिक भाव है तो स्वभाव, परन्तु अपेक्षासे [illegible] कहा है और अनित्य उत्पाद-व्यय पर्यायरूप होनेसे उसके [illegible] भावकी उत्पत्ति होती है इस अपेक्षासे उसे विभाव कहा [illegible] त्रिकालिक परमपारिणामिक द्रव्यको स्वभावभाव कहा है [illegible] आश्रय करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है-और [illegible] होता है।

[illegible] चार भाव हैं वे अपेक्षित भाव हैं, इसलिये उन [illegible] समावेश होता है। द्रव्य, गुण और निरपेक्ष [illegible] पारिणामिक स्वभावका द्रव्यदृष्टिमें समावेश [illegible] पर्यायार्थिकदृष्टि ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण [illegible] है।

[illegible] औपशमिकभाव, क्षायिक भाव—[illegible] विभावभाव कहा है। [illegible]

होनेवाला है वह स्वतः आत्मा है; राग-द्वेष और विकारी भावरूप होनेवाला अज्ञानी आत्मा है। उपयोग अभानरूप होकर परिणमित हुआ है, दृष्टि विपरीत है इससे पर्याय मलिन हो जाती है, उसका अज्ञानी कर्ता होता है। बन्ध-मोक्ष भी व्यवहारसे है, परन्तु परमार्थसे तो बन्ध-मोक्ष भी नहीं है। व्यवहारनयका ज्ञान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नयको आदरणीय जानकर उसके विषय पर आरूढ़ होनेसे क्रमशः अशुद्ध परिणतिका अभाव होता है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अशुद्ध अवस्था आत्मामें होती है, उस अपेक्षासे अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहा है। उस अपेक्षासे आत्माको विकारका कर्ता भी कहा है। वर्तमान उपयोगकी अवस्था विकारी होनेसे उस वस्तुका अंश वस्तुमें गिनकर आत्माको अशुद्धनयसे विकारका कर्ता कहा जाता है; अज्ञानदशामें तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व जिस जीवको हो उस समय, जड़ कर्मके रजकण अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; आत्मा उसका कर्ता नहीं है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषयमें राग-द्वेषका करना या उसे टाल देना, कुछ नहीं आता। यद्यपि द्रव्यार्थिकका विषय शुद्धद्रव्यका आलंबन करनेसे राग-द्वेष दूर अवश्य हो जाते हैं, किन्तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषयमें राग-द्वेषको दूर करना नहीं है परन्तु अखण्ड द्रव्यको लक्षमें लेना है। शुद्धद्रव्यार्थिक अर्थात् शुद्धद्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, किन्तु पर्याय उसका प्रयोजन नहीं है; पर्याय तो पर्यायार्थिकनयका प्रयोजन है। यह बात सूक्ष्म है परन्तु इसे चिंतन पूर्वक समझना चाहिये। जिस प्रकार मिश्रीका स्वाद लेनेवाला मिश्रीकी एक डलीको मुंहमें रखकर एक गालसे दूसरे गालमें लेता रहता है, उसीप्रकार यदि यह बात कठिन प्रतीत हो तो भी अभ्यास रखना चाहिये, उसका विचार और मनन करना चाहिये, अन्तरंगसे रुचि होना चाहिये. तब यह बात समझमें आये—ऐसी है।

अब, ऐसा कहते हैं कि—जब आत्माको तीन प्रकारके परिणाम-

राग-द्वेष होते हैं उनका वह ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है, राग-द्वेष और क्रोधको जाननेवाला सदैव पुद्गलसे पृथक् है, ज्ञानकी निर्मलता राग-द्वेषसे सदैव भिन्न है। जैसे शीत और उष्ण अवस्थायें जड़ हैं और जड़के साथ एकमेक हैं परन्तु अज्ञानी उन्हें अपना मानता है, परन्तु मेरे ज्ञानका सामर्थ्य स्व-परको जानना है—वैसा न जाननेसे और राग-द्वेष मेरे हैं ऐसा माननेसे नवीन कर्म बँध जाते हैं।

ज्ञान सूक्ष्म, आत्मा सूक्ष्म, उसका कारण सूक्ष्म और उसका कार्य भी सूक्ष्म है, इसलिये स्वतः सूक्ष्म होकर जाने तो समझमें आये कि स्वतः भी सूक्ष्म है। अपने ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, वैसा न जानकर परको अपना करता है इससे नवीन कर्मबन्ध होता है।

यहाँ कर्ता-कर्मकी बात चल रही है। ज्ञानी परका कर्ता नहीं होता और अज्ञानी होता है।

जैसे पुद्गलमें जो शीत-उष्ण अवस्था है वह पुद्गलसे अभिन्न है, आत्मा उसका ज्ञान करता है किन्तु उस शीत या उष्ण अवस्थामें आत्मा प्रविष्ट नहीं हो जाता, उससे आत्मा अत्यन्त पृथक् है। उसी-प्रकार राग-द्वेष और क्रोधादिके भाव आत्माके नहीं हैं क्योंकि वे भाव क्षणिक हैं, विकारी हैं और आत्मा तो निर्विकार त्रिकालस्थायी है इसलिये वे विकारी भाव आत्मासे पृथक् हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और यह जो विकारी भाव हैं सो मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान हो जावे तब विकारी भावोंको अपना नहीं मानता। बाह्यके मकानादिकी बात तो दूर रही परन्तु यह तो अन्तरके शुभाशुभ विकारी भावोंको भी भिन्न जाननेकी बात है। ज्ञानी उन्हें भिन्न मानता है, किन्तु अज्ञानी भिन्न नहीं मानता, भला मानता है। अज्ञानी विकारी भावोंका और आत्माका अन्तर नहीं जानता इससे राग-द्वेष सुख-दुःखके स्वाद और ज्ञानको एकमेक मानता है।

अज्ञानके कारण जब आत्मा उन राग-द्वेष सुख-दुःखादिका और उनके अनुभवका (ज्ञानका) परस्पर विशेष न जानता हो

भावोंको जड़में डाल दिया; उसका कारण यह है कि यहाँ दो द्रव्योंको पृथक् बतलाना है। परोन्मुखताके कारण आत्मामें विकारी पर्याय होती है किन्तु वह पराश्रय है-क्षणभंगुर होनेसे आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिये वह जड़की है—ऐसा कह दिया है। यहाँ दो द्रव्योंको पृथक् बतलाते हैं। परके साथ स्थित रहनेसे रागादि नहीं होते किन्तु अपनेको भूलकर संयोगमें एकत्वबुद्धि और पराश्रयकी रुचिसे विकार-भाव करता है; रागादि स्वसे विरुद्ध भाव है इसलिये वह पर ही है। विकारभावसे उत्पन्न होनेवाला कार्य जड़का है और उससे मुक्त हो जाना वह चैतन्यका कार्य है; कर्मके निमित्तसे, ज्ञानभावसे विपरीत भावका होना चैतन्यका स्वभाव ही नहीं है और चैतन्यके स्वभावरूप रहना वह चैतन्यकी स्वभावपर्याय है।

जैसे बरफ या अग्निको जाननेके समय ज्ञान कहीं ठण्डा या उष्ण नहीं होता, उसीप्रकार राग-द्वेष और सुख-दुःखकी अवस्थाको जाननेके समय ज्ञान रागी-द्वेषी, सुखमय या दुःखमय नहीं होता। उसप्रकारका अनुभव अर्थात् राग हो तब रागको जानता है, शोक हो तब शोकको जानता है; शोकको कहीं राग जानता है? अथवा रागको शोक जानता है? नहीं; वैसा नहीं जानता। जो जैसी अवस्था हो वैसा ज्ञान जानता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, ऐसा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानका स्वभाव है।

रागके समय रागका ही ज्ञान होता है; वहाँ अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं रागमय हो गया; मैं द्वेषमय हो गया: किन्तु भाई! ज्ञानका जाननेका स्वभाव है; करुणाका भाव आये उस समय वैसा ही जानता है और हर्ष या शोकका भाव आये उस समय वैसा ही जानता है। ज्ञानका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, परको अपना बनानेका स्वभाव नहीं है, किन्तु परका प्रकाशक अर्थात् प्रकाशित करनेवाला है। हर्षके समय शोक नहीं जानता और शोकके समय हर्ष नहीं जानता, किन्तु जैसा हो उसे वैसा ही जानता है—ऐसा ज्ञानका सामर्थ्य है, स्वभाव है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टिकी बात है, सम्यग्दृष्टिके जो अल्प

राग-द्वेष होते हैं उनका वह ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है, राग-द्वेष और क्रोधको जाननेवाला सदैव पुद्गलसे पृथक् है, ज्ञानकी निर्मलता राग-द्वेषसे सदैव भिन्न है। जैसे शीत और उष्ण अवस्थायें जड़ हैं और जडके साथ एकमेक हैं परन्तु अज्ञानी उन्हें अपना मानता है, परन्तु मेरे ज्ञानका सामर्थ्य स्व-परको जानना है—वैसा न जाननेसे और राग-द्वेष मेरे हैं ऐसा माननेसे नवीन कर्म बँध जाते हैं।

ज्ञान सूक्ष्म, आत्मा सूक्ष्म, उसका कारण सूक्ष्म और उसका कार्य भी सूक्ष्म है, इसलिये स्वतः सूक्ष्म होकर जाने तो समझमें आये कि स्वतः भी सूक्ष्म है। अपने ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, वैसा न जानकर परको अपना करता है इससे नवीन कर्मबन्ध होता है।

यहाँ कर्ता–कर्मकी बात चल रही है। ज्ञानी परका कर्ता नहीं होता और अज्ञानी होता है।

जैसे पुद्गलमें जो शीत–उष्ण अवस्था है वह पुद्गलसे अभिन्न है, आत्मा उसका ज्ञान करता है किन्तु उस शीत या उष्ण अवस्थामें आत्मा प्रविष्ट नहीं हो जाता, उससे आत्मा अत्यन्त पृथक् है। उसी-प्रकार राग-द्वेष और क्रोधादिके भाव आत्माके नहीं हैं क्योंकि वे भाव क्षणिक हैं, विकारी हैं और आत्मा तो निर्विकार त्रिकालस्थायी है इसलिये वे विकारी भाव आत्मासे पृथक् हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और यह जो विकारी भाव हैं सो मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान हो जाये तब विकारी भावोंको अपना नहीं मानता। बाह्यके मकानादिकी बात तो दूर रही परन्तु यह तो अन्तरके शुभाशुभ विकारी भावोंको भी भिन्न जाननेकी बात है। ज्ञानी उन्हें भिन्न मानता है, किन्तु अज्ञानी भिन्न नहीं मानता, भला मानता है। अज्ञानी विकारी भावोंका और आत्माका अन्तर नहीं जानता इससे राग-द्वेष सुख-दुःखके भाव और ज्ञानको एकमेक मानता है।

अज्ञानके कारण जब आत्मा उन राग-द्वेष सुख-दुःखादिका और उनके अनुभवका (ज्ञानका) परस्पर विशेष न जानता हो

धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो पर—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, मन, वाणी, देह, कुटुम्ब, मकानादि बाह्य पदार्थोंको अपना नहीं मानता, स्वत: उन भावोंका कर्ता-हर्ता नहीं होता और अपनेको उन परभावों-रूप नहीं करता अर्थात् नहीं मानता। जानना-देखना और स्थिर रहना, उसके अतिरिक्त अपने जीवनका अन्य कर्तव्य स्वीकार नहीं करता।

ज्ञानसे यह आत्मा स्व और परका परस्पर विशेष जानता हो उस समय परको अपनेरूप नहीं करता और अपनेको पररूप नहीं करता, स्वत: ज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

ज्ञान द्वारा यह आत्मा परका और अपना परस्पर विशेष अर्थात् अन्तर जानता हो तब वह—विवेकी ज्ञान और विवेकी पहिचान हो तब—परभावको अपनेरूप न करता हुआ अर्थात् अपना नहीं मानता हुआ, स्वतः ज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका तथा रागादि मलिन भावोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है। ज्ञानमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनोंका समावेश हो जाता है। ज्ञानस्वरूपी आत्माका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें एकाग्र होता हुआ परका कर्ता नहीं होता। पुण्य-पापका कर्तव्य मेरा है ही नहीं, मैं उसका अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ—इस-प्रकार ज्ञानमय होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है, अल्प अस्थिरता होती है किन्तु उसका कर्ता नहीं होता।

जिसप्रकार पुद्गलकी शीत-उष्ण अवस्था पुद्गलसे एकमेक है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। पुद्गलकी शीत-उष्ण अवस्थाका बाह्यकारण प्राप्त करके उस प्रकारका ज्ञान आत्मासे सदैव अत्यन्त अभिन्न है, एकमेक है; शीत-उष्णका ज्ञान आत्मासे एकमेक है और पुद्गलसे सदैव अत्यन्त भिन्न है।

वैसे ही उस प्रकारका अनुभव करानेमें समर्थ, ऐसी राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नत्वके कारण आत्मासे सदैव अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला

उस प्रकारका अनुभव (-ज्ञान) आत्मासे अभिन्नत्वके कारण पुद्गलसे सदैव अत्यन्त भिन्न है।

राग-द्वेष और काम-क्रोधादिके जैसे विकल्प आते हैं वैसा ही ज्ञान होता है; जैसे विकल्प हों वैसा ही जानता है किन्तु उससे विपरीत नहीं जानता। जैसे कि—क्रोधको मान नहीं जानता और मानको क्रोध नहीं जानता; हर्षके भावको शोकका भाव नहीं जानता और न शोकके भावको हर्षका; उन भावोंमें ज्ञेयशक्ति है और आत्मा उस प्रकारका अनुभव अर्थात् ज्ञान करनेवाला है। राग-द्वेष और सुख-दुःख पुद्गल-कर्मके परिणमनकी अवस्थाएँ हैं; जड़का परिणमन होते होते, उसमेंसे परिवर्तित होते-होते राग-द्वेष, सुख-दुःखकी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं किन्तु आत्माकी अवस्था परिवर्तित होते-होते वे अवस्थाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। क्योंकि वे अवस्थाएँ नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मासे सदैव अत्यन्त भिन्न हैं और पुद्गलसे अभिन्न हैं; अशुद्ध अवस्था आत्माकी पर्यायमें होती है वह बात यहाँ गौण है क्योंकि यहाँ नित्य स्वभाव-दृष्टिसे बात है। जितने परोन्मुखताके भाव होते हैं वे सब पुद्गलके हैं—ऐसा कहा है। पर्यायदृष्टिसे वह विकारी पर्याय आत्माकी है, परन्तु स्वभावदृष्टिसे अपना वह स्वभाव नहीं है इसलिये पुद्गलकी है।

क्षणमें राग होता है, क्षणमें द्वेष होता है, उसका आत्मा ज्ञाता है; जैसे विकारी परिणाम हों उस प्रकारका अनुभव अर्थात् उस प्रकारका ज्ञान करनेवाला है। ज्ञान पुद्गलसे भिन्न है और आत्मासे अभिन्न है।

कोई कहेगा कि क्षणमें राग-द्वेषको आत्माका कहते हो, और क्षणमें पुद्गलका बताते हो? भाई! एक की एक बात कहनेमें अनेक पक्ष होते हैं; जिसप्रकार एक के एक मनुष्यको पुत्रकी अपेक्षासे पिता कहा जाता है; पिताकी अपेक्षासे पुत्र कहा जाता है, काकाकी अपेक्षासे भतीजा कहा जाता है, भतीजेकी अपेक्षासे काका कहा जाता है, इसप्रकार एक ही मनुष्यको भिन्न-भिन्न अपेक्षासे भिन्न-भिन्न प्रकारसे पहिचाननेमें आता है। वैसे ही पर्यायदृष्टिसे विकार आत्माका कहा

जाता है, और स्वभावदृष्टिसे विकार परका कहलाता है। जैसे—शरीरको अपेक्षासे स्वतः काला है, परन्तु पानीके कालाको अपेक्षासे भी वह काला है—ऐसा नहीं हो सकता। इसीप्रकार पर्यायदृष्टिसे विकार आत्माका है और स्वभावदृष्टिसे भी विकार आत्माका है—ऐसा नहीं हो सकता।

आत्मा जब अज्ञानी होता है उस समय स्व-परकी भिन्नता नहीं जानता, तब तक रागादिका स्वामी और कर्ता बनता है। किन्तु जब ज्ञान हो तब राग-द्वेष, सुख-दुःखादिक और उनके अनुभवका अर्थात् ज्ञानका पारस्परिक अन्तर स्पष्टतया जानता है, इससे विकारी भाव और आत्मा दोनों एक नहीं हैं किन्तु भिन्न हैं। यद्यपि अज्ञानीको भी भिन्न ही हैं परन्तु अज्ञानीने एक माना है और ज्ञानीने पारस्परिक भेद जाना है, दोनोंका पारस्परिक भेद जाननेमें सम्यक्त्वका अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

स्व-परके विवेकके कारण, शीत-उष्णकी भाँति जिसके रूपमें परिणमित होना आत्मा द्वारा अशक्य है—ऐसे राग-द्वेष, सुख-दुःखादि-रूप अज्ञानात्मा द्वारा किंचित् परिणमित न होता हुआ, ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वतः ज्ञानमय होता हुआ, "मैं रागका ज्ञाता ही हूँ, रागी तो पुद्गल है"—इत्यादि विधिसे, ज्ञानसे विरुद्ध—ऐसे समस्त रागादि कर्मोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे शीत-उष्णताकी अवस्थारूप होनेकी आत्मामें असमर्थता है, वैसे ही ज्ञान होनेसे पुण्य-पापके भावरूप होनेकी भी आत्मामें असमर्थता है, परन्तु उन विकारी भावोंका अभाव करनेका आत्मामें सामर्थ्य है। ज्ञान होनेके पश्चात् राग-द्वेषमें किंचित् परिणमित न होता हुआ अपने स्वभावमें परिणमित होता है; अल्प अस्थिरता होती है, उसकी यहाँ गणना नहीं है; अनन्त संसार दूर हो गया, अनन्त बल प्रगट हुआ। पहले अज्ञानदशा थी तब विकारमें अनन्त बलसे युक्त होता था और अब ज्ञान होनेसे स्वभावमें भी अनन्त बलसे युक्त होता है। विभावकी अपेक्षा स्वभावमें अनन्तगुना बल अधिक है; अस्थिरतामें जब अल्प बलसे युक्त होता है, इससे अल्प-अस्थिरता होती है। और

नित्य स्वभावके आश्रयसे होनेवाली वर्तमान साधकदशाकी शक्ति विकारसे-बाधकभावसे अनन्तगुनी अधिक है।

अज्ञानीको अनुकूलतामें सुखका आनन्द आता है, और दुःखमें व्याकुल हो जाता है। यह ऐसा परदेशमें लड़ाईका समय है इससे कितनोंको तो कुछका कुछ हो जाता है; परन्तु भाई! ऐसे समयके प्रवाह तो अनेक आये और चले गये परन्तु धर्मात्मा उनके द्वारा किंचित् भी चलायमान नहीं होता। ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ अर्थात् आत्माका आत्मत्व प्रगट करता हुआ रागको भिन्न जानता है। वह समझता है कि मैं तो इस रागका ज्ञाता हूँ, किन्तु कर्ता नहीं हूँ, राग तो पुद्गलकी अवस्था है। रागी तो पुद्गल है, राग मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये राग पुद्गल है; मैं तो एक प्रकारसे हूँ-ज्ञाता हूँ। विकारी-पर्याय चैतन्यकी अवस्थामें होती है, उस बातको यहाँ गौण किया है। देखो, यहाँ किंचित् भी रागादिमय परिणमित न होता हुआ कहा है; अल्प राग-द्वेष होते हैं किन्तु उनका कर्ता नहीं है, विकारी भावोंका ज्ञाता है परन्तु कर्ता नहीं होता। इसप्रकारकी मार्गकी विधिसे, ज्ञानसे विरुद्ध-ऐसे समस्त हर्ष-शोकादि विकारी भावोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

यह वस्तु समझे बिना अन्त समयमें किसीको शरण नहीं है; एक रजकण भी कार्य नहीं करता, एक अँगुली भी कार्य नहीं करती, अन्दर बैठे हुए चैतन्यकी तीव्र इच्छा होती है कि अँगुलीसे संकेत करके दूसरेसे अपने भाव प्रगट करूँ, खाँस कर कफको बाहर निकाल दूँ, परन्तु वह जड़की क्रिया आत्माके हाथमें है? इच्छा और शरीरकी क्रिया पृथक् हैं—ऐसा इस सम्यग्ज्ञानसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। परन्तु जो जीव वस्तुके स्वभावको नहीं समझता और जड़के कर्तृत्वके अहंकारमें ही रहता है उसे मरण समय कौन शरणभूत हो? वास्तवमें अपना ही शरण अपनेको है, स्वतः यदि वस्तुस्वभावको समझे तो उसे शान्ति-समाधिका शरण स्वतःसे, स्वतःमें, स्वतःको मिले ऐसा है। देव, गुरु, शास्त्रका शरण कहना भी व्यवहार-उपचारसे है। देव-गुरु-शास्त्रका

कहा हुआ भाव यदि स्वतः समझे तो उपचारसे उनका शरण कहलाता है।

यदि आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं कर सकता? नव वर्षके बालक-राजकुमार मुनि होकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं। ऐसे एक-दो नहीं परन्तु अनन्त जीव केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं, भविष्यमें प्राप्त होंगे और वर्तमानमें विदेहक्षेत्रमें प्राप्त कर रहे है। नव वरसकी आयुमें केवलज्ञान होनेके पश्चात्, कितनोंकी तो करोड़ों वर्षों तक शरीरकी स्थिति रहती है। देह, देहके कारण स्थित रहती है-आत्माके कारण नहीं। करोड़ों वरस तक आहारका कण भी केवलज्ञानीके नहीं है, तथापि शरीर महान तेजस्वीरूपसे यथावत् स्थिर रहता है। भोजनकी वृत्ति नहीं है इसलिये भोजन नहीं है। छद्मस्थको आहार लेनेके राग, वीर्यकी कमी, असाता कर्मके उदयका और उसकी क्रियाका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। केवलज्ञानीके रागादि कारण नहीं होता इसलिये आहार लेनेकी क्रिया भी केवली भगवानको कभी भी नहीं होती।

जब आत्मा राग-द्वेष, सुख-दुःखादि अवस्थाओंको अपने स्वरूपसे पृथक् जाने-भिन्न जाने अर्थात् वह अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टारूपसे स्थिर रहना है—ऐसा भेदज्ञान हो तब अपनेको ज्ञाता जानता है। मैं ज्ञायकस्वरूप ही हूँ और राग-द्वेषादि पुद्गलके हैं—वैसा जानता है इससे स्वतः रागादिका कर्ता नहीं होता और ज्ञाता ही रहता है, भेदज्ञान होनेसे अपना ज्ञायकस्वरूप स्वतःको स्पष्टरूप-निश्चयरूपसे ज्ञात होता है, अर्थात् राग-द्वेषादि मेरे नहीं हैं—ऐसा स्पष्टरूपसे ज्ञात हो जाता है। यह भेदज्ञान ही मुक्तिका उपाय है, इस भेदज्ञान द्वारा ही पुरुषार्थ करके स्वतः मुक्ति प्राप्त करता है। त्रिकालमें यही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मुक्तिका मार्ग नहीं है।

अब पूछते है कि अज्ञानसे कर्म किसप्रकार उत्पन्न होते हैं? अज्ञान अर्थात् आत्माके निर्मलस्वभावके भान बिना कर्म किसप्रकार उत्पन्न होते हैं, उसका उत्तर कहते हैं:—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम् ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९४ ॥

अर्थः—तीन प्रकारका यह उपयोग 'मैं क्रोध हूं' ऐसा अपना विकल्प करता है; इससे आत्मा उस उपयोगरूप अपने भावोंका कर्ता होता है।

मैं क्रोध हूँ, क्रोध मेरा स्वरूप है, इसप्रकार क्रोधको अपनेसे पृथक् न करते हुए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप विकारके परिणाम आत्मा करता है अतः उन भावोंका कर्ता होता है।

वास्तवमें सामान्यतः अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है, वह परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रतिसे स्व-परके समस्त भेदोंको छुपाकर अपने सविकार चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है।

आत्मामें अज्ञान होता है वह अवस्था आत्मामें नहीं होती—ऐसा नहीं है, परन्तु वह अवस्था आत्मामे होती है, इससे "वास्तव" शब्द आचार्यदेवने लिया है। संक्षेपमें—आत्मामे तीन प्रकारका विकार होता है; विपरीत मान्यता, विपरीत ज्ञान और विपरीत चारित्र। अपना और परका अविशेष अर्थात् एकरूप परिणाम, सामान्य आधार उसके द्वारा अपना और परका समस्त भेद छुपाकर परका कर्ता होता है। परको और अपनेको एक मानना सो मिथ्यादर्शन है, परको और अपनेको एक जानना सो मिथ्याज्ञान है, और परके साथ एकरूप लीनता करना सो मिथ्याचारित्र है।

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् हूँ, यह विकारीभाव मैं नहीं हूँ, ऐसा न मानकर यह विकारी भाव और मैं—दोनों एक हैं, ऐसा मानना-जानना और एकरूप लीन होना वह संसारका कारण है।

प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावकका भाव्य है, फल है, परन्तु कहीं वह आत्माके स्वभावका फल नहीं है, इसलिये भिन्न है, वैसा न माननेसे (मैं ज्ञाता हूँ-निर्दोष हूँ,—ऐसा न जाननेसे) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्तिके कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वतः विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावोंका कर्ता होता है। मैं क्रोधका कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञानसे ऐसा क्रोध करता है, क्रोधमें आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नहीं है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूँगा; परन्तु वास्तवमें परका बुरा तो कोई कर ही नहीं सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्योंका तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिये, घरमें रोबदाब रखना ही चाहिये, स्त्री या लड़कों पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नहीं मानेंगे, इसलिये सख्ती रखना चाहिये—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमें यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी मानों क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनों एक हैं, ऐसी मान्यता होनेसे अज्ञानभावसे कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध-दोनोंका अभाव ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है: क्रोध संसारकी उत्पत्तिका कारण नहीं किन्तु क्रोधादि करना चाहिये ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय रहती है किन्तु उसकी गिनती नहीं है, उससे भव नहीं बढ़ते; मिथ्यात्व टलनेसे अनन्त संसार दूर हो जाता है; पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूपस्थिरताको बढ़ाकर एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्न:—आप कहते हैं कि—आत्मज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय होती है, और जिसे वैसा ज्ञान है, वह युद्ध भी करता है; तो फिर उसे कषाय हो तब दुःखी कैसे रहता होगा?

प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावकका भाव्य है, फल है, परन्तु कहीं वह आत्माके स्वभावका फल नहीं है, इसलिये भिन्न है, वैसा न माननेसे (मैं ज्ञाता हूँ-निर्दोष हूँ,—ऐसा न जाननेसे) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्तिके कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वतः विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावोंका कर्ता होता है। मैं क्रोधका कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञानसे ऐसा क्रोध करता है, क्रोधमें आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नहीं है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूँगा; परन्तु वास्तवमें परका बुरा तो कोई कर ही नहीं सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्योंका तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिये, घरमें रोबदाब रखना ही चाहिये, स्त्री या लड़कों पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नहीं मानेंगे, इसलिये सख्ती रखना चाहिये—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमें यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी मानों क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनों एक हैं, ऐसी मान्यता होनेसे अज्ञानभावसे कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध-दोनोंका अभान ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है: क्रोध संसारकी उत्पत्तिका कारण नहीं किन्तु क्रोधादि करना चाहिये ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय रहती है किन्तु उसकी गिनती नहीं है, उससे भव नहीं बढ़ते; मिथ्यात्व टलनेसे अनन्त संसार दूर हो जाता है; पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूपस्थिरताको बढ़ाकर एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्न:—आप कहते हैं कि—आत्मभान होनेके पश्चात् अल्प कषाय होती है, और जिसे वैसा भान है वह युद्ध भी करता है; तो फिर जिसे अल्प कषाय हो वह युद्धमें कैसे लड़ता होगा ?

प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावकका भाव्य है, फल है, परन्तु कहीं वह आत्माके स्वभावका फल नहीं है, इसलिये भिन्न है, वैसा न माननेसे (मैं ज्ञाता हूँ-निर्दोष हूँ—ऐसा न जाननेसे) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्तिके कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वतः विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावोंका कर्ता होता है। मैं क्रोधका कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञानसे ऐसा क्रोध करता है. क्रोधमें आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नहीं है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूँगा; परन्तु वास्तवमें परका बुरा तो कोई कर ही नहीं सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्योंका तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिये, घरमें रोबदाब रखना ही चाहिये, स्त्री या लड़कों पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नहीं मानेंगे, इसलिये सख्ती रखना चाहिये—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमें यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी मानों क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनों एक हैं, ऐसी मान्यता होनेसे अज्ञानभावसे कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध-दोनोंका अभान ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है: क्रोध संसारकी उत्पत्तिका कारण नहीं किन्तु क्रोधादि करना चाहिये ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय रहती है किन्तु उसकी गिनती नहीं है, उससे भव नहीं बढ़ते; मिथ्यात्व टलनेसे अनन्त संसार दूर हो जाता है; पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूपस्थिरता [illegible] एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्नः—आप कहते हैं कि—आत्मज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय होती है, और जिसे ऐसा भान है वह युद्ध भी करता है; तो फिर [illegible] कषाय [illegible] युद्धमें [illegible]?

प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावकका भाव्य है, फल है, परन्तु कहीं वह आत्माके स्वभावका फल नहीं है, इसलिये भिन्न है, वैसा न माननेसे (मैं ज्ञाता हूँ-निर्दोष हूँ—ऐसा न जाननेसे) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्तिके कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वतः विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावोंका कर्ता होता है। मैं क्रोधका कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञानसे ऐसा क्रोध करता है. क्रोधमें आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नहीं है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूँगा; परन्तु वास्तवमें परका बुरा तो कोई कर ही नहीं सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्योंका तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिये, घरमें रौबदाब रखना ही चाहिये, स्त्री या लड़कों पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नहीं मानेंगे, इसलिये सख्ती रखना चाहिये—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमें यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी मानों क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनों एक हैं, ऐसी मान्यता होनेसे अज्ञानभावसे कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध-दोनोंका अभान ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है; क्रोध संसारकी उत्पत्तिका कारण नहीं किन्तु क्रोधादि करना चाहिये ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय रहती है किन्तु उसकी गिनती नहीं है, उससे भव नहीं बढ़ते; मिथ्यात्व टलनेसे अनन्त संसार दूर हो जाता है; पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूपस्थिरताको बढ़ाकर एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्नः—आप कहते हैं कि—आत्मज्ञान होनेके बाद भी अल्प कषाय रहती है, और जिसे वैसा ज्ञान है वह युद्ध भी करता है तो फिर वे अल्प कषाय ही यह युद्धमें [illegible] [illegible]?

[illegible] आत्माका स्वभाव नहीं है, [illegible] आत्मस्वभावको और क्रोधको एक माननेसे, [illegible] जाननेसे, मैं और विकार दोनों एक हैं ऐसी लीनतासे स्व-परके समस्त भेदोंको ढंककर विकारी भावोंका कर्ता होता है। त्रैकालिक आत्मस्वभावको और क्षणिक विकारोंको एक माननेसे, ज्ञाताको और क्रोधको एक जाननेसे, आत्मा और क्रोध एक हैं ऐसी लीनतासे अपने और परके समस्त भेदोंको ढंककर विकारी भावोंका कर्ता होता है।

भगवान आत्मा पृथक् है, और विकारी भाव पृथक् क्षणिक हैं, विरुद्ध हैं—ऐसा न मानकर, दोनों एक हैं यह माननेसे, जाननेसे और लीनतासे स्व-परके समस्त भेदोंको ढंककर भाव्य-भावकभावको प्राप्त ऐसे चेतन और अचेतनके सामान्य अधिकरणसे (जैसे उनका एक आधार हो इस प्रकार) अनुभव करनेसे "मैं क्रोध हूँ"—ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है। इससे "मैं क्रोध हूँ"—ऐसी भ्रांतिके कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उन सविकार चैतन्यपरिणामरूप भावोंका कर्ता होता है।

ज्ञाता आत्मा और विकारी भावोंको एकरूप माननेसे, जाननेसे और लीनतासे स्व-परके समस्त भेदोंको ढंककर भाव्य-भावकभावको प्राप्त चैतन्य और जड़का एकरूप अनुभवन करता है, अर्थात् भाव्यका अर्थ क्रोधादिकका विकारी परिणाम होना, और भावकका अर्थ क्रोधके निमित्त जो द्रव्यकर्म-जड़कर्म हैं वह। इसप्रकार भाव्यभावक-भावको प्राप्त ऐसे चेतन-अचेतनका सामान्य अधिकरणसे अनुभव करनेसे विकारी भावोंका कर्ता होता है। क्रोधके परिणाम और ज्ञान-स्वभावी आत्माके परिणाम—दोनों एक ही स्थानसे आते हों, क्रोध और ज्ञान-दोनों जैसे एक ही आधारसे आते हों—ऐसा अनुभवन करनेसे 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा मानता है। 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा भूलकर 'मैं क्रोध हूँ' इसप्रकार अपना विकल्प उत्पन्न करता है। स्वतंत्र ज्ञातामात्रके

प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावकका भाव्य है, फल है, परन्तु कहीं वह आत्माके स्वभावका फल नहीं है, इसलिये भिन्न है। वैसा न माननेसे (मैं ज्ञाता हूँ-निर्दोष हूँ,—ऐसा न जाननेसे) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्तिके कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वतः विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावोंका कर्ता होता है। मैं क्रोधका कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञानसे ऐसा क्रोध करता है, क्रोधमें आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नहीं है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूँगा; परन्तु वास्तवमें परका बुरा तो कोई कर ही नहीं सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्योंका तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिये, घरमें रौबदाब रखना ही चाहिये, स्त्री या लड़कों पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नहीं मानेंगे, इसलिये सख्ती रखना चाहिये—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमें यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी मानों क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनों एक हैं, ऐसी मान्यता होनेसे अज्ञानभावसे कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध-दोनोंका अभाव ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है: क्रोध संसारकी उत्पत्तिका कारण नहीं किन्तु क्रोधादि करना चाहिये ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प कषाय रहती है किन्तु उसकी गिनती नहीं है, उससे भव नहीं बढ़ते; मिथ्यात्व टलनेसे अनन्त संसार दूर हो जाता है; पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूपस्थिरताको बढ़ाकर एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्नः—आप कहते हैं कि—आत्मभान होनेके [illegible] अल्प कषाय होती है, और जिसे ऐसा भान है वह युद्ध भी करता है तो फिर [illegible] कषाय [illegible] वह युद्धमें [illegible] क्यों लेता?

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
तीव्र मालूम होता है, [illegible] है।
मैं निज भगवान आत्मा हूँ, मैं पर द्रव्योंसे भिन्न हूँ, मेरा आनन्द-स्वभाव मेरा मुझमें पड़ा है —ऐसा निःशंक भान वर्तमान है, परन्तु अभी सम्पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इससे [illegible] है, [illegible] है इससे गृहस्थाश्रममें है और गृहकी क्रियामें [illegible] हुआ है। एक अज्ञानी गृहकी क्रियामें हो और एक ज्ञानी गृहकी क्रियामें हो, दोनोंकी बाह्य क्रिया समान दिखाई देती है, परन्तु अन्तरङ्ग भावोंमें अन्तर है, इसलिये फलमें भी अन्तर होता है। जैसे बिल्ली अपने मुंहमें चूहेको पकड़ती है और अपने बच्चोंको भी पकड़ती है, तथापि पकड़-पकड़में अन्तर है; बच्चोंको रक्षाके भावसे पकड़ती है और चूहेको मारनेके भावसे पकड़ती है, एक ही प्रकारकी क्रिया होने पर भावोंमें अन्तर होता है; उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी बाह्य क्रिया समान होने पर भावोंमें अन्तर होता है।

तालाबके पानीका माप करना हो, और उसे बाहर खड़े रहकर देखे तो बाहरसे सतह एक-सी मालूम होती है, परन्तु अन्दर पानीमें लकड़ी डालकर माप करे तो पानीकी गहराईका पता लगता है, माप आता है; वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानीकी बाह्यक्रिया परसे मापे तो समान दिखाई दें, परन्तु अन्तरङ्गकी परीक्षा करे तो अन्तरभावोंकी खबर पड़े।

श्रीकृष्ण वासुदेव जब जरासंघसे युद्ध करने गये तब नेमिनाथ भगवानको रथमें बिठाकर साथ ले गये। श्रीकृष्ण वासुदेवको युद्धके समय भी आत्माका भान प्रवर्तमान है, अनन्त भान प्रगट हुआ है, परन्तु राज्यका अल्प राग है इससे युद्धमें लगे हैं। जरासंघ और श्रीकृष्ण वासुदेवके बीच घनघोर युद्ध हुआ, उसमें जरासंघकी शक्ति

बढ़ गई इससे श्रीकृष्ण वासुदेव श्री नेमिनाथ भगवानसे पूछते हैं कि—प्रभो! इस जरासंधका इतना अधिक बल क्यों? यह इतनी अधिक विद्याएँ चला रहा है, इनसे यदि अपनी हार हो गई तो? नेमिनाथ भगवान श्रीकृष्णसे कहते हैं कि—अरे वासुदेव! तुम चिंता मत करो, तुम वासुदेव पद पर हो, तुम्हारी हार कभी न होगी, तुम्हें ही जीतना है। नेमिनाथ भगवानको अभी वीतरागपना, मुनिपना नहीं हुआ है इससे युद्धमें साथ गये हैं, परन्तु वह अल्प राग है, आत्माकी पृथक् अनन्त प्रतीति वर्त रही है, अनन्त कषाय दूर हो गये हैं, अल्प राग ही शेष रहा है, इससे नेमिनाथ भगवान भी युद्धमें गये हैं; अन्तरका माप बाह्य क्रियासे नहीं हो सकता।

ज्ञानी परको अपना नहीं मानता; परसे लाभ-हानि नहीं मानता इससे अल्प कषाय है और अज्ञानी परको अपना मानता है, पर द्वारा अपना भला-बुरा मानता है इससे अनन्त कषायवान है। तालाबकी सतह ऊपरसे समान दिखाई देती है परन्तु अन्दरसे फेर है, उसीप्रकार अज्ञानीके भावोंमें अन्तर होता है।

शरीरकी क्रिया अधिक हो तो अधिक कषाय और शारीरिक क्रिया न करता हो, सीधा सादा बैठा हो तो अल्प कषाय है—ऐसा नहीं समझना है; कषायका माप बाह्यसे नहीं है, परन्तु अन्तरसे कितना रस कम हो गया है उस परसे कषायका माप है। बिल्ली चुपचाप चूहेको पकड़नेके लिये बैठा हो या सो रही हो इससे अल्प कषाय है—ऐसा नहीं है परन्तु अन्तरकी क्रूरतासे कषायका माप है बाह्यक्रियासे नहीं। ज्ञानीके युद्ध प्रसंगमें शरीरकी क्रिया अधिक होती है, इससे उसके अधिक कषाय है—ऐसा नहीं समझना और अज्ञानी चुपचाप ध्यानमें बैठ गया हो इसलिये अल्प कषाय है—ऐसा भी नहीं समझना है। अज्ञानीको ऐसा भान नहीं है कि मैं क्रोधसे भिन्न हूँ, किन्तु मैं क्रोध-स्वरूप ही हूँ—ऐसा मानकर करने योग्य मानकर क्रोध करता है; इससे उसे रागादिमें कर्ताबुद्धिवालेका ज्ञानस्वभावको [illegible] अनन्तानु-बन्धी क्रोध होता है उसके भेदज्ञान नहीं रहता, अनन्त संसार होता

श्रोत्रेन्द्रियको अपना माने वह अज्ञान है; श्रोत्र अर्थात् कान; मैं कानसे ही सुन सकता हूँ, जान सकता हूँ—ऐसा जो मानता है उसके अभिप्रायमें कान ही आत्मा है—ऐसा आ गया। कानमें अपनापन माना, जाना और उसमें लीन हुआ वह अज्ञान है। इसीप्रकार आँखमें अपनापन मानता है कि—मैं आँखके विना देख नहीं सकता, समझ नहीं सकता—ऐसा माना है, परन्तु आँखसे भिन्न मेरा ज्ञान-[illegible] है, उसीसे मैं जान सकता हूँ, समझ सकता हूँ; अपूर्ण ज्ञानमें इन्द्रियोंका मात्र निमित्त होता है, परन्तु मैं अपने ज्ञान द्वारा ही जानता हूँ, मैं इन्द्रियोंसे त्रिकाल भिन्न हूँ—ऐसा न माना और आँख [illegible] आत्माका एकत्व माना, उसप्रकार जाना तथा उसमें लीन हुआ [illegible] कारण है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी आँख सुन्दर [illegible] है, सुन्दर है, मैं और आँख एक हूँ, मैं आँखसे पृथक् नहीं हूँ [illegible] इत्यादि आँखके विषयमें अपनापन [illegible] है वह अज्ञान है।

[illegible] नाकके विषयमें अपनापन मानता है, सभी मनुष्योंके [illegible] आकार समान नहीं होता, तथा नाक भी सबकी [illegible] नहीं होती; किसीकी लम्बी, किसीकी छोटी और किसीकी [illegible] प्रकारके नाकके आकार होते हैं, [illegible] आकृति [illegible] होती है, उस आकृतिको [illegible] है और लीन होता है वह अज्ञान है [illegible]

[illegible]

शरीर ठण्डा हो जाये तो मैं ठण्डा पड़ गया हूँ, शरीर गरम हो जाये तो मैं गरम हो गया हूँ—ऐसा मानता है; शरीर मोटा हो जाये तो मैं मोटा हो गया हूँ, और पतला हो जाये तो मैं पतला हो गया हूँ, मैं स्त्री-पुरुष, जवान-वृद्ध, काला-गोरा, बलवान-निर्बल ऐसा मानता है, उसने शरीरको ही आत्मा माना है, जाना है और उसमें लीन हुआ है, वह अज्ञान है। इसप्रकार पाँचों इन्द्रियोंके विषय ज्ञेयमात्र हैं वैसा न मानकर इष्ट अनिष्ट मानना और उसीमें एकत्व माननेवाला अज्ञानी है; ज्ञानी अपना स्वरूप पाँचों इन्द्रियोंसे पृथक् ज्ञातामात्र जानते हैं।

आत्माकी वर्तमान अनित्य पर्यायमें मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति यह तीन प्रकारका विकार है; आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अविनाशी है, विकारकी पर्याय तो उत्पन्नध्वंसी है, नाशवान है, परन्तु अज्ञानी उसे अपना मानकर उसका कर्ता होता है। अज्ञानीको परसे भिन्नत्वका विवेक नहीं है, परको एकरूप मानता है वही बन्धनका कारण है। ९४।

अब इसी बातको विशेष कहते हैं:—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९५ ॥

अर्थः—तीन प्रकारका यह उपयोग "मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ" ऐसा अपना विकल्प करता है; इससे आत्मा उस उपयोगरूप अपने भावका कर्ता होता है।

जीव मिथ्यादर्शन अज्ञान और अविरति इन तीनप्रकारके [illegible] विकार द्वारा अपना ऐसा विकल्प करता है कि मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं अधर्मास्तिकाय हूँ, मैं आकाशास्तिकाय हूँ, इसी [illegible] आदिको भी अपना मानता है और उस भावका कर्ता होता है।

वास्तवमें यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन, [illegible] अविरतिरूप तीनप्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है [illegible]

अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रतिसे (-लीनतासे) स्व-परके समस्त भेदको गौण करके ज्ञेयज्ञायक भावको प्राप्त—ऐसे चेतन और अचेतनका सामान्य एक आधाररूप अनुभवन करनेसे, "मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ"-ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है।

संक्षेपसे जीवके तीनप्रकारके परिणाम हैं; विपरीत ज्ञान, विपरीत मान्यता और विपरीत स्थिरता। परको और अपनेको एकरूप माने वह विपरीत मान्यता है, परको और अपनेको एकरूप जाने वह विपरीत ज्ञान है, परमें एकरूप लीन हो वह विपरीत स्थिरता है। इसप्रकार स्व और परके समस्त भेदोंको ढंक देता है। चैतन्यका परके साथ मात्र ज्ञेयज्ञायकका सम्बन्ध है, परन्तु अज्ञानी चेतन और अचेतनका एक आधार माननेसे, एकरूप अनुभव करनेसे ज्ञेय वह मैं हूँ—इसप्रकार परज्ञेयको अपना करता है; मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं अधर्मास्तिकाय हूँ, इत्यादि विकल्पोंको अपना करता है। परम उदासीन ज्ञाता स्वभावको भूल जाता है इसलिये विकल्पोंको अपना करता है इससे परद्रव्यको भी अपना करता है। अन्य जीवको भी अपना मानता है, पुद्गलको भी अपना मानता है, गांव, नगर, देश, देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादिको अपना मानता है; वे तो सब परवस्तुएँ हैं, आत्माके ज्ञानका ज्ञेय हैं, तथापि अज्ञानी मानता है कि स्त्री, कुटुम्ब, लड़का, भाई, बहिन-आदि और हम सब एक हैं।

स्त्री है वह तो अर्द्धांगिनी है, इससे हम दोनों एक हैं—वैसी मान्यता अज्ञान है। भाई, स्त्रीका आत्मा भिन्न है और तेरा आत्मा भिन्न है, स्त्रीका शरीर पृथक् है और तेरा शरीर पृथक् है, दोनों द्रव्य बिल्कुल भिन्न हैं; स्त्री कहांसे आई और कहां जायेगी और तू कहांसे आया कहां जायेगा, दोनोंका कहीं भी मेल नहीं है, तू मोहका मारा एकत्व मानकर अज्ञानताका सेवन कर रहा है।

कितने ही कहते हैं कि—हम पिता-पुत्र दोनों एक हैं, वैसा

माननेवाला पर आत्माको और अपने आत्माको—दोनोंको एक मानता है। अरे भाई! सभी द्रव्य पृथक् हैं, कोई द्रव्य एक हो ही नहीं सकते, तूने भ्रान्तिवश एकता मान रखी है, वह संसारमें परिभ्रमण करनेका कारण है, परवस्तु जानने योग्य-ज्ञेय है, और तू ज्ञाता है, परन्तु भ्रान्तिवश अज्ञानी ज्ञेय और ज्ञानको एक मानता है। मेरा आत्मा और परका आत्मा-हम दोनों एक ही वृक्षकी शाखा हैं—ऐसी मान्यता बिल्कुल अज्ञान है; पुद्गलद्रव्य और आत्मा दोनोंका आधार पृथक्-पृथक् है—ऐसा न मानकर, दोनोंका आधार एक है—वैसा मानता है वह अज्ञानता है।

धर्मास्तिकाय तो गतिमें निमित्तमात्र है, वहाँ अज्ञानी मानता है कि धर्मास्तिकाय और मैं-दोनों एक हैं। जो ज्ञेय और ज्ञानको भिन्न नहीं कर सकता वह धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति इत्यादि समस्त ज्ञेयोंको एक मान रहा है। धर्मास्तिकाय आदिका जो विकल्प आवे उससे अपनेको पृथक् नहीं जानता, इसलिये धर्मास्तिकायको ही अपना मानता है।

कितने ही कहते हैं कि हम धर्मास्तिकायको जानते ही नहीं और देखते भी नहीं हैं इसलिये उसे हम अपनेरूप नहीं मानते। परन्तु शास्त्रमें धर्मास्तिकायका नाम जो सुना है! उससे धर्मास्तिकायका विकल्प आता है और उस विकल्पसे अपनेको भिन्न ज्ञाता-स्वभावरूप नहीं जानता, विकल्प और मैं दोनों एक हैं—ऐसा मानता है, इसलिये धर्मास्तिकाय भी मैं हूँ—ऐसा मानता है। जीवके, पुद्गलके, [illegible] परिणमनमें ये अन्य द्रव्य निमित्तमात्र हैं—ऐसा [illegible] धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्यरूप मैं [illegible]—ऐसा मान रहा है।

[illegible]को अपना मानकर [illegible] अपना मानता है, [illegible] कुटुम्बको अपना मानकर अन्य जीवोंको अपना [illegible] और स्त्री-पुत्रादि बलीभांति [illegible] मेरा अपना [illegible]-पुत्र [illegible]

धर्मादिके विकल्पमें एकाकार हो जाता है वह अपनेको धर्मादिद्रव्यरूप मानता है।

यहाँ कर्ता-कर्मका अधिकार चल रहा है। आत्माका स्वभाव निर्मल ज्ञानघन है, आत्माकी पर्यायमें जो राग-द्वेष होते हैं वह विकार है। विकार अपना स्वभाव नहीं है; विकारमें युक्त न होकर स्वरूपमें जागृत-सावधान होना वह धर्मात्माका कर्तव्य है। परद्रव्यसे और सर्व विकल्प रागादिसे, कर्तृत्वसे अपना स्वरूप पृथक् माने वह धर्मीका लक्षण है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य मुझे सहायक हैं—ऐसा मानना मिथ्यात्व है। जो पर है सो मैं हूँ—ऐसा एकत्वबुद्धि हुए बिना ऐसा भाव ही नहीं उठता कि पर मुझे सहायता करता है। उपचार मात्रसे सहायक बोला जाता है लेकिन बनता नहीं है। परद्रव्य पर और संयोगी भाव पर दृष्टि रखना सो धर्मात्माकी दृष्टि नहीं है, परन्तु आत्माके निर्मल स्वभाव पर दृष्टि रखना सो धर्मीकी दृष्टि है।

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-परमाणु—स्कन्ध कालाणु और अन्य आत्मा—इन सभीके विकल्पमें [illegible] हो जाय, मैं ज्ञानस्वरूप पृथक् हूँ—ऐसा भान न [illegible] और [illegible] विपरीतता मानकर परद्रव्य-पर[illegible] [illegible] जो राग [illegible] है वही मैं हूँ—ऐसा मान वह अन्य द्रव्योंको अपनेरूप [illegible] है और अपनेको अन्य द्रव्यरूप मानता है। सविकल्प [illegible] हुआ उस विकल्पमें [illegible] अपनेको भूलकर एकाकार [illegible] धर्मास्तिकायादिको अपनेरूप मानता है। [illegible] परसे भिन्न है; निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टा [illegible] है [illegible] पुरुषार्थके कारण जो परद्रव्यका [illegible] है उस-उस विकल्पको जो अपनेरूप मानता [illegible] मानता है।

[illegible]

अपना माने उस रागको भला माने वह अपनेको अन्य आत्मारूप मानता है, रागी ही मानता है। ९४ वीं गाथामें ऐसा कहा था कि भावक अर्थात् मोहकर्मकी प्रकृति और भाव्य अर्थात् पुण्य-पापादिके परिणाम; उन सबसे आत्मा भिन्न है; और इस ९५ वीं गाथामें ऐसा कहा कि सर्व परद्रव्योंसे आत्मा भिन्न है।

दूसरे आत्माका हित या अहित करनेका विकल्प आया, उसमें कोई भी पर अवलम्बन लक्षमें लेकर विकल्प आता है, उस वर्तमान अवस्थामें सम्पूर्ण द्रव्य रुक जाता है, अखण्ड वस्तुका पृथक् भान नहीं रहा इससे विकारी अवस्थाको अपनेरूप किया और अन्य आत्माके हिताहितको तथा अन्य आत्माको भी अपनेरूप किया और स्वतः उसरूप हुआ; अन्य आत्माका हिताहित मैं करता हूँ अर्थात् मैं उसरूप हो जाता हूँ—ऐसी मान्यता की; इसप्रकार मोहवश होकर परद्रव्यको अपनेरूप करता है।

आत्मा त्रैकालिक अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है, उसमें अपनी भूलसे वर्तमान अवस्थामें जो पुण्य-पापका विकार होता है, परके कारण रागादि नहीं हो सकते है लेकिन उसी विकारमें जो रुक जाता है, विकारी ही मैं हूँ, विकार मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानता है वह परद्रव्यको अपनेरूप करता है। धर्मास्तिकायादि परद्रव्योंका विचार, मैं अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकता इसलिये आता है—ऐसा भान न रहनेसे मैं उससे पृथक् हूँ यह भी भान न रहनेसे, जो विचार आता है जिस विषयका राग आया उसीमें रुक जाता है, वर्तमान अंशमें ही रुक जाता है और त्रैकालिक ज्ञाता अपनेको भूलकर वर्तमान अनित्य अवस्थामें ही रुक जाता है, वह परद्रव्यको अपनेरूप करता है।

जिसप्रकार नट नाचते-नाचते डोरीसे गिरता नहीं है, वैसे ही मैं नित्य एक ज्ञायक आत्मा हूँ, ज्ञानमें जागृति करनेवाला हूँ ये निश्चयरूप डोरी चूक गया तो फिर चाहे वह तीर्थंकरदेवके पास बैठा हो, व्रतमें अथवा पूजामें बैठा हो, चाहे जिस शुभ क्रियामें बैठा हो,

परन्तु वह परद्रव्यको अपनेरूप करता है, अतः उसके चौरासीका अन्त आये वैसा नहीं है।

अज्ञानसे वह विकारका कर्ता होता है और विकार उसका कार्य होता है। देव, गुरु, शास्त्रकी ओरके शुभपरिणाममें हो, शास्त्रश्रवणमें बैठा हो परन्तु मात्र शब्दोंके पर लक्ष हो तो–मात्र शब्दोंमें ही एकाकार हो तो–शुभपरिणाममें ही एकाकार हो तो, उसे पृथक् ज्ञायक-आत्माका भान नहीं है, इससे वह परद्रव्यका कर्ता है और उसके कारण परिभ्रमणका अभाव नहीं हो सकता। ज्ञानीको ज्ञायक आत्माका भान प्रवर्तमान है, शुभाशुभ परिणामोंमें पृथक्त्वका विवेक वर्त रहा है कैसा भी राग हो वह बाधक है, दोष है ऐसा जानता है। ऐसी दशामें भी शुभपरिणाम आते अवश्य हैं, परन्तु उन शुभपरिणामोंसे तो ज्ञानीका संसार नहीं बढ़ता और अशुभ परिणामोंसे भी संसारकी वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उसको शुभाशुभ परिणामोंसे एकत्वबुद्धि दूर हो गई है, इससे संसार भी टल गया है।

कोई ऐसा कहे कि ऐसे पंचमकालमें पुरुषार्थ कैसे हो? परन्तु जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है वह कालका बहाना बतलाता है। स्वतः पुरुषार्थ करे तो काल कहीं आड़े नहीं आता, अपने पुरुषार्थका [illegible] पंचमकालमें जन्म हुआ है, उसमें कहीं कालका कारण नहीं है, [illegible] तेरा अपना ही कारण है। अपना माहात्म्य नहीं आता [illegible] पर कालकी लब्धि वगैरह नाम लेकर दूसरोंके बहाने निकालता है। अपने स्वभावका माहात्म्य आये तो राग-द्वेष भी घटता है। [illegible] द्वेषको दूर करनेवाला कैसा और कितना है—इसका माहात्म्य [illegible] बिना यथार्थतया राग-द्वेष कम नहीं होता, तो फिर दूर करनेकी [illegible] स्वरूपके भान बिना कदाचित् कषायको मन्द करे तो पुण्य [illegible] स्वर्गमें चला जाय परन्तु भवका अन्त नहीं होता।

चैतन्य वीतरागस्वभावी, राग-द्वेषरहित स्वतत्त्व कैसा है—उसका भान और एकाग्रताके आश्रयके बिना अन्तरमें राग-द्वेष दूर किये ही नहीं जा सकते।

ऐसी मान्यता कब होती है कि जब वह माने कि पर और मैं एक हूँ। दो द्रव्योंको एक माने बिना ऐसा भाव ही नहीं आता कि मैं परको लाभ-हानि कर सकता हूँ। परमें देव-गुरु-शास्त्र सभी आ गये। अज्ञानके कारण विपरीत भावोंमें कर्ताकर्मपना है, अज्ञान ही कर्म-बन्धनको उत्पन्न करनेका कारण है, अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम अपनेको धर्मादि-द्रव्यरूप मानता है, इससे वह अज्ञानरूप उपाधिपरिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है ॥ ९५ ॥

"इससे कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ"—ऐसा अब कहते हैं:—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाण भावेण ॥ ९६ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ ९६ ॥

अर्थः—इसप्रकार मन्दबुद्धि अर्थात् अज्ञानी, अज्ञानभावसे पर-द्रव्योंको अपनेरूप करता है और स्वतःको पर करता है।

आत्मा तो निर्विकल्प वीतरागस्वरूप है, इससे जो अनभिज्ञ है वह मंदबुद्धि है—अज्ञानी है; फिर चाहे वह भले ही [illegible] हो, बड़ा प्रधान हो या धर्मशास्त्रका पाठी हो परन्तु जिसको आत्माका भान नहीं है उन सबका समावेश मन्दबुद्धिमें हो गया।

अज्ञानी जीव परको अपना मानता है और अपनेको पर मानता है, परमें लीन होता है और परको अपना बनानेका प्रयत्न करता है परन्तु वह कभी अपना नहीं होता।

इसप्रकार अज्ञानी आत्मा 'मैं क्रोध हूँ' [illegible] 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादिकी भाँति परद्रव्योंको अपनेरूप करता है और अपनेको भी परद्रव्यरूप करता है।

आत्मा क्रोधादि विकारसे रहित है [illegible] परन्तु अज्ञानी जो विकार सहित और [illegible] हूँ—[illegible]

आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तवीर्य ऐसे अनन्त-अनन्त सामर्थ्यसे भरपूर वर्तमानमें ही है। समय-समय इकट्ठे होकर आत्मा अनन्त है—ऐसी अनन्तता नहीं है परन्तु वर्तमान प्रत्येक समयमें ही अविनाशी अनन्त सामर्थ्यवाले परिपूर्ण भावसे भरा हुआ है इससे अनन्त है,—ऐसा आत्माका नित्य अपार स्वभाव है।

वर्तमान अनित्य पर्यायमें क्रोध, मान, माया और लोभके जो परिणाम होते हैं उनकी सीमामें तू आ जाये—इतना तू नहीं है, तू तो अपार है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय इत्यादि द्रव्योंका अवलम्बन ले-उतना तू नहीं है परन्तु तू उन सबसे रहित अपार-अमर्यादित ज्ञानानन्द स्वभाववाला है, उन सब द्रव्योंकी तुझमें नास्ति है।

आत्मा शुद्ध चैतन्य धातुमय है; जो आत्माके अनन्त-अपार पूर्ण स्वभावको धारण कर रखे वह नित्य चैतन्यधातु आत्मा अपार स्वभाववाला है, परका अवलम्बन लेकर परकी ओर रुके वह आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्मा स्वतः अपनेको जानता है और अपनेसे पृथक् सर्व परद्रव्योंको भी जानता है—ऐसा अपार स्वभाव आत्माका वर्तमानमें ही है, उतना अपार सर्वज्ञ आत्माको न माने परन्तु क्रोध, मानादि विकार जितना ही माने वह संसारका कारण है। वह पाप बहुत उच्च है। आत्माके अपार स्वभावकी प्रतीति-विश्वासमें ले आओ, ऐसा कहते हैं।

आत्माके ज्ञान-श्रद्धा-शान्ति-वीर्य इत्यादि स्वभावका सामर्थ्य अमाप है, अपार है, त्रिकाल स्थायी है। आत्मा अपने अखण्ड स्व-भावसे च्युत होकर किसी एक समय मात्र भी विकारीरूप नहीं हुआ, तथापि अज्ञानके कारण अपनेको सविकार और शरीररूप मानता है। स्वभावके सामर्थ्यका भान न होनेसे वर्तमान विकार जितना ही अपनेको मानता है अर्थात् अपनेको सविकार मानता है।

क्रोध, मान, माया, लोभको अपना मानना सो सविकार परिणाम है और छह द्रव्योंको अपना मानना वह सोपाधिक चैतन्यपरिणाम है, वे विकारी परिणाम चैतन्यमें हुए, इसलिये उन परिणामोंवाला होता हुआ, उसप्रकार मैं होनेवाला हूँ—वैसा उसे भासित होता है, परन्तु परको अपना माननेमें मूल कारण अज्ञान है।

अज्ञानी विकारी परिणामोंमें एकमेक होकर ऐसा मान लेता है कि वे मेरे हैं, परन्तु ज्ञानी वैसा नहीं मानते; ज्ञानीको विकारका भय नहीं लगता कारण कि उसने नित्य अविकार स्वभावमेंसे निःशंक साधकदशा प्रगट की है, इससे पूर्ण वीतरागता कैसे प्रगट की जा सकेगी–ऐसा उसे संशय–भय नहीं लगता; ज्ञानीने अमुक अंशमें वीतराग-स्वभावकी जाति प्रगट की है, इससे वह पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हुए भयभीत नहीं होता।

श्रीमद् राजचन्द्रने उदाहरण दिया है कि सिंहनीको सिंहका भय नहीं होता, नागिनको नागका भय नहीं होता, कारण कि उस प्रकारका अज्ञानभाव उसके दूर हो गया होता है। मुझे यह दुःख देगा, उस-प्रकारका अज्ञानभाव उसके टल गया है; यह मुझे दुःख नहीं देगा परन्तु मेरी रक्षा करेगा—वैसी उसे समझ है, इससे सिंहनीको सिंहका और नागिनको नागका भय नहीं लगता। वस्तु भय नहीं कराती परन्तु अज्ञान भयका कारण है। मनुष्योंको सिंहका भय लगता है, वह सिंहके कारण नहीं लगता परन्तु अपने अज्ञानके कारण लगता है। सिंहके कारण यदि भय होता हो तो सिंहनीको भी भय होना चाहिये।

कोई पुरुष किसीका खून करके आये, अथवा चोरी करके धन लाये तो उसकी स्त्रीको उसका भय नहीं होता, क्योंकि उसे ख्याल है कि यह मुझे प्रतिकूलता करनेवाला नहीं है, किन्तु अनुकूलता करनेवाला है।

उसीप्रकार ज्ञानीके अपने चारित्रमें गलतीके कारण अल्प राग-द्वेष, क्रोध-मान आदि होते हैं, परन्तु वह समझता है कि यह

विकार मेरे नित्य स्वभावमें नहीं है, किन्तु पुरुषार्थकी दुर्बलतासे होते
हैं, किन्तु स्वभावकी सीमासे च्युत होकर वे परिणाम होते ही नहीं।
ज्ञानीका पुरुषार्थ इतना तीव्र है कि उसे विकारी परिणामोंका ऐसा
भय नहीं लगता कि यह परिणाम मेरे स्वभावसे च्युत कर देंगे तो।
ज्ञानी अपने और विकारके स्वरूपको बराबर जानता है। वह समझता
है कि मैं अनन्त सामर्थ्यवाला आत्मा हूँ, विकारी परिणामोंमें इतनी
सत्ता नहीं है कि मुझे स्वभावसे च्युत कर दे। जहाँतक पूर्ण वीतराग
नहीं होता वहाँतक ज्ञानीको अल्प राग-द्वेष होते हैं, परन्तु उसने
अंशतः वीतरागस्वभाव प्रगट किया है इससे पूर्ण वीतरागता प्रगट
करते हुए वह भयभीत नहीं होता।

राग-द्वेष-मोह करने योग्य है, शुभराग चाहिये, ऐसा माननेवाला
अज्ञानी अपनेको पुण्य-पापके विकार जितना ही मानता है, उस दोषका
मूल अज्ञानभाव है। लोग कहते हैं कि-हम नीति करते हैं, परन्तु मैं
आत्मा कौन हूँ? मेरा क्या स्वभाव है? उसे जाने बिना अभिप्रायमें
अनीतिके ढेरके ढेर पड़े हैं, वस्तुका स्वभाव जैसा है उसे वैसा—
यथावत् न माने और अन्य प्रकार माने वही सच्ची अनीति है।

जिसप्रकार-लोकमें झूठ बोले उसे अनीति कहते हैं, वैसे ही
वस्तुस्वभाव जैसा है उसे वैसा ही न मानकर विपरीत माने वह झूठा
हुआ, इसलिये वही महान अनीति है। अमर्यादित ज्ञानानन्दमय [illegible]—
शक्तिसे परिपूर्ण ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा है—उसके भान बिना [illegible]
दूर नहीं होता और जहाँतक भेदविज्ञान द्वारा आत्माका भान नहीं है
वहाँतक पुण्यपापको और उपयोगको [illegible]
विकारी परिणामका मूलकारण अज्ञान है, [illegible] नहीं होता। [illegible]
अविवेक भी अज्ञान है— [illegible]

[illegible]

ज्ञानमें परद्रव्य आदि [illegible] मेरे ज्ञेय हैं, उनके बिना मेरा ज्ञान विकसित नहीं हो सकता, —इसप्रकार [illegible] जिसप्रकार भैंसका ध्यान करनेसे ऐसा अध्यास हो गया कि मैं भैंसा हूं, उसीप्रकार परद्रव्योंका विचार करनेसे मैं परद्रव्य हूं अर्थात् परद्रव्यका आलम्बन [illegible] ऐसा अध्यास अज्ञानीको हो जाता है। भूताविष्टकी भांति, विकार भावोंको अपना माननेरूप भूत लगा और ध्यानाविष्टकी भांति, ज्ञेयको जाननेसे मैं ज्ञेयमय हो गया हूं—ऐसा भ्रम हो गया; जिसप्रकार आरोचक आचार्यके उपदेशसे भैंसेके ध्यानमें रुक गया, वैसे ही अज्ञानीको कोई ऐसा गुरु मिला कि आत्माका विचार नहीं किया और धर्मादिके विचारमें ही रुक गया। अपना उपादान ऐसा होता है, इससे ऐसा निमित्त मिल जाता है।

आचार्यदेवने टीकामें कहा है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—वे सब मनके विषय हैं, शुभभावके विषय हैं अर्थात् उसका यह प्रयोजन है कि स्त्री–कुटुम्ब, देव-गुरु-शास्त्र–वे सभी मनके विषय हैं; सम्मुख त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव हों तो वह भी मनके विषय हैं। आत्माका विषय सहजस्वभाव है; आत्मा स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यवाला अनन्तगुणोंका पिण्ड है वह आत्माका विषय है। मनका लक्ष जाये तो शुभाशुभ भावों रुक जाता है, मनका विषय पर

तक है। पुस्तक, पृष्ठ, देव, गुरु, शास्त्र एक परमाणुसे लेकर त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव—वे सभी मनके विषय हैं। मनका विषय परपदार्थ है। आत्माके सहज स्वभावके भानका पुरुषार्थ करते समय मन साथ होता है, परन्तु उस समय मन प्रधान नहीं है किन्तु आत्मा प्रधान है; आत्माका भान आत्मा द्वारा होता है परन्तु मन तो साथमें उपस्थितरूपसे आ जाता है। वास्तवमें मनका विषय पर है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गल अन्य जीव इत्यादि विचारमें आनेसे, जैसे मैं पररूप हो गया हूँ—ऐसा अज्ञानीको लगता है। आत्माकी एकाग्रताके अंशमें परके ऊपर लक्ष नहीं जाता, आत्माकी एकाग्रताके विषयमें पर आता भी नहीं है। शुभाशुभभाव होता है तब उसका विषय परद्रव्य है। मनका विषय भी परद्रव्य है। विषय अर्थात् लक्ष्य और लक्ष्य अर्थात् ध्येय, ध्येय अर्थात् साध्य।

धर्मास्तिकायका विचार शुभराग है; आकाशास्तिकायका विचार शुभराग है, परमाणुका विचार भी शुभराग है, अन्य जीवका विचार भी शुभराग है, अब और क्या बाकी रहा? सभी आ गये। स्त्री, कुटुम्ब, व्यापार-धन्धा इत्यादिका विचार सो अशुभराग है और देव, गुरु, शास्त्र तथा धर्मका कोई विचार आये यह शुभराग है।

शुभाशुभभावसे आत्माका सहजस्वभाव पृथक् है। मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ, मेरा स्व-स्वभाव शुभाशुभभावसे पृथक् ज्ञानानन्दस्वरूप है, मैं अपनेसे ज्ञाता हूँ, सहजस्वभावरूप हूँ; मैं अपनेको और समस्त लोकको जानूँ—ऐसा मेरा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। मैं अपूर्ण हूँ इसलिये अशुभसे बचनेके लिये यह शुभभाव आता है, [illegible] पड़ता है,—ऐसा भान ज्ञानीके वर्तता है। [illegible] भान होने पर भी अशुभ भावसे बचनेके लिये देव [illegible] आते हैं, परन्तु मेरा ज्ञान मेरे द्वारा होता है किन्तु [illegible] होता है—ऐसा भान ज्ञानीके वर्तता है।

मनके विषयरूप छह द्रव्यों [illegible]

होनेसे, तथा इन्द्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों द्वारा (अपना) केवलबोध (ज्ञान) आच्छादित होनेसे और मृतक कलेवर (शरीर) द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वतः) मूर्च्छित हुआ होनेसे उस-प्रकारके भावोंका कर्ता प्रतिभासित होता है।

अपने ज्ञायकस्वभावको ज्ञान द्वारा धारण कर रखना चाहिये उसके बदले मनके विषयमें शुद्ध चैतन्यधातु रुक गई, शुद्ध चैतन्यस्वभाव मनके विषयमें रुका होनेसे, धर्मादिके विचारमें शुभाशुभ भावमें शुद्ध चैतन्यधातु रुक गई। मैं परका अवलम्बन लूँगा तभी स्थित रह सकूँगा—ऐसा मानकर परमें रुका, इससे चैतन्यधातु वहाँ रुक गई।

सिद्ध भगवान, अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, मुनिराज यह पंच परमेष्ठी अरूपी हैं, और धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, काल-यह पदार्थ भी अरूपी हैं। वे सभी अरूपी पदार्थ मनके विषयमें आ सकते है, परन्तु मैं उनसे भिन्न हूँ—ऐसा भान न करनेसे मनको और मनके विषयको एक करता हुआ वहाँ रुका होनेसे ज्ञेय-ज्ञायकको एक करता है।

अब, पाँच इन्द्रियोंके विषय जो रूपी पदार्थ हैं, उनके वर्णमें, रसमें, गंधमें और स्पर्शमें रुका होनेसे केवलबोध ढँका हुआ है; केवल-बोध ढँका हुआ होनेसे, मृतक-कलेवर—ऐसा जो शरीर है, उसके द्वारा परम अमृत विज्ञानघन मूर्च्छित हुआ है। यह शरीर तो मृतक कलेवर ही है न! मुर्दा ही है न! जब जीव हो तब शरीरको सचेत कहा जाता है, वह मात्र चैतन्यके साथ है, उस अपेक्षासे उपचारसे कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें तो जीव होने पर भी शरीर तो मुर्दा ही है। मात्र शरीरको उसके उपादानसे लक्षमें लो तो वह मुर्दा ही है; जीव रहित मृतक कलेवर ही है; उसे जीवित कहना वह पानीके घड़ेकी भाँति है। घड़ा तो वास्तवमें मिट्टीका ही है, परन्तु पानीके संयोगसे उसे पानीका घड़ा कहा जाता है, किन्तु वास्तवमें घड़ा पानीका नहीं होता। उसीप्रकार शरीर तो मरा हुआ-मुर्दा ही है परन्तु जीवके संयोगसे उसे

सचेत कहा जाता है, किन्तु यथार्थतया वह सचेत नहीं है, उपचारसे सचेत कहते हैं।

एकेन्द्रिय या दो इन्द्रिय जीवका शरीर, मनुष्यका शरीर, देवका शरीर, नारकीका शरीर—इसप्रकार जो भी कहा जाये वह सब पानीके घड़ेकी भांति है। जीव है वह शरीरमय नहीं होता; यदि जीव शरीरमय हो जाता हो तो एक शरीरमेंसे निकलकर दूसरा शरीर कैसे धारण कर सकेगा? इसलिये जीव उन शरीरमय नहीं होता, किन्तु जीव ऐसे-ऐसे भाव करता है इससे उस-उस प्रकारके शरीर मिलते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि जीव जीवरूप—ज्ञानरूप ही है और शरीर मृतक कलेवर है।

परम अमृत विज्ञानघन अमृतका पिण्ड आत्मा अज्ञानके कारण शरीररूप मरे हुए-मुर्देमें मूर्छित हुआ है। मुर्देकी कितनी चिन्ता करना है! सवेरे उठकर शौचको जाना, दातुन करना, खाना-पीना और शरीरमें रोग हो तो घूमने जाना इत्यादि अनेक प्रकारकी चिन्ता; चौबीस घण्टेका टाइम टेबल बनाकर रखता है, तो भी यह शरीर तो मुर्दा ही है। मुर्देकी कितनी चिंता करेगा? इसलिये भाई! शरीरकी चिंता छोड़कर आत्माका भान कर! परम अमृत विज्ञानघन मुर्देमें क्यों मूर्छित हुआ है? मुर्देमें क्यों फंसा है? अब जागृत होकर आत्माका भान कर! और उसमें स्थिर हो जा! आचार्यदेवने शरीरको मुर्दा कहा है और उसके समक्ष आत्माको परम अमृत विज्ञानघन कहा है।

छह पदार्थोंके विचारमें चैतन्यमात्र एक कहे, पाँच इन्द्रियोंके विषयमें केवलबोध ढँक गया और परम अमृतरूप विज्ञानघन [illegible] मृतक कलेवरमें मूर्छित हुआ है। पहले वाक्यमें एक [illegible] कहा और दूसरेमें ढँक गया कहा तथा तीसरे वाक्यमें मूर्छित हुआ कहा—इसप्रकार तीनों वाक्योंमें [illegible] है।

इस शरीरको मुर्देकी उपमा दी है। आत्मा तो [illegible] मूर्त है, परन्तु [illegible] भी [illegible] नहीं [illegible] स्वभाव [illegible] पापके परिणाम भी [illegible] होनेसे [illegible]

अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर है, इससे उसे ऐसा लगता है कि पर और मैं—दोनों एक हो गये हैं, इससे उसे शुभाशुभभावोंका स्वाद आनेसे ऐसा मानता है कि पर और मैं-दोनों एक हो गये हैं। एकमेक हो जानेका अर्थ यह है कि आत्माके स्वादके आनन्दसे च्युत होकर पुण्य-पापके स्वादका ही अनुभव करता है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि थोड़ा आत्माका निर्मल आनन्द और कुछ परका आनन्द, परन्तु अज्ञानी परका और अपने आत्माका पृथक्त्व न जाननेसे दोनोंको एकमेक मानता है, इससे परके और अपने मिश्रित स्वादका अनुभव अज्ञानी करता है—ऐसा कहा है। अज्ञानी मात्र विकारी स्वादका ही अनुभव करता है परन्तु निर्विकारी स्वादका किंचित् अनुभव नहीं करता।

पाँच सेर दूधमें मात्र आधा तोला विष मिला दिया जावे तो उसे विषका ही स्वाद आयेगा किन्तु दूधका बिलकुल स्वाद नहीं आयेगा; इसीप्रकार आत्माका तो मात्र आनन्दस्वभावी है, उसका स्वाद दूध जैसा मीठा है, किन्तु उसमें विपरीत दृष्टिके [illegible] कारण मात्र आकुलताका ही स्वाद लेता है, राग-द्वेषका ही स्वाद लेता है, मलिन स्वाद लेता है। अशुभभाव तो आकुलता है ही, परन्तु शुभभाव भी आकुलता है। दोनों चेतनस्वभावसे विरुद्ध औपाधिक भाव हैं। [illegible] हुआ इसलिये ऐसे आकुलित स्वादमें लीन हुआ है, [illegible] लीन हुआ है।

आचार्य कहते हैं कि [illegible]

है, लड्डूके स्वादकी खबर भी नहीं रहती। इसलिये सिद्ध होता है कि लड्डूका रस नहीं किन्तु अपने रागका रस है। रागका स्वाद आकुलित है और आत्माका निर्विकारी स्वाद अद्भुत एवं निराकुल है।

मिष्टान्नका भोजन कर रहा हो, उस समय लड़का परदेशसे आये तो लड़केके रागमें लग जाता है और भोजनमें क्या खा रहा था उसका ध्यान भी नहीं रहता, इसलिये भोजनमेंसे स्वाद नहीं आता परन्तु अपने रागका स्वाद आता है। इसप्रकार सभी प्रकारोंमें समझ लेना चाहिये कि पुद्गलमेंसे स्वाद नहीं आता परन्तु अपने रागका-विकारी पर्यायका स्वाद आता है।

परवस्तुको जाननेसे ज्ञान उसमें रुक जाता है, रुका इससे राग हुआ; उससे अज्ञानीको ऐसा लगता है कि परमेंसे रस आया; इससे वह रागके स्वादमें अटक जाता है; अरागी स्वादसे च्युत होकर रागके स्वादमें एकमेक हो जानेसे उसकी भेदसंवेदनशक्ति मुँद गई है।

मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, मुझमें ही आनन्द है, वह आनन्द निराकुल है, सुखमय है, शाश्वत है और रागका रस परजनित है; आकुलित है, दुःखमय है, क्षणिक है—ऐसी स्व-परके स्वादकी भिन्नताका विवेकी ज्ञान न होनेसे, भेदज्ञान न होनेसे जिसकी भेदसंवेदनशक्ति मुँद गई है—ऐसा अनादिसे ही है, इससे वह परको और अपनेको एकरूप जानता है। मैं क्रोध हूँ, मैं मानस्वरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं शरीर हूँ, मैं ठिगना हूँ, मैं ऊँचा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं बोलनेवाला हूँ, इत्यादि परमें आत्मविकल्प करता है अर्थात् परमें अपनेपनका विकल्प करता है, इससे निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन-स्वभावसे भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

आत्माका स्वभाव निर्विकल्प है, आत्मामें शुभाशुभभावोंके विकल्प नहीं हैं, ज्ञानमें शुभाशुभरागसे भेद पड़े वह विकल्प है, वह विकल्प कृत्रिम है, कारण कि वह प्रतिक्षण परनिमित्तके आश्रयसे

वाला नवीन भाव है, भेदरूप भाव है, वह सहज-अकृत्रिम भाव
है, आत्मा तो अकृत्रिम स्वभावरूप है। परपदार्थको अपना मानने
[illegible]-अपनेरूप विकल्प करनेवाला कृत्रिम और अकृत्रिम स्वभावका
नहीं कर सकता।

जो मनुष्य खानेका लालची हो वह शक्कर और मिश्रीके
टुकड़ोंका स्वाद पृथक्-पृथक् नहीं जान सकता, शक्कर और मिश्रीके
टुकड़ोंके स्वादमें अन्तर होता है, परन्तु खानेका लालची यह नहीं जान
ता कि उस स्वादमें कहाँ भेद पड़ता है—क्या अन्तर है; इसीप्रकार
[illegible]नी परमें आसक्त होता हुआ अपना निर्विकल्प, अकृत्रिम स्वभाव
[illegible] परकी आसक्तिवाले नवीन होनेवाले कृत्रिम विकारी भाव, उनमें
[illegible] नहीं कर सकता और विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट होता हुआ अनेक
[illegible]कल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर ही है, इसमें परका ऐसा कर दूँ
और यह कर दूँ, ऐसा होना चाहिये, इसप्रकार परकी आकांक्षा [illegible]
[illegible] ही रहती है। परन्तु तू चाहे जितना कर इत्यादि पुण्यके उदय बिना एक
पैसा भी नहीं मिलेगा, मात्र विकल्प ही करता रहेगा, कुछ दूर नहीं
होगा। मैं एक परसे निराला ज्ञाता हूँ—ऐसा भान करने से समस्त
पराश्रय दूर हो जायेगा। ज्ञानस्वरूप आत्माको पहिचाने और उसमें
स्थिर होनेसे कर्तृत्व दूर हो जाता है, और अकर्तृत्व ज्ञातास्वभाव [illegible]
जाता है।

यह कर्त्ता-कर्मका अधिकार और [illegible] है।
[illegible]में अज्ञानीके कर्तृत्वकी बात हो गई, [illegible] है।

जब आत्मा ज्ञानी होता है [illegible]
[illegible] पृथक्-पृथक् [illegible]
और [illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]

हिरन अज्ञानके कारण मृगजलमें जलकी बुद्धि करता है अर्थात् रेतीली भूमिमें सूर्यकी किरणें पड़नेसे दूरसे पानी सदृश्य दिखाई पड़ता है, उसे हिरन पानी मानकर पीनेको दौड़ता है परन्तु वास्तविक पानी नहीं है, पानीकी झलक देखकर मूढ़ हिरन पानी पीनेके लिये दौड़ता ही रहता है। उसे इतनी भी खबर नहीं है कि इतना मार्ग तय करके आया तथापि ठण्डी हवा भी नहीं लगती; मेरी दृष्टिमें पानी दिखाई दिया वहाँतक मैं आया, फिर भी दूर-दूर बढ़ता ही जा रहा हूँ, इसलिये दूर तो दूर ही है; निकट है ही नहीं, अर्थात् पानीकी झलकमें यथार्थ पानी है ही नहीं—वैसा न समझकर पीने दौड़ता है और पश्चात् दुःखी होता है।

उसीप्रकार आत्मा अज्ञानके कारण राग-द्वेषमें सुख है—ऐसा मानता है; दूर-दूर सुखकी कल्पना करता रहता है। क्षणमें मानता है कि यह लड़का मुझे सुखरूप है; और फिर मानता है कि लड़का नहीं, लेकिन स्त्री सुखरूप है; पश्चात् मानता है कि स्त्री भी नहीं किन्तु धन सुखरूप है: इसप्रकार दूर-दूर सुखकी कल्पना करता रहता है।

कोई ऐसा कहता है कि पुण्यपरिणाम करके देवगतिमें जाऊँगा, वहाँ सुख भोगूँगा; परन्तु अरे मूढ़! देवगतिमें कहाँ सुख है? वह तो संसारकी गति है। जिसप्रकार हिरनको दृष्टिभ्रमपूर्वक दौड़नेसे पानीकी तृप्ति नहीं होती उसीप्रकार अज्ञानीको परके ऊपर दृष्टि होनेसे कहीं सुख-शांति नहीं मिलती, तथापि उसमें सुख मानना नहीं छोड़ता।

और कितने ही कहते हैं कि यहाँ पर बाल-बच्चोंको सुखी करके और फलता-फूलता देखकर मरें तो सुखी कहलायें; परन्तु भाई! यह सब छोड़कर तुझे कहाँ जाना है उसकी कुछ खबर है! अपने आत्माको भी कुछ हरा-भरा किया है कि मात्र बाहरका ही फलता-फूलना देखना चाहता है। आत्मामें हरीभरी फुलवारी प्रगट किये बिना सुख है ही नहीं—दुःख ही है।

पुनश्च, अनेक मनुष्य कहते हैं कि बचपनमें तो धर्म किया नहीं जा सकता, इसलिये जब जवान हो जाएँगे तब धर्म करके सुखी होंगे। फिर जवान होते हैं तो कहते हैं कि वृद्धावस्थामें धर्म करेंगे; परन्तु भाई! धर्म बचपन, जवानी अथवा वृद्धावस्थामें नहीं है, परन्तु आत्मामें है, उसमें ढूंढ़ तो सुखी होगा।

अज्ञानके कारण रस्सीमें सर्पका अध्याय होनेसे, रस्सीमें सर्प मान लेनेसे—अरे! यह सर्प है; ऐसा करके लोग भयभीत होकर भागते हैं; परन्तु भाई, ठहर तो, देख तो सही! यहाँसे सब आ-जा रहे हैं तो भी वह हिलता तक नहीं है, ज्योंका त्यों पड़ा है; इसलिये सर्प नहीं रस्सी है—ऐसा निश्चित् तो कर! निश्चित् करके दौड़धूप करना छोड़ दे।

जिसप्रकार रस्सीमें सर्पका आरोप करके दौड़ा, उसीप्रकार अज्ञानी परपदार्थमें सुखका आरोप करके दौड़धूप करता है; परन्तु अपना स्वभाव उदासीन ज्ञाता है, शुद्ध शान्त पवित्र है, उसे न जाननेसे, उसकी श्रद्धा न करनेसे परमें आकुलित होकर परका कर्ता होता है। मनुष्योंको निवृत्ति लेकर अन्तरमें समझनेकी और हित करनेकी दरकार ही नहीं है, आकांक्षा ही नहीं है, इससे जिसमें अपना हित है उस हितके मार्ग पर नहीं चलते।

जिसप्रकार समुद्रमें पवनके वेगके कारण तरंगोंके समूहके समूह उछलते हैं, वैसे ही अज्ञानीको अज्ञानके कारण राग-द्वेषरूप विकल्पों की तरंगें उठती हैं; क्षणमें ऐसा होता है कि व्यापार करना चाहिये, और क्षणमें ऐसा लगता है कि सट्टा करे तो पैसा जल्दी एकत्रित हो। फिर, विचार करता है कि लड़के का विवाह कोई अच्छा सम्बन्ध ढूंढ़कर जल्दी कर दूं तो अच्छा है; पश्चात् विकल्प करता है कि यह लड़कियां बड़ी हो गई हैं, यदि इनका सम्बन्ध जल्दी हो जाये तो अच्छा है, लड़कोंकी तो कोई चिन्ता नहीं है। फिर दूसरा विकल्प उठता है कि इस शरीरमें कुछ-कुछ रोग सा रहता है, अगर मिट जाये तो अच्छा है; और बादमें सोचता है कि रोग तो जब मिटना होगा

तब मिट जायेगा परन्तु अभी तो भूख लगी है इसलिये या तो लूं—आदि अनेक प्रकारके विकल्प करता रहता है; क्रोधके, मानके, मायाके, इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्पोंके ढेरके ढेर करता रहता है; आत्मा तो शुद्ध ज्ञानघन है, परन्तु उसकी प्रतीति न होनेसे अनेक प्रकारके विकल्पोंका कर्ता होता है।

समुद्र पवनसे क्षोभ पाकर तरंगित होता है, उसीप्रकार चैतन्य-भगवान रागके विकल्पोंसे डोलता है। अनेक प्रकारकी आकुलताकी वृत्तियोंसे डँवाडोल है, उनमें किंचित् शान्ति नहीं है, तथापि अविनाशी सुखसे पूर्णरूप आत्माकी श्रद्धा नहीं करता इससे दुःखी होता ही रहता है।

अपने आत्माको जाननेका प्रयत्न करे कि मैं तो ज्ञाताज्योति हूँ, जो कुछ हो उसे जानते रहना ही मेरा स्वरूप है; परन्तु ऐसा हुआ और नहीं हुआ आदि विकल्प करना मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसे अपने मुक्तानन्दस्वरूपकी श्रद्धा और ज्ञान करे तथा उसमें स्थिर हो, वही सुखका उपाय है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही सुखका उपाय है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई सुखका उपाय नहीं है।

आत्मा ज्ञानसे कर्ता नहीं हुआ है—ऐसा अब कहते हैं:—

(वसंततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥५९॥

अर्थः—जिसप्रकार हंस दूध और पानीके विशेषको (अन्तरको) जानता है, उसीप्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होनेसे, परके और अपने विशेषको जानता है वह (जैसे हंस मिश्रित हुए दूध-जलको पृथक् करके दूध ग्रहण करता है उसप्रकार) अचल चैतन्यधातुमें आरूढ़ होता हुआ (अर्थात् उसका

आश्रय करता हुआ) मात्र जानता ही है, कुछ भी नहीं करता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता)।

हंसकी चोंचमें खट्टापन होनेसे जब वह दूधमें चोंच डालता है तब दूधका लोचा हो जाता है और पानी पृथक् हो जाता है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान द्वारा सच्चा बोध हुआ होनेसे-सच्चा विवेक हुआ होनेसे, परकी और अपनी भिन्नताको जानता है कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ और यह राग-द्वेष परवस्तु हैं। जिसप्रकार कोई संसारका बुद्धिमान-चतुर मनुष्य संसारका रसिक होनेसे बाजारमें चावल लेने जाये, वहाँ वह घटिया-बढ़ियाका विवेक करता है; उसीप्रकार ज्ञानी अपने स्वरूपानन्दका रसिक होनेसे निर्विकारी, ज्ञानस्वभावी आत्माका और राग-द्वेषरूप विकारी भावोंका विवेक करता है, पृथक् जानता है।

जिसप्रकार हंस मिश्रित हुए दूध-जलको पृथक् करके दूधको ग्रहण करता है, उसीप्रकार धर्मात्मा-ज्ञानी जीव अचल चैतन्यमें आरूढ़ होता हुआ, अपने स्वभावका आश्रय करता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है—साक्षीरूप ही रहता है, परन्तु अज्ञानमय भावोंका कर्ता नहीं होता।

परका और अपना पृथक् विवेक होनेसे आत्मा परका ज्ञाता ही रहता है, परन्तु कर्ता नहीं होता। ज्ञाता रहनेमें अनन्तगुनी क्रिया है। परका कर्ता नहीं हुआ और ज्ञातारूप रहा, उस ज्ञातारूप रहनेमें अनन्तगुनी क्रिया है, वही चैतन्यकी क्रिया है। जड़की क्रियासे धर्म मानना और शुभरागरूप व्यवहार-जोकि बन्धका कारण है—उससे धर्म मानना सो अज्ञान है।

अब, ऐसा कहते हैं कि—जो कुछ ज्ञात होता है वह सब ज्ञानसे ही ज्ञात होता है:—

(मंदाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।

ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥ ६० ॥

अर्थः—(गरम जलमें) अग्निकी उष्णताका और पानीकी शीतलताका भेद ज्ञानसे ही ज्ञात होता है। शाकके स्वादमें नमकके स्वादकी बिल्कुल भिन्नता ज्ञानसे ही प्रकाशित होती है। निजरससे विकसित नित्य चैतन्यधातुका और क्रोधादि भावोंका भेद, कर्तृत्वको (कर्तापनेके भावको) भेदता हुआ—तोड़ता हुआ, ज्ञानसे ही सच्चा विवेक ज्ञान प्रगट होता है। कुछ क्रियाकाण्डसे ज्ञान प्रगट नहीं होता।

आत्माका ज्ञानस्वभाव है वही परको और अपनेको जाननेवाला है। अग्निके निमित्तसे पानीकी वर्तमानमें होनेवाली उष्णता और पानीके मूलस्वभावकी शीतलता भी ज्ञान द्वारा ही प्रकाशित होती है। मेरा स्वभाव क्या है, मेरा स्वभाव शीतल या गरम है—इत्यादि कुछ भी पानी नहीं जानता किन्तु ज्ञाता ही उसे जानता है।

करेलेका शाक, लौकीका शाक इत्यादि शाकोंका स्वाद और उसमें डाले हुए नमकका स्वाद—उसकी बिल्कुल भिन्नता ज्ञान द्वारा ही जानी जाती है। शाक और नमक नहीं जानते कि हम कैसे स्वादवाले हैं। नमकको खबर नहीं है कि मेरा स्वभाव कैसा है और शाकको भी अपने स्वभावकी खबर नहीं है; वे दोनों जड़स्वभावरूप हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान है।

अनेक मनुष्य कहते हैं कि ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु मस्तिष्क-दिमाग द्वारा जाना जाता है। परन्तु भाई! मस्तिष्क तो जड़ है, जड़मेंसे जानना नहीं आता, जाननेकी क्रिया ज्ञातातत्त्वमें होती है। यदि मस्तिष्कके ज्ञान होता हो तो मुर्देको भी ज्ञान होना चाहिये परन्तु उसे ज्ञान नहीं होता, इससे ज्ञातातत्त्व शरीरसे पृथक् है। मस्तिष्क जड़ है, ज्ञातातत्त्व चैतन्य है; चैतन्य चैतन्यकी क्रिया द्वारा जानता है; मन इन्द्रिय और मस्तिष्क भी कुछ नहीं जानते किन्तु ज्ञाता ही सब कुछ जानता है।

निरखनेसे निर्धारित चैतन्यधातु और क्रोध, माया, लोभका भेद—इन दोनोंका भिन्नत्व ज्ञान ही जानता है, ज्ञान ही उन्हें पृथक् देखता है। मैं कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कार्य—ऐसा कर्तृत्वको तोड़ता हुआ ज्ञान प्रगट होता है; ज्ञानका स्व-परप्रकाशकस्वभाव होनेसे, स्वका भी विवेक करता है और परका भी विवेक करता है। यह क्रोधादि विभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ—इसप्रकार ज्ञायक पर दृष्टि डालकर उसके अस्तित्वको जानकर जो भेदविज्ञान करता है वह कर्तृत्वको छोड़ता है।

आत्माका अपरिचित अज्ञानी शुभाशुभभावोंको करता है, परन्तु जड़के भावोंको कदापि नहीं करता; आत्मा अज्ञानभावसे या तो राग-द्वेष करता है और यदि ज्ञानभावसे रहे तो राग-द्वेपका ज्ञाता रहता है, उसके अतिरिक्त वह अन्य कुछ नहीं करता। लड़केका कुछ कर सकता है या नहीं? कुछ भी नहीं कर सकता; मात्र पुत्र सम्बन्धी राग-द्वेपको कर सकता है; उसीप्रकार धन, शरीरादि किसीका कुछ किया ही नहीं जा सकता, मात्र उस सम्बन्धी राग-द्वेप कर सकता है; परके कर्तृत्वका मूलकारण अज्ञान है।

खारापन और शाक-दोनों पृथक् हैं, ऐसे पृथक्त्वका विवेक ज्ञान करता है, जलकी वर्तमान अवस्थामें उष्णता है, और त्रिकाली स्वभाव शीतल है—ऐसा विवेक ज्ञान करता है; क्रोधादि और चैतन्य-स्वभाव-दोनों भिन्न हैं—ऐसा विवेक भी ज्ञान करता है; पुण्य-पापके क्षणिक भाव पानीकी उष्णता जैसे हैं; वे भाव मैं हूँ, वह मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी अज्ञानभावसे मानता है। पुण्य-पापकी उष्ण-क्षणिक पर्याय मैं नहीं हूँ, मैं तो नित्य ज्ञान शान्तिमय शीतल स्वभावमय हूँ—ऐसा ज्ञानी विवेक करते हैं। नमक और शाकके स्वादको अभेद करनेवाला अज्ञानी अज्ञानभावको करता है। नमक और शाकके स्वादको पृथक् जाननेवाला ज्ञानी विवेक-ज्ञान करता है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान करता है और अज्ञानी अज्ञान करता है।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भावको करता है परन्तु पुद्गलके

सकता हूँ, मैं बोल सकता हूँ, जैसा बोलना हो उसीप्रकार जीभको हिला सकता हूँ-इत्यादि पांचों इन्द्रियोंका अज्ञानी कर्ता होता है।

नवीन कर्म बंधते हैं उन्हें मैं बांधता हूँ; ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय इत्यादि जड़कर्मोंको मैं बांधता हूँ-ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। शरीरादि नोकर्मोंको भी मैं करता हूँ-ऐसा व्यवहारी जीवोंका व्यामोह है। शरीर मुझसे चलता है, मुझसे उठता-बैठता है, मुझसे बोलता है, इत्यादि प्रकारसे शरीरादि नोकर्मका अज्ञानी कर्ता होता है।

कोई कहे कि शरीर यदि अपने आप चलता हो तो जब उसे चलना होगा तब अपने आप चलकर तुम्हारे घर आयेगा। भाई! दूसरेके यहाँ जानेका भाव हो उस समय यदि शरीरके चलनेका उदय हो तो अपने भावका और शरीरका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे दूसरेके घर जाया जाता है; अपने भावका और शरीरका लगभग [illegible] भासित होता

कर्ता मैं हूँ-ऐसा माने वह आत्माके स्वभावसे अज्ञान होनेसे, भगवानका भक्त नहीं है, किन्तु मूढ़तारूप मिथ्यावासनाका भक्त है।

जिससे अर्थात् संयोगमें एकताबुद्धिसे अपने विकल्प-इच्छा-द्वारा और मन-वचन-कायके (हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापार द्वारा यह आत्मा घट इत्यादि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्मोको करता हुआ (व्यवहारियोंको-अज्ञानियोंको) प्रतिभासित होता है।

देखो, इसमें क्या कहा? कि अज्ञानियोको ऐसा दिखाई देता है कि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्मोको आत्मा करता है, अर्थात् इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें आत्मा परद्रव्योंका कर्ता है ही नहीं। भ्रांतिसे मिथ्या दृष्टि द्वारा ऐसा भासित होता है, परन्तु सच्चे ज्ञानमे ऐसा मानते नहीं, इसमें तो सभी बात आ गई। स्त्रियाँ चावल बनायें, खिचड़ी बनायें, रोटी बनायें, बुनाई-सिलाईका काम करें इत्यादि, उन सबका कर्ता आत्मा नहीं है, उन सभी वस्तुओंकी व्यवस्था चैतन्यके हाथमें नहीं है, उनको अवस्था इस प्रकारकी होना हो तब स्त्रीका निमित्त होता है। और आत्मा नित्य अमूर्त्तिक ज्ञानरूप है, स्त्री-पुरुष आदि अन्य रूप नहीं है। व्यवहारसे मूर्त्तिक कहनेसे भी आत्मा कभी मूर्त्तिक जड़ नहीं हो सकता।

कोई कहे कि हम मोतीके दानों जैसे तो अक्षर लिखते हैं, परन्तु भाई! वैसे अक्षर करना वह तेरे हाथकी बात नहीं है, यदि अक्षर न होना हों तो अंगुलीमें चोट लग जाती है, लिखते-लिखते अँगुली अकड़ जाती है, इसलिये सुन्दर अक्षर करना वह आत्माके हाथकी बात नहीं है। जब अक्षर सुन्दर होना होते हैं तब हाथका अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है, परन्तु कलम कलममें है और हाथ हाथमें; किसीके कार्यका कोई कर्ता नहीं है; दोनों स्वतंत्र वस्तुएँ हैं। कलम (लेखनी) में हाथका अन्योन्य अभाव है और-इन दोनोंमें जीवका और जीवकी इच्छाका त्रिकाल अत्यंत अभाव होनेसे परस्पर किसीका कुछ भी करनेमें असमर्थ है।

जीव तो अज्ञानभावसे इच्छा और योगके कम्पनका कर्ता है, इन्द्रियोंका या शरीरकी क्रियाका तो अज्ञानी भी कर्ता नहीं है। संयोगमात्रको देखनेवालोंको मिथ्याभिमान चढ़ गया है; परका मैं ऐसा कर दूँ और यह कर दूँ; परन्तु स्वतः परसत्तामें कुछ भी नहीं कर सकता, अपने भावमें मात्र संकल्प-विकल्प करता रहता है।

क्रोधादि समस्त अंतरंग कर्म और बाह्य द्रव्यकर्म तथा नोकर्म-वे दोनों परद्रव्यस्वरूप होनेसे उनमें अन्तर नहीं है। व्यवहारी जीवोंको ऐसी मूढ़ता है कि शरीरको हम ऐसा चला सकते हैं, कंठको सुरीला कर सकते हैं, वाणी मधुर बोल सकते हैं—इत्यादि परद्रव्यका कर्तृत्व मानकर मूढ़ताका सेवन करते हैं। अज्ञानभावसे क्रोधादि विकारोंका, द्रव्यकर्मका और नोकर्मका आत्मा कर्ता होता है।

परद्रव्यके कर्तृत्वका अभिमान किये हो, और उसमें जो चाहे वह न हो, तो वहां ऐसी कषाय चढ़ती है कि मर जाता है; पांच लाखकी पूँजी लगा रखी हो और उसमें नुकसान हो जाये तो शरम-शरम हो जाती है, और सोचता है कि अब तो मर जायें तो शान्ति हो-झंझट दूर हो; तो क्या वहां मौसी या मामी बैठी हैं जो कहें कि—'आओ भानेज! यहां तुम्हारे लिये पलंग बिछा है!'—वैसा कहने वाला परभवमें कोई नहीं बैठा है। जैसे परिणाम किये होंगे वैसी गतिमें चला जायेगा; कहीं कौवा, कुत्ता या नरक-निगोदमें चला जायेगा। मान-सम्मान बना रहना वह पुद्गलकी क्रिया है उसमें तेरे आत्माका कुछ भी कार्य नहीं है। पर चीज किसी प्रकार शरणदाता नहीं है, कि कोई वस्तु पराधीन भी नहीं है।

घट, पट, कर्म, नोकर्म, कीर्ति, लक्ष्मी आदि परद्रव्योंका मैं रक्षक हूँ और मैं उनका नाशक हूँ-ऐसा मानना वह व्यवहारी लोगोंका अज्ञान है ॥ ९८ ॥

अब ऐसा कहते हैं कि—व्यवहारी लोगोंकी यह मान्यता सत्य नहीं है।—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥ ९९ ॥

अर्थः—यदि आत्मा परद्रव्योंको करे तो वह नियमसे तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जाये, परन्तु तन्मय नहीं है इससे वह उनका कर्ता नहीं है।

भगवान आचार्यदेवने न्याय रखा है कि यदि आत्मा परवस्तुको करे तो वह नियमसे परवस्तुमें एकमेक हो जाये; परन्तु वह परवस्तुमें एकमेक नहीं होता इसलिये परवस्तुका कर्ता नहीं है।

मेज-कुर्सी या किवाड़ इत्यादि वस्तुएँ बढ़ई नहीं बनाता परन्तु जब वह सब होना होता है तब इस प्रकारका राग करनेवाला बढ़ई उपस्थित होता है; किन्तु यदि बढ़ई ऐसा मानता है कि यह सब मुझसे होता है तो वह उसकी मूढ़ता है।

आत्मा यदि शरीर, वाणी, घट, पट, रथ, मकान इत्यादि परद्रव्योंकी कोई भी अवस्था करे तो वह अवश्य तन्मय हो जाये परन्तु वह तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता, इसलिये वह परका कर्ता नहीं है।

यह कार्य मुझे बहुत ही अच्छा करना था; परन्तु अमुक व्यक्तिने बीचमें आकर सब बिगाड़ दिया; किन्तु भाई! वह बिगड़ना था इससे बिगड़ा, जो होना था वह हुआ, परके दोष निकालना छोड़ दे, और इसप्रकार यथार्थ दृष्टिसे देख तो कितनी शांति हो और आकुलता दूर हो जाये।

रुपया-पैसा किसीके रखनेसे नहीं रहता, कोई किसीको बनाये रखनेमें समर्थ नहीं है, और न कोई किसीका विनाश करनेमें समर्थ है। परमाणुका स्वतंत्र परिणमन हो वैसा होता है। अमुकने आकर मुझे

करे तो वह उस समय हो जाना चाहिये, परन्तु वैसा तो नहीं होता। पर्यायी आत्मा अपनी चैतन्यपर्यायका कर्ता है परन्तु परकी अवस्थाका कर्ता नहीं है; कारण कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्यके नाशकी आपत्ति (-दोष) आ जाये; इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है। अर्थात् पर वस्तुमें व्याप्य-व्यापकपना नहीं होनेसे किसी भी प्रकार परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मान रहा है कि मुझसे परके कार्य होते हैं; उससे आचार्यदेव यह व्याप्य-व्यापकका सूत्र कहकर अस्वीकार करते हैं कि तू किसी भी प्रकार परका कर्ता नहीं है। व्याप्य अर्थात् जो जड़की अवस्थामें प्रविष्ट नहीं हो गया है, और प्रविष्ट हुए बिना उसका कर्ता माने वह बिलकुल मिथ्या बात है। जो जिसमें प्रविष्ट हो जाये वही उसका कर्ता हो सकता है, परमें प्रविष्ट नहीं हो सकता इसलिये परका कर्ता नहीं है। साथमें उपस्थित रहनेवाला ऐसा मानता है कि मुझसे परका कार्य होता है, तो ऐसा माननेवाला बिलकुल असत्यका सेवन करनेवाला है। स्वतंत्र सत्‌रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप किसी भी वस्तुको नहीं मानता। एक वस्तु दूसरी वस्तुमें कुछ भी करे तो दोनों द्रव्य एक हो जायें; एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी नास्ति है, सभी द्रव्योंकी स्वतः अपनेसे अस्ति है; स्वतः अपनेसे सत् हैं और परसे असत् हैं। किसी द्रव्यका कोई अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। कोई भी वस्तु अन्य वस्तुरूप हो तो उस वस्तुका नाश हो जाये, इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे या दूर रहकर भी परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है। एक वस्तु अन्य वस्तुमें प्रविष्ट हुए बिना कर्ता-कर्मपना नहीं हो सकता; कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें प्रविष्ट होता ही नहीं इस-लिये आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म (-कार्य) का कर्ता नहीं है।

आत्मा घड़ा, मकान, वस्त्रादि परवस्तुओंका कर्ता नहीं है, क्योंकि उसका परवस्तुके साथ व्याप्य-व्यापक संबंध नहीं है। व्याप्य अर्थात् अवस्था और व्यापक अर्थात् वस्तु स्वतः। आत्मा परद्रव्यमें या

करे तो वह उस समय हो जाना चाहिये, परन्तु वैसा तो नहीं होता। पर्यायी आत्मा अपनी चैतन्यपर्यायका कर्ता है परन्तु परकी अवस्थाका कर्ता नहीं है; कारण कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्यके नाशकी आपत्ति (–दोष) आ जाये; इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है। अर्थात् पर वस्तुमें व्याप्य-व्यापकपना नहीं होनेसे किसी भी प्रकार परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मान रहा है कि मुझसे परके कार्य होते हैं; उससे आचार्यदेव यह व्याप्य-व्यापकका सूत्र कहकर अस्वीकार करते हैं कि तू किसी भी प्रकार परका कर्ता नहीं है। व्याप्य अर्थात् जो जड़की अवस्थामें प्रविष्ट नहीं हो गया है, और प्रविष्ट हुए विना उसका कर्ता माने वह बिलकुल मिथ्या बात है। जो जिसमें प्रविष्ट हो जाये वही उसका कर्ता हो सकता है, परमें प्रविष्ट नहीं हो सकता इसलिये परका कर्ता नहीं है। साथमें उपस्थित रहनेवाला ऐसा मानता है कि मुझसे परका कार्य होता है, तो ऐसा माननेवाला बिलकुल असत्यका सेवन करनेवाला है। स्वतंत्र सत्रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप किसी भी वस्तुको नहीं मानता। एक वस्तु दूसरी वस्तुमें कुछ भी करे तो दोनों द्रव्य एक हो जायें; एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी नास्ति है, सभी द्रव्योंकी स्वतः अपनेसे अस्ति है; स्वतः अपनेसे सत् हैं और परसे असत् हैं। किसी द्रव्यका कोई अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। कोई भी वस्तु अन्य वस्तुरूप हो तो उस वस्तुका नाश हो जाये, इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे या दूर रहकर भी परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है। एक वस्तु अन्य वस्तुमें प्रविष्ट हुए विना कर्ता-कर्मपना नहीं हो सकता; कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें प्रविष्ट होता ही नहीं इसलिये आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म (–कार्य) का कर्ता नहीं है।

आत्मा घड़ा, मकान, वस्त्रादि परवस्तुओंका कर्ता नहीं है, क्योंकि उसका परवस्तुके साथ व्याप्य-व्यापक संबंध नहीं है। व्याप्य अर्थात् अवस्था और व्यापक अर्थात् वस्तु स्वतः। आत्मा परद्रव्यमें व्या-

तथा उपयोग परवस्तुकी अवस्थाको निमित्त हैं; योगका अर्थ बाह्यके जड़ योग नहीं समझना चाहिये परन्तु चैतन्यके प्रदेशमें चंचलतारूप कम्पन समझना चाहिये।

जो योग और इच्छाका कर्ता होता है और जिसका लक्ष परके ऊपर है वह ऐसा मानता है कि मैं परका निमित्तरूपसे कर्ता हूँ। वस्तु अखण्ड है–ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है वह निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है; वस्तु कर्ता नहीं है इससे वस्तुकी दृष्टि वाला भी कर्ता नहीं है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है। आत्मवस्तु स्वतः घट–पटादि होनेमें निमित्त नहीं है, परन्तु अज्ञानीकी वृत्ति निमित्त है। घट करूँ, पट करूँ उस वृत्तिका अज्ञानी कर्ता होता है, इससे अज्ञानीकी रागवृत्ति घट–पट होनेमें निमित्त मानी है, परन्तु ज्ञानी रागकी वृत्तिका स्वामी या कर्ता नही होता और उस वृत्तिको अपना नहीं मानता। अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट हुई है, इससे ज्ञानी परवस्तुकी अवस्थाका कर्ता नहीं है।

वास्तवमें जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म है उसे आत्मा व्याप्य–व्यापकभावसे तो नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयताका प्रसंग आये। और निमित्त–नैमित्तिक भावसे भी नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्वका (सर्व अवस्थाओंमें कर्तृत्व रहनेका) प्रसंग आ जाये।

आत्मा घट–पटादिको और क्रोधादिक परद्रव्यको व्याप्य–व्यापक भावसे करता ही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मय हो जाये; परन्तु निमित्त–नैमित्तिक भावसे भी नहीं करता; यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व बना रहे–वह कभी दूर न हो।

वस्तु स्वतः परद्रव्यकी कर्ता नहीं है, परन्तु योग और इच्छा परवस्तुकी अवस्था होनेमें निमित्त हैं किन्तु ज्ञानी योग और इच्छाका कर्ता नहीं है इसलिये ज्ञानी परवस्तुकी अवस्थाका निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है। वस्तु स्वतः तो कर्ता नहीं है परन्तु वस्तुकी दृष्टिवाला निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है।

अनेक लोग कहते हैं कि मकानकी, घट-पटकी, भोजनादि पर-द्रव्योंकी अवस्थामें आत्मा एकमेकरूपसे प्रविष्ट होकर कर्ता नहीं होता किन्तु निमित्तरूपसे तो कर्ता होता है न ? भाई ! यदि द्रव्य कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व रहे, इसलिये द्रव्य कर्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानी अहंकारवश मानता है कि—द्रव्यका विकारी उपयोग और कंपन—वे दोनों विकारी पर्यायें परद्रव्यकी अवस्था होनेमें निमित्तरूपसे कर्ता हैं, परन्तु उस योग-उपयोगका अज्ञानी कर्ता होता है, ज्ञानी कर्ता नहीं होता। इसलिये, जिस प्रकार आत्मा कर्ता नहीं है, उसी प्रकार आत्माकी दृष्टिवंत परद्रव्यकी अवस्थाका निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है। आत्माकी दृष्टिवालेके विकारी अवस्था होती हो, कम्पन और इच्छा होते हों तथापि वहाँ उनका भार नहीं है, (-मुख्यता नहीं है) नित्य स्वभाव-पर भार है, वस्तुदृष्टि पर भार है, विकारी पर्याय पर भार नहीं है; उसे अपनी पर्याय नहीं मानता इसलिये वह परवस्तुका निमित्त-रूपसे भी कर्ता नहीं है।

वस्तु तो स्वतः निमित्तरूपसे कर्ता नहीं है, परन्तु विकारी पर्याय निमित्तरूपसे कर्ता है। परमें कर्तापन मानता है। अज्ञानीने विकारी पर्यायका कर्तृत्व स्वीकार किया है और विकारी पर्यायका झुकाव परके ऊपर है, इससे अज्ञानी निमित्तरूपसे कर्ता है परन्तु ज्ञानी कर्ता नहीं है।

वस्तु तो नित्य-स्थायी है; यदि वस्तु स्वतः कर्ता हो तो परका कर्तृत्व कभी दूर न हो, और परका कर्तृत्वभाव अपना स्वभाव हो जावे, इसलिये वस्तु स्वतः परकी कर्ता नहीं है।

सम्यक्त्वी स्त्री रसोई बना रही हो तो भी वह रसोईकी निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं होती, क्योंकि नित्य वस्तु स्वतः कर्ता नहीं है और वस्तुके ऊपर दृष्टि है और अनित्य इच्छाका स्वामित्व नहीं है, कर्तृबुद्धि नहीं है इससे निमित्तसे भी कर्तृत्वका स्वीकार नहीं करती। [illegible] राग होता है, उस रागकी पर्याय निमित्त है परन्तु उस [illegible] दृष्टि नहीं है, उसका कर्तृत्व स्वीकार नहीं करती

अपने अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि है। शुद्ध द्रव्य कर्ता नहीं है, इससे शुद्ध दृष्टि भी कर्ता नहीं है—ऐसा आचार्यदेवने कहा है।

यदि कुम्हार ज्ञानी हो तो वह भी घड़ेका कर्तृत्व निमित्तरूपसे भी स्वीकार न करे क्योंकि उसकी दृष्टि वस्तु पर है। ज्ञानी जानते हैं कि योग और इच्छा मेरे हैं ही नहीं, इसलिये मैं निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं हूँ।

वस्तु यदि कर्ता हो तो निमित्तरूपसे कर्तृत्व कभी नहीं छूटेगा, इससे नित्य कर्तृत्वका प्रसंग आयेगा। वस्तु यदि निमित्तरूपसे कर्ता हो तो केवलज्ञानी भी कर्ता बने रहें और इससे किसी दिन कर्तृत्व नहीं छूट सकेगा।

ज्ञानी मानते हैं कि शरीर, मन, वाणी, घट, पटादि समस्त परवस्तुओंके हम उपादानरूपसे तो कर्ता नहीं हैं, किन्तु निमित्तरूपसे–व्यवहारसे भी कर्ता नहीं हैं। हम स्व-परको जानते अवश्य हैं परन्तु उसके कर्ता नहीं हैं।

ज्ञानीके योग (प्रदेशका कम्पन) और इच्छा होते हैं, परन्तु उनका कर्ता नहीं है, स्वामी नहीं है, इसलिये वह वस्तुदृष्टिसे परवस्तुका निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है। अज्ञानी जीव अपने भावमें योग और उपयोगका कर्ता है इससे वह निमित्तरूपसे परवस्तुका कर्ता है ऐसा उपचारसे कहा है। इसमें ज्ञानी और अज्ञानीका सारा कार्य आ जाता है।

अनित्य (अर्थात् जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं होता–ऐसा) योग और उपयोग ही निमित्तरूपसे उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्मके) कर्ता हैं। (रागादि विकारवाले चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्पको और (आत्माके प्रदेशोंके चलनरूप) अपने व्यापारको कदाचित् आत्मा अज्ञानसे करता होनेके कारण, योग और उपयोगका तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो तथापि परद्रव्यरूप कर्मका कर्ता तो (निमित्तरूपसे–व्यवहारसे) कभी नहीं है।

यदि वस्तु कर्ता हो तो कर्तृत्वका प्रसंग आये, परन्तु

अज्ञानके कारण मान लेता है कि मैं उपस्थित था इसलिये घड़ा हुआ है। इसप्रकार निमित्तसे कर्तृत्व स्वीकार कर लिया है; इसलिये कर्ता नहीं है।

अज्ञानीका लक्ष योगमें और रागमें गया है और योग तथा रागका विषय तो पर है। योग और राग मेरे हैं, मैं उनका हूँ; जिसने रागको अपना माना उसने रागादिका विषय जो परद्रव्य हैं उन्हें भी अपना माना है। रागका कर्ता हुआ इससे रागका विषय जो परद्रव्य है उसका भी निमित्तरूपसे कर्ता है।

वस्तु स्वतः निमित्तरूपसे भी परद्रव्यकी अवस्थाकी कर्ता नहीं है; यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्वका प्रसंग आये। जिसे यह बात नहीं जमती वह चौरासीके चक्करमें परिभ्रमण करेगा। योग और रागका कर्ता होता है इससे परवस्तुकी अवस्थाका कर्तृत्व स्वीकार कर लेता है; इसलिये जो परवस्तुकी अवस्थाका कर्तृत्व निमित्तरूपसे स्वीकार करता है उसके रागका कर्तृत्व नित्य रहनेसे कभी भी राग छूटकर निर्विकल्प वीतरागता नहीं होगी। जिसे परवस्तुके कर्तृत्वकी पकड़ होती है वह नहीं सुधरती; किन्तु यदि भूल हो और उसे स्वीकार करे तो सुधर जाती है। तीन लोकके नाथ तीर्थंकरदेव आयें तो भी जिसने पकड़ की होगी वह नहीं छूटेगी। हमारी भूल है—ऐसा जिन्हें नहीं देखना है और मात्र पकड़ रखना है वह कैसे सुधरेगी?

कुम्हारको आत्माका भान होनेके पश्चात् यदि लाखों घड़े बननेमें वह उपस्थित हो तथापि वह निमित्तरूपसे कर्ता नहीं होता। कुम्हारको वीतरागता नहीं हुई है इससे घड़ा बनानेके रागका विकल्प आये, योगकी क्रिया भी हो, हाथकी क्रिया हो, योग और रागकी क्रिया घड़ेको अनुकूल हो-परन्तु उसका वह कर्ता नहीं होता। कुम्हार क्षायिक-सम्यक्त्वी हो तथापि जब तक सम्पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है वहाँतक उसे घड़ा बनानेका विकल्प उठता है, योगकी क्रिया भी होती है, परन्तु निमित्तकर्तृत्वकी दृष्टि नहीं है। जो योग और कषायका कर्ता है वह निमित्तकर्तृत्वको स्वीकार करता है।

अज्ञानीको द्रव्यदृष्टिका ज्ञान नहीं है इससे उसे आगे अखण्ड स्वरूपका ध्यान नहीं आता; मैं परका कर्ता हूँ-ऐसा वह मानता है, क्योंकि दृष्टि परके ऊपर है। अज्ञानीके योग और राग निमित्तकर्ता किसलिये कहे जाते हैं? वह मानता इससे कहलाते हैं; उसके मान्यताका भावरूप वाच्य है इसलिये निमित्तकर्ताका वाचक शब्द भी है। आत्मा कर्ता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुको कर्ता कहो तो वस्तु तो स्थायी है इसलिये नित्य कर्तृत्वका प्रसंग आयेगा। वस्तुस्वरूपके ज्ञान बिना उपादानकी ओर उन्मुखता नहीं होती इसलिये वस्तुस्वभावका ज्ञान करना प्रयोजनभूत है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु पर्यायदृष्टिसे किसी वस्तुकी अवस्था किसी समय अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्तभूत होती है। द्रव्यदृष्टिसे तो सर्व सम्बन्धका अभाव है—ऐसी दृष्टिका स्वीकार किये बिना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं जाना जा सकेगा। किसी वस्तुकी अवस्था होते समय किसी वस्तुकी अवस्था उपस्थित होती है। अज्ञानी परका कर्तृत्व मानता है, इससे उसे कर्ता कहा है परन्तु परमार्थसे कोई किसीका कर्ता नहीं है।

१०० वीं गाथाकी टीकाके प्रथम बोलमें आचार्यने ऐसा कहा कि यदि आत्मा परद्रव्यको करे तो वह परद्रव्यमें प्रविष्ट हो जाये, तन्मय हो जाये; इसलिये वह परद्रव्यको व्याप्य-व्यापकभावसे नहीं करता। दूसरे बोलमें कहा है कि आत्मा परद्रव्यकी पर्यायको निमित्त-नैमित्तिक भावसे भी नहीं करता। पुनश्च, कहा है कि यदि आत्मा परद्रव्यकी पर्यायको निमित्त-नमित्तिक भावसे भी करे तो नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आये, कर्तृत्व कभी दूर न हो और इससे वह कर्तृत्व छूटकर स्वद्रव्यकी निर्मल पर्यायको प्रगट करनेका प्रसंग न आये; इसलिये आत्मा परद्रव्यकी अवस्थाका कर्ता नहीं है; परन्तु अज्ञानी अज्ञान अवस्थासे योग और रागादि उपयोगका कर्ता होनेसे उसकी दृष्टि निमित्त पर है, इससे अज्ञानीके योग-उपयोगकी अवस्था सामनेवाले परद्रव्यकी अवस्थाको निमित्तरूपसे कर्ता है, किन्तु सम्यक्ज्ञान ज्ञान

अवस्थासे योग और रागादि उपयोगका कर्ता नहीं है; इसलिये परद्रव्यका निमित्तकर्ता नहीं है ॥ १०० ॥

अब, ज्ञानी अपने ज्ञानका ही कर्ता है—देखो, परद्रव्यका कर्ता और निमित्त-नैमित्तिक कर्ता निकाल दिया; अब निजमें ही अपनी अवस्थाका कर्ता है—उसे स्थित रखा है। ज्ञानी ज्ञानपर्यायको करता है उस समय चारित्रमें अल्पराग है इससे नवीन बन्धन होता है, तथापि उसमें मैं निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं हूँ, मात्र उसका मैं ज्ञाता हूँ—यह अब कहते हैं:—

सम्यक्ज्ञानीकी पहिचान कराते हैं—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाण आवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ १०१ ॥

ज्ञानावरणआदिक सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि है ॥ १०१ ॥

अर्थः—जो ज्ञानावरणादिक पुद्गलद्रव्योंके परिणाम हैं—उन्हें जो आत्मा करता नहीं परन्तु जानता है वह ज्ञानी है।

जो ज्ञानावरणादिक कर्म बँधते हैं उन्हें ज्ञानी जानता है कि—ऐसा हो रहा है, कर्म बँधते हैं; परन्तु कर्ता नहीं होता। जिस प्रकार ज्ञानमें परवस्तु ज्ञात होती है उसी प्रकार जो कर्म बन्धते हैं उन्हें भी ज्ञानी-धर्मात्मा अपने ज्ञानकी वृद्धि सहित जानते हैं। मैं बन्धनको ज्ञातारूपसे जानता हूँ, इसलिये मेरे ज्ञानकी ही वृद्धि है, बन्धनकी वृद्धि नहीं है। जाननेका विस्तार हुआ, उसमें ज्ञान विस्तृत हुआ इसलिये ज्ञानकी ही वृद्धि हुई—उसमें बन्धन कहाँ आया? इसलिये ज्ञानीके कर्मबन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा हो जाती है—वैसी बात है। ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, चारित्रगुणमें पुरुषार्थकी

मिली वह न मिलनेके बराबर है; पेट तो कौए-कुत्ते भी भरते हैं, और तू यदि लक्ष्मी मिलने पर भी धर्मप्रभावनामें उसका सद्व्यय न करे तो तेरे और कौए-कुत्तोंके जीवनमें क्या अन्तर हुआ? सम्यग्दृष्टि जीव दानका अधिकांश भाग धर्मप्रभावनामें देता है क्योंकि उसका धर्मकी ओर झुकाव है इससे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति ही उसकी सर्व प्रथम उन्मुखता होती है।

शरीर, मन, वाणी, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग—वे सब नोकर्म हैं। सामने दृष्टि डालनेसे बीचमें जो भींत आती है वह भींत भी नोकर्म है क्योंकि जाननेमें विघ्नरूप निमित्त हुआ इसलिये वह नोकर्म है; उन सबका ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है। ज्ञानी समझता है कि भींतने मेरे ज्ञानको नहीं रोका है परन्तु मेरे ज्ञानकी योग्यता ही ऐसी थी इससे बीचमें ऐसा निमित्त बना है। अज्ञानी मानता है कि भींत बीचमें आयी इसलिये मुझे दूरकी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। ज्ञानी तो निमित्तका भी ज्ञान करता है, अपने ज्ञानकी योग्यताका भी ज्ञान करता है। कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र सन्मुख आयें उनका भी ज्ञान करता है। जो कुदेवादि मिथ्यात्वका निमित्त बनते हैं उन्हें ज्ञानी ज्ञानका निमित्त बनाता है।

ज्ञानीके जड़ मनका निमित्त होने पर भी वह मनका ज्ञान ही करता है, अज्ञानीको तो ऐसा होता है कि हम मनके बिना कैसे रह सकेंगे? मन बिना आत्मा कैसे रह सकता है? इस प्रकार अज्ञानी मन और आत्माको एक मानता है। ज्ञानी तो समझते हैं कि मन आत्माका स्वरूप ही नहीं है; मन तो जड़ है, ज्ञानस्वरूप आत्मा उससे पृथक् है; हृदयमें आठ पंखुड़ीके कमलके आकाररूप मन है वह चैतन्यका स्वरूप नहीं है चैतन्य तो ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है। ज्ञानीको [illegible] उसकी अवस्थाका कर्ता नहीं है।

[illegible] कभी आती नहीं है; ज्ञानी [illegible] ज्ञान ही करता है। ज्ञानी शरीरकी अवस्थाका कर्ता नहीं है [illegible] ज्ञान ही करता है। [illegible] श्रोत्रेन्द्रियका भी ज्ञानी

ज्ञान ही करता है; ज्ञानी समझता है कि श्रोत्रेन्द्रिय जड़ है और मैं चैतन्य हूँ इसलिये मैं श्रोत्रेन्द्रियका कर्ता नहीं हूँ। उसीप्रकार आँखका, नाकका, जीभका, स्पर्शादि सभीका ज्ञानी ज्ञान ही करता है परन्तु कर्ता नहीं है॥ १०१॥

अब कहते हैं कि-जिसे धर्मकी खबर नहीं है—ऐसा अज्ञानी जीव भी परद्रव्यके भावको तो कभी कर ही नहीं सकता।

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ १०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा॥ १०२॥

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उस हि का कर्ता बने।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने॥ १०२॥

अर्थः—आत्मा जिन शुभ या अशुभ (अपने) भावोंको करता है उन भावोंका वह वास्तवमें कर्ता होता है, वे (भाव) उसका कर्म होते हैं और वह आत्मा (उन भावरूप कर्मोंका) भोक्ता होता है।

अज्ञानी शुभाशुभभाव करता है और उन भावोंका कर्ता होता है, अपने स्वभावकी शुद्धताकी उसे खबर नहीं है, इससे उन शुभाशुभ भावस्वरूप ही अपनेको मानता है और उनके कर्तृत्वभावमें वर्तता रहता है। दया, दान, हिंसा, झूठ आदिके भावोंके अतिरिक्त मैं कितना हूँ—उसकी उसे खबर नहीं है; क्रोध करता है उतना ही अपनेको मानता है। अपने स्वरूपकी उतनी ही कल्पना करता है और कहता है कि-क्रोध करते हैं वह हमारी प्रामाणिकता है। अरे भाई! समझ तो! क्रोध किया अर्थात् कषाय किया—इसमें प्रामाणिकता क्या होती है? प्रामाणिकता तो सम्यग्ज्ञानमें होती है।

अज्ञानरूप मिथ्या अभिप्राय द्वारा अपने शुभाशुभ परिणामोंको आत्मा कर सकता है परन्तु परद्रव्यका कुछ कर ही नहीं सकता। देव-गुरु-शास्त्र किसीका भी यह जीव कुछ नहीं कर सकता, अपने शुभ या अशुभ भावोंको ही करता है।

कोई कहता है कि ईश्वर अन्य पदार्थोंकी अवस्थाको करता है, परन्तु भाई! ईश्वर भी किसी परपदार्थकी अवस्थाको नहीं कर सकता; ईश्वर भी समस्त परपदार्थोंसे भिन्न एक चैतन्यपदार्थ है। किसी पदार्थमें अन्य पदार्थकी अवस्था करनेका सामर्थ्य नहीं है; कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी अवस्थाको करे तो दो पदार्थ एक हो जायें, वस्तु पराधीन हो जाये; परन्तु वस्तुस्वभाव ऐसा है ही नहीं; प्रत्येक वस्तु स्वाधीनरूप परिणमित होती है। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्माका कर्ता और कार्यपना अपने-अपने द्वारा पृथक्-पृथक् होता है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और आधार स्वयं अपने-अपनेमें ही है।

जिस क्षण विकारी भाव किये उसी क्षण उनका भोक्ता होता है; कर्म पश्चात् उदयमें आयेंगे और भोगना पड़ेंगे—ऐसा कहना सो व्यवहार है। अज्ञानी परद्रव्यको नहीं कर सकता, परन्तु कर्तृत्व मानता है कि मैं परद्रव्यको करता हूँ। ज्ञानी, परद्रव्यकी जो अवस्था होती है उसका ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय बढ़ती ही जाती है। ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता होता है परन्तु परद्रव्यकी अवस्थाका कर्ता नहीं होता। अज्ञानी व्यवहारसे भी परद्रव्यकी अवस्थाको नहीं कर सकता परन्तु कर्तृत्व मान लेता है; अज्ञानी अपने शुभाशुभभावोंका कर्ता है परन्तु जड़ कर्मका कर्ता कभी भी नहीं है अर्थात् अज्ञानी अपनी अवस्थामें भावकर्मोंका कर्ता है परन्तु पुद्गलद्रव्यस्वरूप द्रव्यकर्म और नोकर्मका कर्ता तो कभी भी नहीं है॥ १०२॥

परभावोंको कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता—ऐसा कहते हैं:—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥ १०३ ॥

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्यमें, परद्रव्यरूप न संक्रमे ।
अनसंक्रमा किस भाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे ॥ १०३ ॥

जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) जिस द्रव्य और गुणमें प्रवर्तमान होती है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमण नहीं पाती (अर्थात् बदलकर अन्यमें नहीं मिल जाती)। अन्यरूपमें संक्रमण न पाती हुई वह (वस्तु) अन्य वस्तुको कैसे परिणमित कर सकती है?

आत्मा आत्मामें है, परमाणु परमाणुमें है; अन्य आत्मा अन्य आत्माओंमें है—इस प्रकार छहों द्रव्य स्वतः अपनेमें ही हैं। किसी द्रव्यके गुण-पर्याय किसी अन्य द्रव्यके गुण-पर्यायरूपमें बदलकर होते ही नहीं; कोई वस्तु अन्य वस्तुरूप नहीं होती, कोई गुण किसी अन्य द्रव्यके गुणरूप नहीं होता, कोई पर्याय किसी दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप नहीं होती, एक आत्मा दूसरे आत्माको बदलकर कुछ नहीं देता; आत्मा बदलकर रजकणको कुछ नहीं देता। एक वस्तु दूसरी वस्तुमें प्रविष्ट हो जाये तो कुछ दिया कहलाये, परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये कोई किसीको कुछ नहीं देता; तीन काल और तीन लोकमें एक वस्तु दूसरी वस्तुमें पर्यायरूपसे भी परिवर्तित होकर नहीं होती; एक वस्तुको दूसरी वस्तुमें परिवर्तित करनेका सामर्थ्य किसी वस्तुमें नहीं है, एक वस्तु दूसरी वस्तुरूप पलट नहीं जाती—परिवर्तित नहीं हो जाती, असर, प्रभाव, प्रेरणा नहीं कर सकती। द्रव्य अपेक्षा या पर्याय अपेक्षा किसी भी प्रकार परभावोंका कर्तापना तीनकालमें नहीं है। परका कर्ता मानना वह व्यवहारीजनोंका मोह है।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको अधिक कालतक समझाये तो भी

प्रत्येक वस्तुका अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप होना—परसे या परके द्रव्यादिके आधीन न होना ऐसी मर्यादा तीनों काल वर्तती है, वस, ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोड़ना अशक्य होनेसे वस्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण नहीं पाती। गुणान्तरमें पर्याय भी आ गई। वस्तु अपने आप स्वतंत्र परिवर्तित होती है, अपनी शक्तिसे बदलती है तव स्वतंत्ररूपसे उसकी पर्याय प्रगट होती है; कोई बलात् परिवर्तित नहीं कर सकता और बलात् समझा कर उसकी पर्याय प्रगट नहीं कर सकता। यदि बलात् समझा सकता हो तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव सबको मोक्षमें ले जायें न? परन्तु तीर्थंकरदेव किसीको मोक्षमें नहीं ले जाते। स्वतः समझे तव अपनी मोक्षपर्याय प्रगट होती है।

एक जड़ दूसरे जड़का कुछ नहीं करता, एक आत्मा दूसरे आत्माका कुछ नहीं करता, एक रजकण आत्माका कुछ नहीं करता और प्रत्येक आत्मा रजकणका कुछ नहीं करता। कर्मकी अवस्था उसमें हो रही है, आत्मा उसे कुछ नहीं कर सकता। छहों पदार्थ स्वतः जितनी बड़ी वस्तुओं—जितने बड़े द्रव्योंमें वर्त रहे हैं उसे कोई नहीं बदल सकता। छहों द्रव्य कोई किसीको कुछ नहीं दे सकते। कितनी अच्छी बात है। उसे माने तो सर्व समाधानरूप सुख हो जाये। निमित्तकारण सच्चा कारण नहीं है, निमित्तकी मुख्यतासे कथन होता है किन्तु कभी भी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नहीं होता।

करोड़ों रुपये पुण्यके कारण आते हैं और चले जाते हैं, उनका आना-जाना अपने हाथकी बात नहीं है। किसीको दस लाख रुपये आये और चले गये। परन्तु भाई! पुण्यके रजकण ये तो आये परन्तु उन्हें जाना हो तो कोई रोक नहीं सकता। शरीरमें रोग आये तब आत्मा उसे रोक सकता है? पेटमें वायु चढ़े, जलन हो तब कहता है कि मैं मरता हूँ। स्वतः शरीर पर ममत्व किया इससे

बन सकता है। इन कारणोंसे सिद्धान्तसे आत्मा जड़ कर्मोंका अकर्त्ता सिद्ध हुआ; क्योंकि वस्तुस्थितिकी मर्यादाको कोई तोड़ नहीं सकता।

इस (उपर्युक्त) कारणसे आत्मा वास्तवमें पुद्गल कर्मोंका अकर्त्ता सिद्ध हुआ—ऐसा अब कहते हैं:—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता॥ १०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता॥ १०४॥

आत्मा करे नहिं द्रव्य–गुण पुद्गलमयी कर्मों विषैं।
इन उभयको उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्ता बने॥ १०४॥

अर्थः—आत्मा पुद्गलमय कर्ममें द्रव्यको तथा गुणको नहीं करता; उसमें वह दोनोंको न करता हुआ उसका कर्ता कैसे होगा?

आत्मा सदा अरूपी ज्ञानघन है, वह जगतके रूपी पुद्गलोंको कैसे कर सकेगा? क्या जगतमें रूपी पुद्गल नहीं हैं कि आत्मा उन्हें नवीन उत्पन्न कर सके? कोई द्रव्य किसी द्रव्यको उत्पन्न नहीं कर सकता; कोई द्रव्य किसी द्रव्यकी पर्यायको नहीं कर सकता। कर्मकी अवस्था पुद्गलकी शक्तिमेंसे उत्पन्न हुई है, इसलिये आत्मा उस कर्मकी अवस्थाका कर्ता नहीं है। आत्माने आठ कर्मोंको किया यह उपचार-व्यवहार कथन निमित्तका ज्ञान करानेके लिये है। आत्मा शुभाशुभ भाव करे उनका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं कार्यरूप परिणमित होते हैं, आत्मा अपने विकारभावोंको करता है परन्तु जड़ कर्मोंको तो करता ही नहीं।

जिस प्रकार-मिट्टीमय घटारूपी कर्म जो कि मिट्टीरूप द्रव्यमें और मिट्टीके गुणमें निजरससे ही प्रवर्तमान रहता है, उसमें कुम्हार अपनेको या अपने गुणोंको डालता–रखता–मिलाता नहीं है।

पुद्गलमें है, पुद्गल परमाणु स्वतः परिणमित होकर उस अवस्थारूप हुए हैं, सूर्यकी किरणोंने वह अवस्था नहीं की है। परमार्थमें सूर्यकी किरणोंका निमित्त पाकर इन्द्रधनुष होता है वह सूर्यकी किरणोंसे हुआ है—ऐसा कहना व्यवहार है।

इसीप्रकार आत्माकी अवस्थाओंमें जो राग-द्वेष हुए वे सूर्यकी किरणोंके समान हैं और कर्म हैं वे इन्द्रधनुषके समान हैं। राग-द्वेषका निमित्त पाकर जिन कर्मरजकणोंमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो वे कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं; स्वतःमें (रजकणोंमें) कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति है इससे वे स्वतः कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं; ऐसा उपचारसे कहा जाता है कि आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं; परन्तु वह परमार्थ नहीं है ॥ १०६ ॥

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतुसे ऐसा सिद्ध हुआ—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥ १०७॥

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे।
पुद्गलदरबको आतमा—व्यवहारनयवक्तव्य है॥ १०७॥

अर्थः—आत्मा पुद्गलद्रव्यको उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है; परिणमित करता है और ग्रहण करता है—यह व्यवहारनयका कथन है।

आत्माके साथ यह जो औदारिकशरीर है वह स्थूल है परन्तु कार्माण शरीर है वह सूक्ष्म है,—वे सब शरीर जड़ हैं। उन्हें आत्मा उत्पन्न करता है, बांधता है, परिवर्तित करता है, ग्रहण करता है—वैसा कहना व्यवहारनयका कथन है।

यह आत्मा वास्तवमें व्याप्य-व्यापकभावके अभावके कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्मको ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, करता नहीं और बांधता नहीं है।

यह आत्मा वास्तवमें व्याप्य-व्यापकभावके अभावके कारण जड़ रजकणोंमें प्रविष्ट नहीं हो जाता; द्रव्यकर्मरूप अवस्था आत्मा स्वतः नहीं करता, स्थितिबन्ध भी आत्मा नहीं करता, कर्ममें जो अवधि पड़ती है वह कर्म स्वतंत्र परिणमित होकर पड़ती है। आत्मा अपने परिणामोंमें उग्रता करता है अर्थात् स्वतःमें परिणमनका चक्र चढ़ता है उसका निमित्त पाकर जड़-पुद्गलमें स्थितिबन्ध होता है वह पुद्गल स्वतः परिणमित होकर होता है, आत्मा उसे नहीं करता। जड़में अनुभागबन्ध भी आत्मा नहीं करता, वह अनुभागबन्ध पुद्गल स्वतः परिणमित होकर होता है, जड़का प्रदेशबन्ध भी आत्मा नहीं करता; पुद्गल स्वतः परिणमित होकर प्रदेशबन्ध करता है।

पुद्गल स्वतः अपनी अवस्थाको प्राप्त होता है अर्थात् ग्रहण करता है वह प्राप्य है; पुद्गल स्वतः अपनी पर्यायका परिवर्तन करके परिणमित होता है वह उसका विकार्य कर्म है। पुद्गल स्वतः अपनी पर्यायको उत्पन्न करता है वह उसका निर्वर्त्यकर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप पुद्गलकर्म स्वतः परिणमित होते हैं, आत्मा उन पुद्गल कर्मोंका ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता और बांधता भी नहीं है।

आत्मा कर्मको ग्रहण नहीं करता अर्थात् पकड़ता नहीं है; आत्मा अपने विपरीत भावमें अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वादिमें जकड़ा गया है परन्तु वह जड़को नहीं पकड़ता। अपना चैतन्यस्वभाव ज्ञानघन अरूपी है, उसका अज्ञानीको भान न होनेसे उसकी भेदसंवेदनशक्ति ढंक गई है इससे वह अज्ञानभावके कारण विकारी भावोंमें पकड़ा जाता है, परन्तु वह जड़को तीनकाल तीनलोकमें

प्रजा अच्छी हो और राजा महा अधर्मी होता है वह अपने पापके उदयका कारण है। इस पंचम कालमें तो ऐसा बहुत कुछ बनता रहता है; अभी इस पंचमकालमें मुनिके हाथमेंसे आहार छीन लेनेवाले राजा होंगे; राजा अपने मंत्रीसे पूछेगा कि अपनी प्रजामें कोई ऐसा मनुष्य है जो राज्यका कर न देता हो? तब मंत्री कहेगा कि हां! एक नग्न दिगम्बर मुनि हैं जिनके पास कुछ भी वस्तु नहीं है, वे बिल्कुल नग्न-दिगम्बर ही होते हैं; तब राजा कहेगा कि खाते तो होंगे न? जब वे खायें उनके आहारमेंसे एक पहला ग्रास ले लेना—ऐसा हुक्म राजा करेगा; इससे जब मुनिराज गृहस्थके यहां आहार लेने जायेंगे तब राजाके नौकर आयेंगे और जब गृहस्थ मुनिके हाथमें पहला ग्रास रखेगा कि राजाका नौकर उसे उठा लेगा, इससे मुनिको अन्तराय हो जायेगा और वे बिना आहार ग्रहण किये ही चले जायेंगे, पश्चात् मुनि जान लेंगे कि अब पंचमकालका अन्त आ चुका है—ऐसा जानकर मुनि उपवास करेंगे और समाधिमरण करके देवगतिको प्राप्त होंगे, और देवोंमेंसे कोई देव आकर राजाको मार डालेगा और वह मरकर नरक गतिमें जायेगा; मुनि देवसे मनुष्यका एक भव धारण करके उसी भवमें मुक्ति प्राप्त करेंगे।

व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि यथा राजा तथा प्रजा, परन्तु वास्तवमें राजाके आत्माके गुण-दोष राजाके साथ व्याप्त होते हैं और प्रजाके उसके साथ।

जिसप्रकार प्रजाके गुण-दोषोंका व्याप्य-व्यापक प्रजाके साथ होनेके कारण स्वभावसे ही (प्रजाके अपने भावसे ही) उन गुण-दोषोंकी उत्पत्ति होनेसे—यद्यपि उन गुण-दोषोंको राजाको व्याप्य-व्यापकभावका अभाव है, तथापि 'उनका उत्पादक राजा है'—ऐसा उपचार किया जाता है।

राजाके गुण-दोषोंका और प्रजाके गुण-दोषोंका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि राजाको प्रजाके गुण-दोषोंका उत्पादक कहना सो उपचार है। जिसप्रकार लोकमें कहते हैं कि पिताकी शिक्षा पाये हुए

आत्मा करता है और आत्मा भोगता है, परन्तु वास्तवमें आत्मा कर्म नहीं करता और न भोगता ही है। आत्मा कर्मको करता है और उसके फलको भोगता है—ऐसा कहना निमित्तका कथन है—असद्भूतव्यवहारका कथन है। कर्मोदयके समय होनेवाले हर्ष-शोकको आत्मा अज्ञानभावसे भोगता है परन्तु बाह्य संयोगोंको कोई भोग नहीं सकता और कर भी नहीं सकता तथापि उपचारसे कहा जाता है कि कर्म आत्माने किये और आत्माने भोगे ॥ १०७ ॥

अब, पूछते हैं कि यह उपचार किस प्रकार है ? उसका उत्तर दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं:—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८ ॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद्द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ १०८ ॥

गुणदोषउत्पादक कहा ज्यों भूपको व्यवहारसे ।
त्यों द्रव्यगुणउत्पन्नकर्त्ता, जीव कहा व्यवहारसे ॥ १०८ ॥

अर्थः—जिस प्रकार राजाको प्रजाके दोष और गुणोंका उत्पादक व्यवहारसे कहा है, उसीप्रकार जीवको पुद्गल द्रव्यके द्रव्यगुणका उत्पादक व्यवहारसे कहा है।

जगत्में कहावत चलती है कि "यथा राजा तथा प्रजा" तो क्या यह सच्ची है ? वास्तवमें वह बात सच्ची नहीं है। राजा महान धर्मात्मा हो तथापि प्रजा राजाकी आज्ञामें नहीं चलती, किसी-किसी बातमें प्रजा विरोध भी करती है। राजा महान् अधर्मी होता है और प्रजा धर्मपरायण होती है; इसलिए जैसा राजा वैसी प्रजा कहाँ हुई ? परन्तु व्यवहारसे राजा और प्रजामें सम्बन्ध है इससे व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जैसा राजा वैसी प्रजा; परन्तु यथार्थतया वैसा नहीं है।

है-वैसा आचार्यदेवने कह दिया है; तेरह गुणस्थानोंके भंग कर्मके निमित्तसे पड़ते हैं, कर्म जड़ हैं इसलिये उस अपेक्षासे गुणस्थानको जड़ कहा है। अपूर्ण-पूर्ण पर्यायके भंग शुद्ध द्रव्यदृष्टिमें नहीं हैं, शुद्ध अखण्ड निरपेक्ष वस्तुमें अपूर्णत्व और पूर्णत्वकी अपेक्षा लागू नहीं होती, वह सब अपेक्षाएँ पर्यायदृष्टिसे हैं। अपूर्ण पर्याय पर लक्ष डालनेसे राग आता है, निम्नदशामें अपूर्ण पर्यायके साथ राग होता है, इससे ऐसा कहा है कि-गुणस्थान कर्मको करते हैं; परन्तु वास्तवमें गुणस्थान कर्मको नहीं करते, किन्तु जो राग शेष रहा है वह कर्मबन्धमें जड़कर्म निमित्त होता है। राग चैतन्यकी विकारी अवस्था है, वह अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे होता है, परन्तु वह चैतन्यका वास्तविक स्वभाव नहीं है; विपरीत स्वभाववाला-परोन्मुखताका भाव है। मिथ्यात्व-रागादि आस्रवतत्त्व है, वह अपना चैतन्यभाव नहीं है इसलिए रागादिको जड़ कह दिया है, और गुणस्थानके विकल्पको भी इस प्रकार जड़ कहा है। तेरहों गुणस्थानके भंग कर्मकी अपेक्षासे पड़ते हैं इसलिये उन सबको जड़ कह दिया है। आत्मा सदा ज्ञातास्वरूप है, रागादि आस्रव स्वरूप नहीं है, आठ कर्मोंके बांधनेमें सम्यग्दृष्टि जीव निमित्त नहीं है, मिथ्यादृष्टि अपनेको निमित्त कर्त्ता मानता है।

शिष्य मिथ्यात्व गुणस्थानमें स्थित है, तथापि आचार्यदेव कहते हैं कि मिथ्यात्वसे लेकर तेरहों गुणस्थान जड़ हैं जीव नहीं हैं। शिष्य मिथ्यात्व गुणस्थानमें स्थित है तथापि 'वह अवस्था जड़ है, तेरा ध्रुवरूप चैतन्यद्रव्य उससे पृथक् है—ऐसा भान कर'-ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। जो जागृत हुआ है उसकी यह बात नहीं है, परन्तु जो अभी जागृत नहीं हुआ है परन्तु मात्र सत्‌की जिज्ञासा हुई है कि आत्मा क्या है? उसे समझाते हैं कि तेरा आत्मा पर-जड़का निमित्तरूपसे भी कर्ता नहीं है किन्तु तेरह गुणस्थान कर्मके कर्ता हैं।

जिसे जड़से पृथक् होनेकी जिज्ञासा है उसे समझाते हैं कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग तेरे स्वभावमें नहीं हैं; वे एक क्षण-पर्यंत हैं, वे अल्पकाल तक भले हों परन्तु यदि तू आत्माका निःशंक

भान करके उसमें स्थिर हो जा तो क्षणभरमें दूर हो जायेंगे।

यह तेरहों कर्ता व्याप्य-व्यापयकभावसे पुद्गलकर्मको कुछ भी करें तो भले करें उसमें जीवको क्या आया? यहां गुणस्थानके साथ शेष रहे जो कषाय और योगकी पर्याय है वह चैतन्यकी अवस्थामें होती हैं परन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है; वह जड़की ओरका भाव है इससे उसे जड़ कह दिया है; इससे तेरह कर्ता व्याप्य-व्यापकभावसे पुद्गलकर्मको करते हैं—ऐसा कहा है, और वे अत्यन्त अचेतन हैं—ऐसा आचार्यदेवने कहा है। कषाय और योगके परिणाम होनेमें पुराने कर्मोंका निमित्त है इससे पुराना कर्म फलकर नवीन कर्मको बांधता है, इसप्रकार पुराने और नवीन कर्मोंका व्याप्य-व्यापकपना है। कषाय और योगके निमित्तसे नवीन कर्म बँधते हैं और कषाय तथा योगके परिणाम होनेमें पुराने कर्मोंका निमित्त है; इसप्रकार पुराने और नवीन कर्मोंमें व्याप्य-व्यापकता है; पुराने कर्मकी अवस्था किंचित् बढ़कर नवीन कर्म बँधता है। पुराने कर्मकी अवस्था किंचित् बढ़कर नवीन कर्म बँधे तो भले बँधे, परन्तु उसमें जीवको क्या आया? कुछ भी नहीं जीव तो अकर्ता है।

शिष्यने ज्ञानीके निकट सुना कि आत्मा परसे निराला है, वह कर्मका कर्ता नहीं है, तो फिर शिष्य पूछता है कि-यह नवीन कर्म बन्ध होता है इसका कारण क्या है? श्रीगुरु उससे कहते हैं कि पुराना कर्म किंचित् बढ़कर नवीन कर्म बन्धता है।

शिष्यको अन्तरंगमें जिज्ञासा हुई है कि—नवीन कर्म बन्धनेमें आत्माका हाथ नहीं है, नवीन कर्मकी अवस्था होनेमें आत्मा युक्त नहीं होता,—ऐसा आप कहते हो तो फिर नवीन कर्म तो बन्धता है उसका क्या किया जाये? शिष्यकी समझनेकी जिज्ञासा हुई है; अभी भ्रांति दूर नहीं हुई है, तथापि समझनेका इच्छुक है; अतः श्रीगुरु कहते हैं कि जो नवीन कर्म बन्धते हैं वे पुराने कर्मोंकी जाति बढ़नेसे बन्धते हैं, उनके बन्धनेमें कर्मका कारण है—तेरा द्रव्यस्वभाव कारण नहीं है। यह बात जिसे अन्तरमें जमती है उसे यथार्थ समझमें आता है।

अज्ञानी मानता है कि मैं नवीन कर्म होनेमें निमित्त हूं, परन्तु

ज्ञानीकी दृष्टि पलट जाती है; परके ऊपर लक्ष न करे–विकार पर लक्ष न करे—खण्ड पर लक्ष न करे परन्तु अखण्ड पर लक्ष करे तो तेरहों गुणस्थान अचेतन हैं। वे कर्मोंको करें तो भले करें परन्तु उसमें तेरा किंचित् हाथ नहीं है; पुरुषार्थकी मन्दता–अपूर्ण पर्याय भी तेरे अखण्ड पूर्ण स्वभावकी अपेक्षासे परमें जाते हैं; वह हैं तो चैतन्यकी पर्यायें परन्तु उनमें कर्मकी अपेक्षा आती है इसलिये उन्हें पर कहा है; मात्र सम्पूर्ण-परिपूर्ण निर्मल चैतन्यदल आचार्यदेवने कहा है; अपूर्ण-विकारी पर्यायको गौण करके जड़ कह दिया है; यह वस्तु दृष्टिकी बात है। इस गाथामें पर्यायदृष्टिको गौण करके द्रव्यदृष्टिको मुख्यतासे बात है। निमित्त-नैमित्तिकका व्यवहार पर्यायमें है उसे सामने रखनेसे अर्थात् उस पर्याय भेदके सन्मुख दृष्टि रखनेसे असली वस्तुस्वभावकी महिमा और श्रद्धान नहीं होगी, जैसे आंखकी आड़में तृण रखनेसे सामनेवाली वस्तु ठीक नहीं दिखती।

शुद्ध नयके विषयभूत चैतन्यमें विकार नहीं है इसलिये विकार जड़के घरका है; तू तो नित्य अखण्ड पूर्ण ज्ञायक है—वैसी दृष्टि कर! पश्चात् अल्पकाल तक कर्म बंधें तो भले बंधें, परन्तु उसमें तेरी दृष्टिको अड़चन नहीं है; चैतन्यकी अखण्ड दृष्टिमें ऐसा बल है कि अल्पकालमें राग-द्वेषकी पर्याय हटाकर स्थिरतामें वृद्धि करके क्रमशः मुक्ति पर्याय प्रगट होगी।

आठ नवीन कर्मोंको, पुराने कर्म करें तो भले करें—ऐसा आचार्यदेवने कहा है, उसका अर्थ ऐसा नहीं लेना कि पुराने कर्म नवीन कर्मोंको ज्योंके त्यों करते ही रहते हैं, संतान प्रवाहकी संधि चलती ही रहती है और भी नहीं छूटती–ऐसी बात नहीं है; यहां तो इस अपेक्षासे बात है कि दो द्रव्य पृथक् हैं—ऐसी दृष्टि कर। स्वसन्मुख होकर दो द्रव्योंके पृथक्त्वकी दृष्टि करे तो क्रमशः स्थिरता बढ़कर कर्म छूट ही जायेंगे।

शिष्यने पूछा कि प्रभो! यह आठ कर्म बंधते हैं उन्हें कौन बांधता है? आत्मा तो कर्म बांधता नहीं है, ऐसा आप कहते हैं, परन्तु

आत्मासे भिन्न हैं, वैसे ही कर्म-नोकर्म-परमाणु आदि भी आत्मासे भिन्न हैं—ऐसा जानना।

जिसप्रकार जीवकी उपयोगमयताके कारण जीवसे उपयोग अनन्य है, उसीप्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य है—ऐसी यदि प्रतिपत्ति की जाये (माना जाये) तो चिद्रूप और जड़की अनन्यताके कारण जीवको उपयोगमयताकी भाँति जड़-क्रोधमयता भी आ जाये। ऐसा होनेसे तो जो जीव वही अजीव सिद्ध हो—इसप्रकार अन्य द्रव्योंका लोप हो।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूपसे अनन्य है, उसीप्रकार यदि क्रोध भी आत्मासे अनन्य हो तो जीवको जड़ता सिद्ध हुई। क्रोधादि विकार होते तो चैतन्यके परिणाममें ही हैं, किन्तु ये जड़के निमित्तसे होते हैं इसलिये जड़ हैं—ऐसा यहाँ कहा है। क्रोधकी यदि आत्माके साथ अनन्यता मानें तो विकारीभाव और अविकारी भाव-दोनों एक हो जायें; क्रोध क्षणिक एक समय पर्यंतका है और आत्मा त्रिकाली है; इसलिये वह एक समय जितने विकारी भावरूप नहीं होता। यदि क्रोधके समय क्रोधरूप ही हो जाये, मानके समय मानरूप ही हो जाये, शुभभावके समय शुभभावरूप और अशुभभावोंके समय अशुभभावरूप ही हो जाये तो आत्मा जड़ हो जाये।

विकारी भाव चैतन्यकी पर्याय है परन्तु वह आत्माका स्वभावभाव नहीं है, जड़के निमित्तसे होनेवाला भाव है इसलिये जड़ है। यदि आत्मा विकारीभावोंरूप हो जाये तो आत्मा भी जड़ हो जाये, परन्तु वैसा नहीं होता। अज्ञानीको क्रोधके समय जागृति नहीं रहती उस अपेक्षासे वह जड़ है; क्रोधादि आस्रवोंमें कर्ताबुद्धि-एकता बुद्धिवाले आत्माकी जागृतिका नाश होता है और आस्रवोंमें ज्ञान नहीं है उस अपेक्षासे अज्ञानीको जड़ कहा है; परन्तु वास्तवमें अज्ञानी जड़ नहीं हो जाता। स्व-परको जाने सो चेतन, स्व-परको न जाने वह अचेतन अतः क्रोधादि आस्रव अचेतन जड़ हैं चेतनसे भिन्न हैं।

आत्मा तो विशाल जागृतिस्वरूप है, जागती ज्योति है। क्रोध उस जागृतिको रोकता है। यदि क्रोध जितना ही आत्मा हो जाये

तो जागृति और अजागृति दोनों एक हो जायें; जो एक हो जाये वह पृथक् किस प्रकार होगा? क्रोध, मान, माया, लोभ आत्माकी जागृतिको रोकनेवाले हैं और चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा तो अपनी जागृतिका विकास करनेवाला है।

लोग कहते हैं कि यह तो आप ऊँची-ऊँची पूर्णिमा जैसी बातें करते हैं। अरे भाई! तुझे वस्तुस्थितिकी खबर नहीं है, तूने सत्का श्रवण नहीं किया है, और आग्रहमें फँस गया है इससे तुझे उच्च पूर्णिमा जैसी बातें लगती हैं, किन्तु यह तो दोजकी बातें हैं पूर्णिमाकी नहीं। पूर्णताकी बात हो तो उसमें तो जानकर-मानकर स्थिर होना आता है; जानने, माननेकी बात दोजकी है और चारित्रमें स्थिर होनेकी बात पूर्णिमाकी बात है।

शुद्धनयके विषयभूत आत्मामें पुण्य-पापके भाव नहीं, वास्तवमें आत्मा तो निर्विकारी परिपूर्ण शुद्धस्वरूप है—ऐसी जो अखण्डदृष्टि सो निश्चयनय और अवस्थामें पुण्य-पापके भाव होते हैं—ऐसा जो ज्ञान सो व्यवहारनय है।

जीवोंने अनादिसे विपरीत मान्यता पकड़ रखी है, इससे वे कहते हैं कि व्यवहारसे-पराश्रयसे-निश्चय प्रगट होता है; परन्तु वह बात बिल्कुल मिथ्या ही है। शुभभाव तो पराश्रय है—व्यवहार है और शुभभावोंका अर्थ है आस्रवरूप मलिन भाव, विकारी भाव,—उनसे अविकारी आत्मा प्रगट होगा? कभी प्रगट नहीं होगा; असली स्वभावका आलम्बनसे ही व्यवहारका नाश और निश्चय स्वभाव प्रगट होता है। व्यवहार अर्थात् विकारी भाव; उन विकारी भावोंका नाश अखण्ड स्वभावकी दृष्टि ज्ञान और स्वरूपमें एकाग्रता द्वारा होता है इसप्रकार अविकारी भाव प्रगट होता है; विकारीभाव व्यवहार हैं और उन्हें जानना व्यवहारनय है। व्यवहारनयके अनेक भंग हैं।

आत्माके यथार्थ स्वरूपकी बात सुननेसे (सत्स्वरूपकी बात सुननेसे) अरुचि हो तो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है; यह बात सुनकर

हो, निम्न भूमिकामें शुभपरिणाम आते हैं, देव-गुरु-शास्त्रकी ओर बहुमान आता है, पूजा-भक्ति-स्वाध्याय करता है परन्तु वह समझता है कि-इन समस्त निमित्तोंसे रहित मेरा स्वरूप है; ऐसा ज्ञान हो तो देव-गुरु-शास्त्रको निमित्तरूप कहा जाता है। ऐसे निराले आत्माका ज्ञान हो तो देव-गुरु-शास्त्रको निमित्तरूप कहा जाता है। स्वतः अपने पुरुषार्थसे समझे तब देव-गुरु-शास्त्रको निमित्त कहा जाता है। देव-गुरु-शास्त्रसे ही मुझे लाभ होगा, धर्म होगा-ऐसा माने तो उसे देव-गुरु-शास्त्र निमित्तरूप भी नहीं हैं; निमित्तको निमित्तरूपसे स्वीकार करे तो निमित्त हुआ कहा जाये परन्तु निमित्तको वास्तविक कर्ताके रूपसे स्वीकार करे तो निमित्त स्वतः ही उपादान हो गया; निमित्त कहाँ रहा ?

देव-गुरु-शास्त्रकी ओर उन्मुखताका भाव शुभभाव है, उस शुभभावसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता परन्तु शुभभावोंका अस्वीकार करनेसे सम्यग्ज्ञान होता है।

यहाँ सच्ची दृष्टिका वर्णन किया है; सच्ची दृष्टि होनेके पश्चात् देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिमें युक्त हुए विना जीव नहीं रहता, अशुभ रागको दूर करनेके लिये जीव शुभरागमें युक्त होता है, दया, पूजा, भक्ति इत्यादिके शुभपरिणाम आये विना नहीं रहेंगे। उन शुभ-परिणामोंसे धर्म होगा वैसा नहीं मानना चाहिये, यदि वैसा मानें तो विपरीत दृष्टि और सीधी दृष्टिमें क्या अन्तर हुआ ? इसलिये तत्त्वदृष्टि-के पश्चात् शुभभाव आयें परन्तु उनसे लाभ नहीं मानना चाहिये। महाव्रतादिके शुभभाव भी आते हैं परन्तु उनसे मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं मानना; स्वावलंबनके बलसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी निर्मल पर्याय जितने-जितने अंशमें प्रगट हो उसीको धर्म मानना; शुभभाव तो विकारी भाव हैं उनसे तो पुण्यबंध होता है परन्तु धर्म नहीं मानना, व्रत और महाव्रतादिके शुभपरिणामोंको व्यवहारसे आदरणीय माने परन्तु निश्चयसे नहीं।

अनादिकालसे स्वभावकी अरुचि होनेसे यह बात सुनते ह
अज्ञानीको ऐसा लगता है कि अरे रे! हमारा सभी कुछ उड़ाये देते
हैं, परन्तु भाई! इसमें तो सम्पूर्ण चैतन्यस्वभावका आश्रय करना
कहा जाता है, अनन्त पुरुषार्थ करना कहा जाता है। चैतन्यस्वभावकी
पहिचान करने पर अनन्त पुरुषार्थ करना शेष रहता है। क्या धर्म
कहीं बाहर कूदनेसे प्रगट होता होगा या अन्तर्दृष्टि करनेसे? परन्तु
अज्ञानीको तो ऐसा ही हो गया है कि मैं अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्म
ही नहीं हूँ। और मेरा आधार जैसे कोई अन्य पदार्थ है!—ऐसा हो
गया है। ज्ञानी तो समझता है कि मेरा आधार मैं स्वतः ही हूँ, अपने
आधारके बिना अन्य किसीसे मुझे धर्म होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टि और
मिथ्यादृष्टिके अंतरंगमें अनन्त गुना अन्तर होता है; बाह्य क्रिया कदाचित
समान दिखाई दे किन्तु अन्तरंगमें अन्तर रहता है।

आत्माका अनन्त स्वावलम्बी स्वरूप है, उसे सुननेसे ही ऐसा
लगे कि यह तो निश्चयाभास है ऐसी तत्त्वज्ञानके प्रति अरुचि हो तो
वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। आत्माने यदि स्वतः अपने स्वभावका खू
किया है तो इसी एक भावसे! निश्चय अर्थात् यथार्थ;—ऐसे यथार्थ
स्वभावकी अरुचि हुई इससे "केवली भगवानके आगे भी कोरा रह गया"

निश्चयाभासका स्वरूप शुष्कतामें जाता है, परन्तु जो विपरीत
अभिप्राय रहित होकर यथार्थ स्वावलम्बी निश्चयस्वरूपको समझा
स्वसन्मुख हुआ है उसकी निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है। कुछ मन
प्रयत्न हो तो अशुभपरिणामोंसे बचनेके लिये शुभपरिणामोंमें युक्त होत
है; परिपूर्ण स्वावलम्बी तत्त्व पर दृष्टि रखकर स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ
करता हुआ शुद्ध निर्मल पर्यायको बढ़ाता जाता है, बीचमें शुभरा
आये बिना नहीं रहता! निश्चय अर्थात् यथार्थ; ऐसे यथार्थ स्वभावक
जिसने स्वसन्मुखता द्वारा जाना उसका अन्तर परिणमन पलट जात
है। निश्चयाभासी शुद्ध स्वरूपकी बातें करता रहता है परन्तु उसे शु
स्वरूप पर दृष्टि नहीं है, भावभासन नहीं है, निर्मल पर्यायक
बढ़ानेका पुरुषार्थ वे कैसे करेंगे?

जो क्रोध है सो आत्मा है—ऐसा हो जानेसे आत्मा पृथक् नहीं रहता, क्रोध स्वतः ही आत्मा हो गया, इससे वैसी मान्यतामें तो आत्मा जड़ है यह हुआ। जिस प्रकार क्रोध जड़ है वैसे ही प्रत्यय (आस्रव) कर्म और नोकर्म-शरीरादि वे सभी जड़ हैं।

मुझमें विकार नहीं है-ऐसा कहनेका तात्पर्य यह नहीं है विकार भले ही होते रहें; परन्तु 'मैं निरपेक्ष वस्तु अनादि अनन्त हूँ, स्वाधीन हूँ, शुद्ध हूँ, पूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ'-ऐसी प्रतीति हुई कि वहाँ विकारका आदर नहीं रहेगा; जहाँ विकार भावोंका आदर नहीं है, वहाँ राग-द्वेषरूप विकार भाव बढ़ेंगे या घटेंगे ? घटेंगे ही। अपने ध्रुव अविकारी स्वभावका आदर हुआ उसकी स्वभावपर्याय बढ़ेगी, जिस ओरका आदर हुआ; रुचि हुई उस ओरको पुरुषार्थ ढलेगा और पर्याय बढ़ेगी ही। जिसने अपनेको परसे पृथक् माना और जाना उसके विकार-(अशुद्धता) टालनेका ही बल आता है परन्तु जिसने विकार भावोंको (शुभाशुभ रागको) अपना माना है, विकार और निर्मल आत्माका पृथक् भेद नहीं जाना है उसके विकार भावोंको दूर करनेका और स्वभावपर्यायको बढ़ानेका बल आयेगा कहाँसे ? कहाँ स्थिर रहकर विकार भावोंको दूर करेगा ? जैसे अंधेरा हटाना नहीं पड़ता-किन्तु उसके स्थानमें प्रकाश करते ही अंधेरा उत्पन्न ही नहीं होता इसप्रकार स्वभावकी अस्तिमें रहकर विकार भावोंकी नास्ति की जा सकती है, परन्तु विकारमें स्थित रहकर विकारको किस प्रकार टाला जा सकता है ?

क्रोध भी अन्य है; यदि ऐसा है तो राग-द्वेष, हर्ष-शोक, रति-अरतिके भाव भी चैतन्य भावसे अन्य हैं—आत्माके नहीं हैं और आस्रवों, कर्म, नोकर्म भी सब अन्य हैं, आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि उनके जड़त्वमें अन्तर नहीं है, जिन भावोंसे तीर्थंकर नाम कर्मका बंध होता है वे भाव भी आत्मासे अन्य हैं।

सत्यको मिथ्या कौन कहता है ? असत्य (असत् दृष्टिवाला); परन्तु सत्यको सत्य दृष्टिवाला तो मिथ्या कहता नहीं है; केवलज्ञानी भी सत्यको मिथ्या नहीं कहते; सत्यको सत्य सच्चा ही कहते हैं परन्तु

जिसके हृदयमें असत्य है वह सत्यको मिथ्या कहता है। सत्य बात नहीं जमती इसलिये खलबलाहट हो जाती है। किसीको ऐसा लगे कि इसमें अकेला निश्चय ही आता है परन्तु अकेला निश्चय कहाँ आया? क्या, यह सब व्यवहार नहीं है? भेद करके समझे वह व्यवहार नहीं है? गुणस्थान अनुसार–आंशिक भेद-विकल्प हो राग–द्वेष हो, उन सबका ज्ञान करना वह सब व्यवहार ही है, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धको जानना, हेय–उपादेयका स्वरूप जानना, साध्य–साधकभावको जानना, यह सब व्यवहार ही है।

निश्चय अर्थात् यथार्थ, व्यवहार अर्थात् आरोप। जो आरोप है वह अनारोप नहीं हो सकता। राग-द्वेषके भाव जड़ हैं—ऐसा कहनेसे लोग थरथरा उठते हैं परन्तु चैतन्यके स्वभावमें राग–द्वेष नहीं हैं, वे अजागृत भाव हैं चैतन्यकी जागृतिको रोकनेवाले हैं उस अपेक्षासे उन्हें जड़ कहा जाता है। परन्तु राग-द्वेषके भाव कहीं जड़कर्म नहीं करता है; स्वतः जब विपरीत पुरुषार्थमें युक्त होता है तब, राग–द्वेष होते हैं अपनी पर्यायमें होते हैं उस अपेक्षासे व्यवहारसे चैतन्यके भी कहे जाते हैं। राग-द्वेष मेरे हैं, मैं करता हूँ,—ऐसी दृष्टि तो जीवोंकी अनादिसे है ही, इसलिये उस बुद्धिको छुड़ानेके लिये और द्रव्यस्वभावकी ओर दृष्टि करानेके लिये यहाँ दृष्टिकी प्रधानतासे बात की है। असली स्वभावको ग्रहण करनेवाली द्रव्यदृष्टि हुए बिना धर्मका प्रारम्भ और भवका अभाव होना असम्भव है। द्रव्यस्वभावमें राग-द्वेष नहीं हैं इसलिये वे आत्माके नहीं हैं इसलिये जैसा वस्तुका असली स्वभाव है वैसा स्वरूप सुनकर जिन्हें खलबलाहट होती है निश्चयका विरोध करते हैं वह आत्माकी बात सुनने योग्य नहीं है।

निश्चय (–यथार्थ) रागको बंधका कारण मानना यथार्थ ही है। जिन भावोंसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वे भाव भी विकारी [illegible] हैं—[illegible] हैं, [illegible] हैं—ऐसी बात सुननेसे लोगोंमें खलबली [illegible] है परन्तु भाई! [illegible] तो सही! सुन तो ले! [illegible] बंध होता हो तो वह कब

छूटेगा? इसलिये जिन भावोंसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वे भाव भी विकारी भाव हैं। दृष्टिका विषय जो सम्पूर्ण चैतन्यदल है उसे एक बार दृष्टिमें ला तो सही! उस सम्पूर्ण चैतन्यदलको लक्षमें लिये बिना अन्तरंगसे तू क्या प्रगट करेगा? कहाँ जायेगा?

तीर्थंकर नामकर्मका बंध किसे होता है? रागका एक अंश भी आदरणीय नहीं है—ऐसी मान्यता होनेके पश्चात् ज्ञानी अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है इससे पुरुषार्थकी कमजोरीसे प्रशस्तराग आ जाता है परन्तु रागको अंशमात्र भी आदरणीय नहीं माना है, तथापि कोई ज्ञानीको उस जातिका प्रशस्तराग आ जानेसे तीर्थङ्कर नामकर्मका बंध होता है, अज्ञानीको तीर्थङ्कर नामकर्मका बंध हो-ऐसा प्रशस्त राग नहीं आता, क्योंकि उसने परसे भिन्न स्वतंत्र आत्माको नहीं जाना है और रागको आदरणीय माना है इससे उसे तीर्थङ्कर नामकर्मका बंध नहीं होता। परन्तु ज्ञानीको ही तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है।

जिस भाव द्वारा तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है उस जातिका उच्च प्रशस्त भाव भी जड़ भाव है। कोई कहेगा कि अरे! ऐसे उच्चभावको जड़ भाव कहा जाता है? परन्तु जिस भावसे चैतन्यकी जागृति रुकती है उसे जड़ न कहें तो क्या कहा जाये? जो चैतन्यकी जागृतिको रोकता है वह मुक्तिसाधक-स्वभावभाव नहीं होता परन्तु विरुद्ध प्रकारका (-बंधसाधक) विकारी भाव ही होता है और वह भाव द्रव्यदृष्टिसे जड़ ही है।

कोई कहे कि ऐसी बातमें तो भगवानकी भक्ति भी उड़ जायेगी। अरे भाई! देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति, पूजा, प्रभावनादिके शुभभाव जैसे ज्ञानीके होते हैं वैसे अज्ञानियोंको नहीं होते।

तीर्थङ्कर पद, चक्रवर्तीपद, बलदेवपद,—वे सभी पद सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही बँधते हैं, क्योंकि ज्ञानीको ऐसा भान है कि मेरा निर्मल आत्मस्वभाव ही आदरणीय है, उसके अतिरिक्त रागका एक अंश या पुद्गलका एक रजकण भी आदरणीय नहीं है। ऐसी प्रतीति होनेसे, अभी

शुभरागको हितकर माने वह रागादिको करने योग्य अर्थात् भला मानता है, अपना मानता है, राग-द्वेषको अपना माना तो वे दूर कहाँसे होंगे ? दोषका काल एक समय है और गुणोंका काल त्रिकाल है; विकारका एक समय गया और दूसरा आया वह भी चला गया परन्तु वस्तु तो सम्पूर्ण रही, इसलिये वस्तुमें विकार नहीं होता परन्तु पर्यायमें होता है। यदि चैतन्यवस्तुमें रागादि विकार होता हो तो आत्मा जड़ हो जाये, भिन्न द्रव्यका लोप हो. ऐसा महान दोष आता है। भेदज्ञान द्वारा अवगुणका नाश होकर गुणकी पर्याय प्रगट होती है वह आत्माके स्वभावमेंसे प्रगट होती है।

एक जीव अनन्तकाल पूर्व सिद्ध परमात्मा हुआ और दूसरा अनन्तकाल पश्चात्,—उसमें पश्चात् सिद्ध होनेवालेकी शक्ति क्या कम हो जाती है ? नहीं होती। पश्चात् सिद्ध परमात्मदशा प्रगट करनेवालेकी ध्रुवशक्ति यदि घट जाती हो तो वह आयेगी कहाँसे ? अर्थात् प्रत्येक आत्माकी द्रव्य-गुणरूप ध्रुवशक्ति अनन्तकालतक एक समान और एक ही प्रकारकी है उसमें अन्तर नहीं पड़ता। अनन्तकाल पूर्व सिद्ध होनेवाले और अनन्तकाल पश्चात् सिद्ध होनेवाले—दोनों आत्माओंकी शक्ति समान ही है। प्रत्येक आत्मा वस्तुरूप अनादि अनन्त-अखण्डरूपसे जैसे को वैसी है।

जहाँसे विपरीत मानता है उसी जगह खोज कर तो वही सीधा मानना भी है। सीधी मान्यता करके विपरीतमान्यताको छोड़ ! अखण्ड चैतन्यतत्त्वकी रिद्धि-समृद्धिकी खबर नहीं है इससे बाह्यदृष्टिसे मानता है कि मैं इतना हूँ वर्तमान संयोग विकार और अल्पज्ञान जितना हूँ, परन्तु आत्मा उतना नहीं है। आत्मा शरीरादिसे, शुभाशुभपरिणामोंसे रहित ज्ञानादि अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण तत्त्व है।

संयोग दृष्टिसे देखनेवाला अपने असली स्वरूपको देख नहीं सकता। जो घीका घड़ा है वह घीमय नहीं है परन्तु मिट्टीमय है, वैसे ही वर्णादिवाला जीव है वह ज्ञानमय है किन्तु वर्णादिवाला नहीं है।

अपने आप ही कर्मभावरूप परिणमित होता है, तो ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है कि—जीव कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमित करता है।

इसलिये जिसप्रकार नियमसे कर्मरूप* परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य कर्म ही है उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही जानो।

आत्माके साथ रहनेवाली आठ कर्मोंकी मिट्टी अर्थात् जड़कर्मोंकी जो अवस्था होती है वह न मानी जाये और पुद्गल कर्मरूप परिणमित नहीं हुआ ऐसा माने तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है तथा संसारका अभाव सिद्ध होता है और उससे सांख्यमतका प्रसंग आता है। जो कर्मोंको अवस्थाको नहीं मानते उनके मतमें ऐसा आया कि [illegible] और [illegible]—ऐसी पुद्गलकी कोई अवस्था ही नहीं है, इसप्रकार पुद्गल अपरिणामी है; परन्तु ऐसा कहनेवालेकी बात बिल्कुल मिथ्या है। [illegible] कोई मूलद्रव्य नहीं हैं परन्तु परमाणुकी पर्यायें हैं। [illegible] परिणमित होनेकी शक्ति है। यदि परमाणु कर्म[illegible] न होवें तो संसारका अभाव सिद्ध हो और आत्मा[illegible] सिद्ध हो; इस प्रकार आत्मामें विकार नहीं है और [illegible] संसार भी नहीं है। यदि परमाणुकी अवस्था [illegible] आत्मामें संसारका निमित्तकारण कौन है? [illegible] आत्माका अशुद्ध भाव है परन्तु उस [illegible] निमित्त है। और विकार न हो तो उसका [illegible] किया जाये? इस प्रकारसे भी संसार और [illegible] निमित्त विकारमें [illegible] निमित्त नहीं है। यदि विकारमें [illegible] जाये! यदि परमाणु [illegible] ही जाये।

* [illegible] कहे गये हैं।

कोई यह कहे कि पुद्‌गलद्रव्य अपने आप परिणमित नहीं होता किन्तु जीव उसे कर्मरूप परिणमित करता है। परन्तु भाई! जिस वस्तुमें स्वतःमें ही कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति नहीं है, अथवा स्वतः अपनेसे कर्मरूप परिणमित नहीं होती उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये सिद्ध होता है कि पुद्‌गलद्रव्य अपने आप ही कर्मभावरूप परिणमित होता है। जीव कर्मको अथवा पुद्‌गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमित करता है—ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है। चैतन्यके विकारी परिणाम कर्म नहीं कराता किन्तु स्वतः परिणमित होता है तब होते हैं। जड़ आत्मामें नहीं है, और आत्मा जड़में नहीं है; जो जिसमें नहीं है वह उसे कैसे बदलेगा-परिणमित करेगा? इसलिये पुद्‌गलद्रव्य ही स्वतः कर्मरूप परिणमित होता है। इसप्रकार नियमसे कर्मरूप परिणमित हुआ पुद्‌गलद्रव्य कर्म ही है, उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित हुआ पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

पुद्‌गलकी कर्मरूप अवस्था आत्मा नहीं करता; भिन्न वस्तु भिन्न-वस्तुकी अवस्था नहीं करती। मिश्रीको खबर नहीं होती कि मैं जीभ पर जाऊँ तो गलूँ, और पत्थर पर गिरूँ तो नहीं गलूँ, परन्तु उसमें बदलनेकी शक्ति है इससे स्वतः परिवर्तित होती है; उसीप्रकार पुद्‌गल-द्रव्यमें कर्मरूप परिणमित होनेका स्वयं सामर्थ्य है, स्वतः कर्मरूप परिणमित होता है—आत्मा उसे परिणमित नहीं करता।

आचार्यदेवने पहले कहा था कि—क्रोध, मान, माया, लोभ तेरे आत्माका स्वभाव नहीं है; यह विकारी वृत्तियाँ आत्माके अन्तर-घरकी नहीं हैं। वे होती तो आत्माकी पर्यायमें हैं, परन्तु क्षणिक हैं, संयोगी भाव हैं इससे उन्हें जड़का कहा था। इससे कोई ऐसा समझ जाये कि क्रोध, मान, माया, लोभादि सब जड़के हैं—ऐसा आपने कहा है; तो वे भले रहें, हमें उन्हें टालना नहीं है। अब हम चाहे जैसे वर्तें विषय सेवें, लंपटता करें तो कोई हानि नहीं है? अरे मूर्ख! मर जायेगा! चला जायेगा नरक-निगोदमें! ऐसी उत्तम स्वभावकी बात

वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती, (इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है।) इससे पुद्गलद्रव्य स्वयमेव परिणमन स्वभाववाला है।

आत्मा स्वयं जिस द्रव्यमें परिवर्तित होनेकी शक्ति हो उसे परिवर्तित करेगा या जिसमें परिवर्तनशक्ति न हो उसे ? परमाणु यदि स्वयमेव परिवर्तित न होते हों तो आत्मामें शक्ति नहीं कि उन्हें पलट सके ? जिस वस्तुमें परिवर्तन शक्ति न हो उसे दूसरा द्रव्य परिणमन नहीं दे सकता अर्थात् उसे पलट नहीं सकता। और यदि पुद्गलद्रव्य अपने आप ही परिवर्तित होता है, उसमें स्वतः ही परिवर्तनशक्ति है, तो फिर उसमें आत्माने क्या किया ? क्योंकि जो स्वतः ही परिणमित होता है उसे दूसरेने परिणमित किया, वह कहना मिथ्या सिद्ध होता है। वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं।

आत्मामें राग-द्वेषका जो विकारी दोष होता है वह परमाणु नहीं है परन्तु आत्माका अरूपी भाव है, चैतन्यका अरूपी चिदाभास है। क्रोध आत्मा करता है, कर्म नहीं कराता; विपरीत पुरुषार्थसे जीव स्वतः करता है और सम्यक्पुरुषार्थसे स्वतः टाल सकता है। लाखों तीर्थंकर या केवलियोंके निकट बैठा हो, परन्तु यदि स्वयं न बदले तो कोई उसे बदल नहीं सकता। इस गाथामें कर्म अपने आप परिणमित होते हैं—वैसी बात है, और इसके पश्चात् आत्माके ओरकी गाथा आयेगी वहाँ कहेंगे कि विकार आत्मा करता है, कर्म विकार नहीं कराते। पहले ऐसा कहा था कि आत्मामें संसार नहीं है, यह द्रव्य-दृष्टिकी मुख्यतासे-पर्यायको गौण करके कहा था; परन्तु अवस्थादृष्टिसे संसार तुझमें है, तेरी पर्यायमें है। तेरी पर्यायमें संसार न हो तो उसे दूर करना नहीं रहता—ऐसा आगेकी गाथाओंमें कहेंगे।

पुद्गलकर्म अपने आप स्वयं परिणमित होता है, परद्रव्य उसे परिणमित नहीं करता; वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती। [illegible] परमाणुकी अवस्था बदलकर होती है—यह [illegible] है। परमाणु स्वतंत्रतया बदलकर छोड़ेंगे

लकड़ी होती है और लकड़ीसे लोहा भी परमाणुओंके स्वतंत्ररूपसे बदलनेसे होता है। किसी भी वस्तुमें परिवर्तित होनेकी जो शक्ति है वह परकी अपेक्षा नहीं रखती, यदि परकी अपेक्षा रखे तो वस्तु पराधीन हो जाये। किसीको ऐसा विचार हो कि परवस्तुका निमित्त तो है न ? निमित्त मात्र होता है, परन्तु वह किसी द्रव्यको बदल नहीं देता—परिणमित नहीं कर देता। वस्तु किसीकी अपेक्षा नहीं रखती, द्रव्यकी पराधीनता नहीं किन्तु स्वाधीनता है; निमित्त मात्र उपस्थित होता है परन्तु परवस्तुको वह बदल नहीं देता। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा ही समझे तो सम्यग्ज्ञान हो जाये। शरीरका बदलना, हिलना-डुलना इत्यादि कार्यका कर्ता पुद्गल द्रव्य है कारण कि-पुद्गलद्रव्य स्वतः परिणमित होकर उसरूप होता है, आत्मा उसे नहीं कर देता। आठ कर्म अपने आप ही परिणमित हो रहे हैं; जो स्वतःसे ही बदलता हो उसे दूसरा बदलता है—ऐसा कहना मिथ्या है। निमित्त होता अवश्य है परन्तु वस्तुपरकी अपेक्षा नहीं रखती, स्वतः परिणमित होती रहती है।

पुद्गलद्रव्य परिणमन स्वभाववाला स्वयमेव है। ऐसा होनेसे जिसप्रकार घड़ेरूपमें परिणमित हुई मिट्टी ही स्वतः घड़ा है वैसे ही, जड़ स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य ही स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म हैं। इसप्रकार पुद्गलद्रव्यका स्वतंत्र परिणाम-स्वभावपना सिद्ध हुआ।

घड़ेका कर्ता कुम्हार है—ऐसा कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि वस्तुकी शक्ति परकी अपेक्षा नहीं रखती। मिट्टीमें बदलनेकी शक्ति है, घड़ा होनेमें मिट्टी स्वतः ही सन्मुख हो रही है, मिट्टी स्वतः परिणमित होकर घड़ा होता है। उसीप्रकार ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मरूप पुद्गलों स्वतः परिणमित होकर होते हैं, तेरा तत्त्व पृथक् है और उसका तत्त्व पृथक् है; प्रत्येक द्रव्य पृथक् है, इसप्रकार पुद्गलद्रव्यका परिणाम-स्वभावपना सिद्ध हुआ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

उपजाति

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं,
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥

अर्थः—इसप्रकार पुद्गलद्रव्यकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। यह सिद्ध होनेसे, पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

पुद्गलद्रव्यमें स्वभावरूपसे परिणमित होनेकी अर्थात् स्वभावरूप परिवर्तित होनेकी शक्ति निर्विघ्नतया सिद्ध हुई। पुद्गलद्रव्यमें परिणमित होनेकी अर्थात् अवस्थासे अवस्थान्तर होनेकी शक्ति स्वतंत्र है, उसे परिणमित होनेमें कोई बीचमें विघ्न नहीं कर सकता। जो ऐसा कहते हैं कि हम हो तो जड़का कार्य हो, वैसा कहनेवालेसे कहते हैं कि निःशंकतया पुद्गलद्रव्यकी शक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई, परमाणुमात्र अपनी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायको स्वयं बदलता है; परमाणु स्वतः ही एक अवस्थासे परिणमित होकर दूसरीमें उत्पन्न होता है; उसकी अवस्था होनेमें उसीका कारण है, किसी परका कारण नहीं है—ऐसा निश्चित होनेसे पुद्गलद्रव्य अपने भावोंको करता है, उन भावोंकी वह स्वतः ही कर्ता है।

अब जीवका परिणामीपना सिद्ध करते हैं:—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥ १२१ ॥
अपरिणमंतह्मि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मतविषैं, परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥
क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥१२२॥
जो क्रोध–पुद्गलकर्म–जीवको, परिणमावे क्रोधमें।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥
अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे–तुझ बुद्धिसे।
तो क्रोध जीवको परिणमावे क्रोधमें–मिथ्या बने ॥१२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव, मानोपयोगी मान है।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभ हि बने ॥१२५॥

अर्थः—सांख्यमतके अनुयायी शिष्यके प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! यह जीव स्वयं कर्ममें नहीं बंधा है, और स्वयं क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होता—ऐसा यदि तेरा मत हो तो वह (जीव) अपरिणामी सिद्ध होता है। और जीव स्वतः क्रोधादिभावरूप परिणमित न होनेसे संसारका अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है।

पुनश्च, पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह जीवको क्रोधरूप परिणमित करता है—ऐसा तू मानता है तो यह प्रश्न होता है कि जो स्वतः

परिणमित नहीं होता ऐसे जीवको क्रोध कैसे परिणमित कर सकता है? अथवा यदि आत्मा अपने आप क्रोधभावरूप परिणमित होता है—ऐसी तेरी बुद्धि हो तो क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमित करता है—ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है।

इसलिये यह सिद्धान्त है कि क्रोधमें उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकारमें परिणमित हुआ है ऐसा) आत्मा क्रोध ही है, मानमें उपयुक्त आत्मा मान ही है, मायामें उपयुक्त आत्मा माया है और लोभमें उपयुक्त आत्मा लोभ है।

यदि आत्मा स्वतः ही राग-द्वेषमें विकार भावसे स्वयं परिणमित होकर न होता हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेषरूप आत्मा स्वतः परिणमित होकर न होता हो तो जीव अपरिणामी सिद्ध होता है और आत्माकी अवस्थामें विकार हुए बिना संसार किसका? संसार आत्माकी विकारी अवस्था है यदि वह आत्मामें न होती हो तो संसार ही न हो और संसार न हो तो मोक्ष भी न हो।

कोई कहे कि क्या किया जाये भाई! कर्मका ऐसा तीव्र उदय हो धंधेमें सच्चा-झूठा तो करना पड़ता है। परन्तु वैसा कहनेवालेकी बात बिल्कुल मिथ्या है। यदि तू क्रोधादिमें परिणमित न हो तो क्या जड़ तुझे बलात् क्रोधादिमें लगाता है? यदि जड़ तुझे क्रोधादिमें परिणमित करे तो जड़ चैतन्यके परिणामका कर्ता हुआ इससे दो द्रव्य एक हो गये। परन्तु ऐसा वस्तुका स्वभाव है ही नहीं; आत्मा स्वतः ही क्रोधादि विकाररूप परिणमित होता है उस समय जड़कर्म निमित्त-रूप होते हैं।

सांख्यमत आत्माको बिल्कुल शुद्ध मानता है, अवस्थाको मानता ही नहीं। पूर्वकी कितनी ही गाथाओंमें ऐसी बात आई थी कि आत्मा शुद्ध है और क्रोधादि जड़ हैं, परन्तु इस गाथामें अवस्थाकी बात की है, क्योंकि कोई शुष्क ऐसी बात न ले जाये कि अपनेको तो ऐसे कि ऐसे विषय-कषाय करना चाहिये, क्योंकि आत्मा तो शुद्ध है, इसलिये

चाहे जैसे विषयादिमें वर्तन करें तो भी कोई हानि नहीं है। वैसी शुष्कता न होनेके लिये आचार्यदेव समझाते हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विकारी भाव तेरे आत्माकी अवस्थामें होते हैं। एकबार कहा कि क्रोधादि तेरे नहीं हैं और फिर कहते हैं कि क्रोधादि तेरी अवस्थामें होते हैं। क्रोधादि भाव तेरे स्वरूपमें नहीं हैं—ऐसा कहा वह ध्रुव शक्तिरूप वस्तु सम्यक्श्रद्धाका विषय है। सम्यक्श्रद्धा परिपूर्ण अखण्ड द्रव्यको स्वीकार करती है; वह अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्यायको स्वीकार नहीं करती, परन्तु श्रद्धाके साथ रहता हुआ ज्ञान परिपूर्ण अखण्ड द्रव्यको जानता है और अपूर्ण, पूर्ण एवं विकारी पर्यायको भी जानता है, तथा वह जानता है कि मलिनता मेरे पुरुषार्थकी अशक्तिसे होती है। इसप्रकार अवस्थाको बतलानेके लिये यहाँ अवस्थादृष्टिसे कहा है; अवस्थामें मलिनता है अवश्य, नहीं हो—ऐसा नहीं है। यदि अवस्थाको मलिन न माने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है; पुरुषार्थकी अशक्तिसे स्वतः यदि विकारी अवस्थारूप परिणमित न हो तो मलिनता न हो, जड़कर्म मलिनता नहीं करा देते। यदि जड़ कर्म मलिनता करायें तो संसारी जीवोंके साथ कर्म स्थायी ही हैं वे तो मलिनता कराते ही रहेंगे और तुझे शुद्ध होनेका प्रसंग ही नहीं आयेगा; परन्तु कर्म आत्माको क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं करते; स्वतः विकारी अवस्थारूप परिणमित हो तो क्रोधादि कषाय होते हैं। इसप्रकार क्रोध, मान, विषय, कषाय इत्यादि अपने ही कारणसे हैं, इससे यह बात मिथ्या सिद्ध होती है कि जड़कर्म जीवको क्रोधादि भाव कराते हैं। इसलिये त्रिकाली नियम है कि जिसका उपयोग क्रोधाकारमें परिणमित हुआ है ऐसा आत्मा क्रोध ही है, मानमें युक्त आत्मा मान ही है, मायामें लगा हुआ आत्मा माया ही है और लोभमें लीन आत्मा लोभ ही है।

आत्माका असली स्वरूप तो शुद्ध है, पवित्र है, परन्तु पुरुषार्थकी अशक्तिसे अपने स्वरूपसे च्युत होकर—स्वरूपमें स्थिर न रहकर अरुचि, पश्चाताप, क्रोध, मानादिमें युक्त हो जानेसे अपनी अवस्थामें

नरक [illegible] जड़कर्म किस प्रकार [illegible] अपने आप ही [illegible] उसे परकी अपेक्षा [illegible] कि जिसमें स्वतः परिणमन-शक्ति नहीं है उसे दूसरा कोई परिणमित [illegible] है? और दूसरी बात यह कि यदि स्वयं परिणमित होता हो तो फिर दूसरेकी अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं है। वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं, स्वयं-अपने आप ही [illegible] परिणमित होती हैं उसमें परका साथ नहीं है। यह पहली द्रव्य-गुण-पर्यायकी स्वतंत्रता माननेकी व्यवहारशुद्धि बतलाते हैं। कर्म मुझे बलात् राग द्वेष कराते हैं—ऐसी मान्यतासे स्वभावकी शुद्धि नहीं होगी, परन्तु यदि ऐसा माने कि कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते, मैं अपने पुरुषार्थकी अशक्तिसे अपनी भूलसे राग-द्वेषमें परिणमित होता हूँ इससे विकार होता है, तो यह अभी व्यवहारशुद्धि है। अंतरंगमें शुभाशुभ परिणामोंसे भी आत्माका स्वरूप पृथक् है—ऐसी द्रव्यदृष्टिकी बात तो अभी बाकी रहती है। यह दोनों तो द्रव्यकी स्वतंत्रताकी बातें हुईं।

जड़ और चैतन्य दोनों स्वतंत्र-पृथक् पदार्थ हैं, कोई किसीको बदल नहीं सकता। कितने ही लोग कहते हैं कि—जैसे कर्म उदयमें आये वैसे ही पुण्य या पापके परिणाम होते हैं, परन्तु वैसा नहीं है। यदि तेरे भावोंमें मन्दकषाय हो तो पूजा-भक्तिके शुभपरिणाम हों और तीव्र कषाय हो तो विषय-कषाय होते हैं; वह सब तेरे ही कारणसे होता है,—कर्मके कारण नहीं। तेरा वीर्य अधिक विपरीत होगा तो तीव्र राग-द्वेष होंगे और यदि अल्प विपरीत होगा तो मन्द राग-द्वेष होंगे; जिस प्रकार तेरा वीर्य होगा वैसे ही राग-द्वेष होंगे। कर्मका मन्द उदय हो तो मन्द राग-द्वेष होते हैं और तीव्र उदय हो तो तीव्र राग-द्वेष होते हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। स्वतः तीव्र या मन्द राग-द्वेष करना वह आत्माके हाथकी बात है; कर्म तो निमित्त मात्र हैं। स्वतः जिस प्रकारसे युक्त होता है उस प्रकार राग-द्वेष होते हैं।

चैतन्य स्वयं विकाररूप परिणमित होता है, तथापि जड़ परिणमित करता है ऐसा कहना मिथ्या है। चैतन्य स्वतः परिणमित नहीं होता परन्तु जड़ परिणमित करता है वैसा कहना भी मिथ्या है, क्योंकि जो स्वतः-अपने आप परिणमित नहीं होता उसे अन्य कौन परिणमित कर सकता है? इसलिये दोनों पक्ष मिथ्या सिद्ध होते हैं। आत्मा विकार करनेमें स्वतंत्र है तो फिर अविकारी आत्मधर्म प्रगट करनेमें तो स्वतंत्र होगा ही; उसमें नवीनता क्या है? आत्मा विकार परिणाम या अविकार परिणाम करनेमें स्वतंत्र है—ऐसा सिद्ध हुआ।

इस प्रकार जीव स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होनेसे जिसप्रकार गरुड़के ध्यानरूप परिणमित हुआ मंत्रसाधक स्वतः गरुड़ है उसीप्रकार, जिसका उपयोग क्रोधादिरूप परिणमित हुआ है ऐसा अज्ञानस्वभाववाला जीव ही स्वतः क्रोधादिक है। इसप्रकार जीवका परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ।

आचार्यदेवने गरुड़का उदाहरण दिया है कि जिसप्रकार गरुड़का मंत्रसाधक स्वतः गरुड़का ध्यान करनेसे मैं स्वतः गरुड़ हूँ—ऐसा अज्ञानतासे मानता बैठता है; वैसे ही जिसका उपयोग क्रोधादिरूप परिणमित हुआ है, ऐसा अज्ञानी जीव स्वतः ही क्रोधादि है। अज्ञानीने क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादिको अपना माना है, इससे उसका उपयोग उनमें अटक गया है अर्थात् एकाकार हुआ है, इससे अज्ञानी जीवको क्रोधमय और मानमय कहा है। राग-द्वेष और शुभाशुभ परिणामोंका कर्ता अज्ञानी है किन्तु ज्ञानी नहीं है; ज्ञानी तो राग-द्वेषके परिणामोंका नाशक है—उत्पादक नहीं है। अज्ञानी राग-द्वेषके परिणामोंका उत्पादक है इससे उसे उसमय कहा है।

आचार्यदेव एक ओर कहते हैं कि चौदह गुणस्थान जड़ हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि क्रोध-मान-मायाका विकार आत्माकी पर्यायमें है। जिसके उपयोगकी एकाग्रता विकारमें है वह आत्मा क्रोधरूप है, यह [illegible] कहा है।

आत्मा और उसके गुण नित्य एकरूप रहते हैं, और पर्याय प्रतिक्षण बदलती है; उसमें स्वभाव अवस्थाका कर्ता आत्मा है, पर विकार अवस्थाका कर्ता आत्मा नहीं है। अज्ञानी विकारी अवस्था कर्ता होता है। करनेवाला जिस भावमें कर्ता होकर करता है उस भावका वह कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है।

ज्ञानीके तो सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्ची एकाग्रता अवस्था होती है, यह ज्ञानीका कार्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ विकारी अवस्थाएँ अज्ञानीका कार्य है।

इस प्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है, तथ अपने जिस भावको करता है उसी भावका (—कर्मपनेको प्राप्त भावका) कर्ता होता है। (अर्थात् वह भाव आत्माका कर्म है अ आत्मा उसका कर्ता है)।

भगवान आत्मा स्वतःसे परिवर्तित होनेके सामर्थ्यवाला है, आ नित्यस्थायी रहकर परिवर्तित होनेके स्वभाववाला है; वह परिवर्तन स्वभाव अर्थात् परिणमनस्वभाव किसी संयोगसे नहीं हुआ है, प नहीं हुआ है, विकारसे नहीं हुआ है परन्तु स्वयमेव स्वतः अपनेसे अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है।

परिवर्तनस्वभाववाला है, तथापि जिस भावको—जिस कर्तव्य प्राप्त है उसीका कर्ता होता है। पहले था वही दूसरे क्षण है—न नहीं हुआ है। नाश नहीं होता परन्तु स्थित रहकर परिवर्तित ह है, अवस्थान्तरपनेको प्राप्त होता है।

एक मनुष्य स्वतः क्रोधका भाव बदलकर क्षमाका भाव प्र करता है, उसमें मनुष्य तो वहीका वही है, परन्तु पर्याय बदली है। पर्यायकी अपेक्षासे ऐसा कहा जाता है कि दूसरा मनुष्य हुआ, परन्तु की अपेक्षासे तो क्रोध और क्षमा—दोनों अवस्थाओंमें मनुष्य तो का वही है।

इसीप्रकार आत्मा वस्तु स्वतः स्थायी रहकर परिवर्तन होता

है। उसमें दो प्रकार हैं—ज्ञानी और अज्ञानी, परकी आशा-आश्रय रखकर हो वह अज्ञानी है, मैं दूसरोंका अच्छा-बुरा करूँ और दूसरे मेरा अच्छा-बुरा करें—ऐसा जो भाव है वह सब पराश्रितता है, पराधीनता है, स्वाधीनताका विनाश है, स्वभावकी हत्या है। अपने स्वाधीन-स्वतंत्रस्वभावको भूलकर अच्छे-बुरे मानकर इन भावोंमें रुककर उनका कर्ता हो वह अज्ञानी है।

मैं दूसरेके लिये रुकूँ, दूसरा मेरी सहायता करे-ऐसी पराश्रिततामें नहीं रुका, पराधीनतामें स्थिर नहीं हुआ, राग-द्वेषमें नहीं रँगा है, ऐसे ज्ञानीको पराधीनताके कार्य रुककर स्वसन्मुखता सहित जाननेका कार्य रहा। इससे ज्ञानी पवित्र कार्य करता है, निर्मल पर्याय प्रगट करता है और मलिनताको हटाता है—ऐसे उत्तम ज्ञायकभावका कार्य ज्ञानीको करना होता है।

वह भाव ज्ञानीको ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक्प्रकारसे स्व-परके विवेक द्वारा (सर्व परद्रव्य-भावोंसे भिन्न) आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है।

वस्तु बदलती है तथापि उसमें यह खूबी है कि जो जहाँ रुकता है उसका वह कर्ता होता है और वह उसका कर्म (कार्य) होता है। ज्ञानी समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है. (ज्ञानमें दूसरे अनन्त गुण ले लेना;) मैं ज्ञानका पिण्ड आत्मा हूँ, ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति हूँ, स्वरूपका ज्ञान, स्वरूपकी प्रतीति और स्वरूपमें स्थिरता ही मेरा कर्तव्य है; जो शुभाशुभ विकारी भाव हैं वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा कर्तव्य नहीं है। ज्ञानीको ऐसा स्व-पर विवेक, आत्माकी ख्याति अर्थात् आत्माकी प्रसिद्धि अन्तरमें उदयको प्राप्त हुई है। लोग बाह्यमें प्रसिद्धि मानते हैं, ख्याति प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु वह प्रसिद्धि तो—"आँखोंके अन्धे और नाम नयनसुख" जैसी है। मैं शुद्ध, निर्मल, शांति और पवित्र हूँ—ऐसे स्वभावकी ख्याति ज्ञानीके स्पष्टतया प्रगटदशामें प्राप्त हुई है। इस समय भले ही केवलज्ञान प्रगट नहीं है परन्तु

पुण्य-पापके एक भी अंशको अपनेरूप स्वीकार नहीं करता—ऐसी ख्याति अत्यन्त प्रगट हुई है।

प्रश्नः—ऐसी अन्तरकी प्रसिद्धि जिनके प्रगट हुई है—ऐसे ज्ञानी खाते-पीते तो हैं या नहीं?

उत्तरः—ज्ञानी अमुक भूमिका तक खाते-पीते दिखाई अवश्य देते हैं परन्तु वास्तवमें ज्ञानी खाते भी नहीं हैं, पीते भी नहीं हैं अस्वस्थ भी नहीं होते और स्वस्थ भी नहीं होते। उसीप्रकार अज्ञानी भी खाता-पीता नहीं है और स्वस्थ-अस्वस्थ नहीं होता, परन्तु वह मानता है कि मैं खाता-पीता हूँ स्वस्थ-अस्वस्थ हूँ—वह उसका अज्ञान है।

परसे पृथक्त्वको विवेकरूपसे जानना उन भावोंका ज्ञानी कर्ता है, विवेक पूर्वक परसे निवृत्तरूपसे स्वरूपमें स्थिर होनेरूप अविकारी भावोंका ज्ञानी कर्ता है, वह भाव ज्ञानीका कर्म (कार्य) है।

अज्ञानी अपनी विवेक शक्ति आत्महितके लिये प्रगट नहीं करता, छुपाता है इसलिये स्वतः अपने स्वरूपको नहीं समझता इससे वह ठग है। आजकलके कितने ही मनुष्य तो यह कहते हैं कि हमारी कैसी चतुराई है! हम दूसरोंको ठगकर काम निकालते हैं! परन्तु भाई! वास्तवमें कोई किसीको ठग नहीं सकता; अपने भावोंको स्वतः ही ठगता है; बेइमानी तूने की इसलिये तू ही ठगा गया है; जड़ पदार्थ तेरे कभी नहीं होते, तथापि उन्हें तू मेरा-मेरा कहता है इसलिये तू स्वतः ही ठगा गया है। परको अपना मानना वह हानि स्वतःसे ही अपनेको हुई है। परवस्तुका बदलनेका स्वभाव है इससे वह एकरूप न रहकर पलट जाती है—परिवर्तित हो जाती है। उसके बदलनेसे अज्ञानीको ऐसा होता है कि हाय! हाय! मेरी वस्तु चली गई; वैसा माननेवाला ठग है। जिसने परवस्तुको अपना माना है उसने अपनी वस्तुको अपना नहीं माना है। आत्मामें भी बदलनेका स्वभाव है—आत्मा परिवर्तनस्वभाववाला है, इससे विपरीत मान्यतासे सीधी मान्यता कर सकता है। अज्ञानी पुण्य-पापके भावोंको और परद्रव्य-

परक्षेत्र शरीरादिको अपना मानता है, मैं परसे किस प्रकार भिन्न हूँ—उसका भान नहीं है इसलिये अज्ञानरूप ही उसका कार्य होता है। अज्ञानीके भेदज्ञानकी ज्योति अत्यन्त अस्त हो गई है। जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधे या सर्वार्थसिद्धिके देवका भव मिले वह भाव भी मेरा नहीं है तो फिर स्त्री-बच्चे तो मेरे कैसे होंगे ? किन्तु अज्ञानीको ऐसा भान न होनेसे वह सबको अपना मानता है, क्योंकि उसके भेदज्ञानज्योति अत्यन्त अस्त हो गई है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि किसी भाईने अमुक कार्यमें बुद्धिसे काम किया तो उससे लाखों रुपयेका लाभ हुआ, वैसा मानना वह सब व्यर्थ है। और फिर कहता है कि अमुक प्रसंगमें सब रुपये जानेवाले थे परन्तु व्यापार बन्द कर दिया इससे टोटा होनेसे बच गया। यह सब मानना अज्ञानता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि वस्तुको मैं हिला-डुला सकता हूँ। वस्तु स्वयं फिरती है ऐसा दिखाई देता है तथापि वह मानता है कि मैं बदलता हूँ; परन्तु भाई ! तूने क्या बदला ? तूने अपने विकल्पको बदला है परन्तु परवस्तुको बदलना आत्माके हाथकी बात नहीं है। एक परमाणुको एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें ले जानेकी शक्ति तीन कालमें किसीकी नहीं है। अरे भगवान ! तू तो जड़से पृथक् और राग-द्वेषका नाशक है; उसके बदले ऐसा मानता है कि राग-द्वेषका उत्पादक-परका संग्राहक और परका कर्ता—वह तेरा अज्ञान ही है।

ज्ञानीको स्व-परका भेदज्ञान हुआ है; स्व अर्थात् स्वतः अविकारी चैतन्यमय वस्तु, पर अर्थात् विकारी भाव और जड़ पदार्थ-उनका स्पष्ट भेदज्ञान हुआ है; स्वस्वरूपकी पहिचान करके उसमें लीन हो और परभावोंसे निवृत्त हो। बस, यही मार्ग है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। ज्ञानी ज्ञानका कर्ता है, अज्ञानीके भेदज्ञान प्रगट न होनेसे वह अज्ञानका कर्ता है ॥ १२६ ॥

ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है वह अब कहते हैं:—

हो परन्तु मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ, इसकी अपेक्षा मैं अधिक बुद्धिमान हूँ इत्यादि भाव उसे आये विना नहीं रहते। अज्ञानीमें कर्त्ताबुद्धि साक्षीरूपसे रहनेकी शक्ति नहीं है।

ज्ञानीके चाहे जिस भावमें, चाहे जिस प्रसंगमें साक्षीरूपसे रहनेकी शक्ति है, समस्त भावोंके बीच स्वतः साक्षीरूपसे रह सकता है। अज्ञानीको, चाहे वह कहीं भी हो परके कर्तृत्वके भाव आये विना नहीं रहते। ज्ञानी सबसे अलिप्त है और अज्ञानी सबमें लिप्त है।

वस्तु जैसी है वैसी ही रहेगी; अज्ञानीकी कल्पनासे वस्तु परिवर्तित होनेवाली नहीं है। वस्तु जैसी है उसे वैसा ही रहने दो, कल्पनासे खींचातानी मत करो, कोई वस्तु किसीका कुछ नहीं कर सकती। धर्मका मूल सम्यग्ज्ञान है और अधर्मका मूल अज्ञान है।

ज्ञानीके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही होते हैं, ज्ञानीके अन्तरंगकी पवित्रता देखे बिना बाह्यसे कल्पना मत करना; उससे ऐसा नहीं समझना कि ज्ञानी अन्धाधुन्ध अन्याय और अनीतिके आचरण करे। ज्ञानीके वे आचरण होते ही नहीं।

ज्ञानी हीरे-जवाहिरातका व्यापार करता हो, तथापि उसकी दृष्टि आत्मा पर ही है। अज्ञानी अनन्तवार त्यागी होकर नव ग्रैवेयक तक गया परन्तु भेदविज्ञान सहित अन्तर्दृष्टि प्रगट किये बिना उसके यथार्थ त्याग नहीं हुआ।

यह मनुष्य उच्च जातिका है इसलिये ऊँचा है और यह नीची जातिका है इसलिये नीचा है,—वह परीक्षाकी दृष्टि नहीं है। उच्च-नीच स्थान पर न देखकर उसकी दृष्टि विकार पर है या अविकारी आत्मा पर—उससे माप होता है। दृष्टि सम्यक् हो तथापि अपनी-अपनी भूमिकानुसार ज्ञानीके शुभाशुभ भाव आते अवश्य हैं परन्तु वह स्वच्छन्दी नहीं होता। वह समझता है कि मेरे पुरुषार्थकी मन्दता है इससे यह भाव आते हैं, यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो

स्वरूप है, उसीके साथ मुझे सम्बन्ध है, उसके सांसारिक पदका और मेरा किसी कालमें कोई सम्बन्ध नहीं है।" ऐसा पहले पुरुषार्थ, स्वभावकी सावधानता, विभावकी निषेधता और इसप्रकार स्वतन्त्रताका ज्ञान वस्तुस्वभावके स्पर्श सहित ज्ञानीको होता है, इससे उसके सम्पूर्ण भाव पवित्र ही होते हैं।

जिस प्रकार कोई स्त्री पानी भरने गई हो, बच्चेको घर पर सुलाया हो, और घर तथा पड़ौसमें भी कोई न हो तो उसे ऐसा लगता है कि कदाचित् लड़का रोयेगा, इससे जल्दी गागर भरकर घर पहुँचूं। वहाँ मार्गमें कोई सहेली मिल गई और वह बात करनेके लिये खड़ी हो गई तो वहाँ वह आधा उत्तर दे–न दे और कहेगी कि बहिन! फिर मिलूँगी; लड़का अकेला घरमें सो रहा है,—इस प्रकार लड़केके परसे दृष्टि नहीं हटती। थोड़ा आगे चली कि दूसरा कोई पीहरके समाचार देने लगा, तो उसे भी कहती है कि भाई! तुम घर पर आना, अभी रुक नहीं सकती, क्योंकि लड़का अकेला सूने घरमें सो रहा है ताला लगाकर आई हूँ। इस प्रकार पीहरके समाचार मिलनेमें भी पुत्रका ध्यान नहीं चूकती। इसीप्रकार धर्मी जीव–ज्ञानी जीव राज्य करता हो, व्यापार करता हो, युद्ध करता हो तथापि अपने स्वभावके ध्येयसे च्युत नहीं होता। धर्मी जीव कोई भी सांसारिक कार्यका राग भाव कर रहा हो परन्तु उन सबमें उसे ऐसा रहता है कि यह मेरा नहीं, यह मेरा नहीं है, मेरा तो नित्य ज्ञातास्वभाव है ज्ञातास्वभाव ही मेरा धन है–स्व है। इस प्रकार अपने ध्रुव स्वभावपर दृष्टि जमी की जमी ही है। जिसप्रकार उस स्त्रीको बाहर कार्य करते हुए भी लड़केके परसे ध्यान नहीं हटता उसीप्रकार स्वभाव दृष्टिवंत ज्ञानीको बाह्यकार्य करनेका रागभावके समय भी ज्ञायकस्वभाव परसे दृष्टि नहीं हटती बाह्यसे अल्प आसक्ति-लीनता दिखाई देती है किन्तु अन्तरसे तो उदासीन! उदासीन है।

लोग ऐसा मानते हैं कि देखो तो! स्त्री पानी भरने गई और बच्चेको तालेमें जेलमें बन्द कर गई, अरे भाई! तू जेल कहता है

तो जेल सही, परन्तु तू यह नहीं जानता कि लड़का मेरा जीवन है ? माताका लड़केके प्रति प्रेम तो उसके कार्य परसे दिखाई देता है, क्योंकि उसे एक ही लक्ष है और एक ही डोर है। परन्तु नासमझ विपरीत-दृष्टिसे देखता है और बुद्धिमान सीधी-यथार्थ दृष्टिसे; उसीप्रकार ज्ञानीके बाह्य कार्य देखकर लोग ऐसा कहें कि ज्ञानी होकर लड़ाई कर रहा है, गृहस्थ है व्यापार करता है। अरे भाई! तू 'लड़ाई कर रहा है' कहता है तो वही सही, और 'स्त्रियोंमें विद्यमान कहे' तो वैसा ही मान ले, परन्तु हमारे अन्तरमें उनके प्रति कितनी अरुचि, कितनी उदासीनता तथा स्वभावकी कितनी रुचि और कितनी लीनता है उसे तू कैसे समझ सकता है ? उसे तो हमारा ही हृदय जानता है। अज्ञानीको अज्ञान भावसे खतौनी नहीं छूटती और ज्ञानीको ज्ञानभावसे। ज्ञानमेंसे ज्ञानका ही कार्य आता है और अज्ञानमेंसे अज्ञानका ही। जैसे कारण वैसा ही कार्य होता है। जैसे प्रकाश अंधेरेका काम नहीं करता वैसे निज आत्माके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाला सम्यग्ज्ञान ज्ञानका ही कार्य करता है अज्ञानका कार्य नहीं करता।

अज्ञानी कहता है कि वृद्धावस्थामें पैसा गया, लड़का मर गया इत्यादि प्रतिकूलतायें आई इससे सहन करना मुश्किल दिखाई देता है; परन्तु यदि जवानीमें गया होता तो सहन कर लेता; इस प्रकार सर्वत्र अज्ञानीकी संयोगों पर ही दृष्टि पड़ी है। ज्ञानी चाहे जैसे संयोगमें हो तथापि उसके सच्चा समाधान और असंयोगी दृष्टि बनी रहती है—निरपेक्ष ज्ञाता-साक्षी स्वभाव पर दृष्टि बनी रहती है। ज्ञानी युद्धमें-व्यापारमें या स्त्री-वस्त्रोंमें दिखाई दे तथापि उसकी दृष्टि अपने ज्ञानानंदमय स्वभावमें है, अतः परमें कहीं भी एकत्वबुद्धि नहीं होती, अंतरसे पृथक् ही है तथापि वर्तमान पुरुषार्थकी कमजोरीसे अल्प राग-द्वेष होता है; यदि अल्प राग-द्वेष न हो तो बंध न हो, मुनि हो जाये-वीतराग हो जाये, परन्तु वह दशा नहीं है इसलिये अल्प विकार है, पुरुषार्थ रुकता जाता है परन्तु दृष्टि तो ध्रुव विज्ञानघन स्वभाव पर ही है। इस प्रकार ज्ञानीको ज्ञानभाव होते हैं और अज्ञानीको अज्ञानभाव।

वृद्धि; जहाँ जिसकी भावना नहीं है वहाँ उसका क्षय है—वृद्धि नहीं है। ज्ञानीको गुणोंकी भावना होती है या अवगुणोंकी? गुणोंकी ही होती है। बस जहाँ जिसकी भावना वहाँ उसकी वृद्धि। ज्ञानीको अल्प राग है उसे वे उपाधिरूप मानते हैं, उसका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते उसे करनेकी भावना और रखनेकी दृष्टि नहीं है तथा उत्पन्न करनेका भाव नहीं है। ज्ञानी कर्मकी जबर्दस्तीसे विकारमें युक्त नहीं होते, कर्म बलात् उन्हें विकारमें प्रवर्तित नहीं करता परन्तु अपना पुरुषार्थ किंचित् मचक खाता है इससे राग-द्वेष होता है; तथापि ज्ञातृत्वसे च्युत होकर राग-द्वेषमें युक्त नहीं होते, उसका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते। जिस-प्रकार आकाश-पाताल, पत्थर-लकड़ी आदि ज्ञेय ज्ञात होते हैं उसी-प्रकार क्रोधादि भाव ज्ञानीको जाननेमें आते हैं। जिस प्रकार भंगी वणिककी जातिका नहीं उसी प्रकार काम, क्रोधादि आत्माकी जातिके नहीं हैं—वैसा ज्ञानीको देखनेमें आता है। भंगीका लड़का वणिकका उत्तराधिकार नहीं लेता। उसी प्रकार चैतन्यरूपी स्वजातिकी प्रतीति होनेसे, विजातीय काम, क्रोधादि मेरे स्वगुणोंका उत्तराधिकार रखने-वाले नहीं हैं ऐसा धर्मीके देखनेमें आता है। निष्कलंकी स्वभावमें यह कलंकस्वरूप मेरा नहीं है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, यह मेरा कार्य नहीं है, मेरा कार्य तो ज्ञानमय है—ऐसा ज्ञान ज्ञानीके वर्तता है, ज्ञानीका स्वामित्व निरन्तर ज्ञानमें ही प्रवर्तमान रहना है; पुरुषार्थकी अशक्तिसे अल्प विकार होता है परन्तु उसमें वे ज्ञातृत्वसे च्युत होकर परिणमित नहीं होते इससे ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानमय ही हैं।

अब, आगामी गाथाकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्॥ ६८॥

अर्थ:—अज्ञानी (अपने) अज्ञानमय भावोंकी भूमिकामें व्याप्त होकर (आगामी) द्रव्यकर्मके निमित्तसे जो (अज्ञानादि)

भाव हैं, उनके हेतुत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्मके निमित्तरूप भावोंका हेतु बनता है)।

आत्मा निर्विकारी, स्वसंवेद्य, निर्दोष और पवित्र है। अज्ञानी उसे भूलकर अज्ञानमय भावोंकी भूमिकामें व्याप्त होकर अर्थात् रहकर नवीन कर्म बांधनेका अज्ञान और राग-द्वेषके भाव करता है; जड़-कर्मका उदय आनेसे स्वतः अज्ञान और राग-द्वेषके भाव करता है वह नवीन कर्मोंका हेतु होता है; पुराने कर्मोंके उदयमें जुड़नेसे उस समय वर्तमान विकारी भावरूप भावोंका कर्ता होता है इससे वे भाव नवीन कर्मोंका कारण बनते हैं ॥ १३१ ॥

यही अर्थ पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

जो तत्त्वका अज्ञान जीवके, उदय वो अज्ञानका ।
अप्रतीत तत्त्वकी जीवके जो, उदय वो मिथ्यात्वका ॥ १३२ ॥
जीवका जु अविरत भाव है, वो उदय अनसंयम हि का ।
जीवका कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषायका ॥ १३३ ॥

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तनरूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह करते जीवके उदय वो जानो योगका ॥ १३४ ॥
जब होय हेतुभूत ये तब स्कंध जो कार्माणके।
वे अष्टविध ज्ञानावरण इत्यादिभावों परिणमें ॥ १३५ ॥
कार्मणवरगणारूप वे जब, बंध पावें जीवमें।
आत्मा हि जीव परिणाम, भावोंका तभी हेतू बने ॥ १३६ ॥

अर्थः—जीवोंको जो तत्त्वका अज्ञान (वस्तुस्वरूपका अयथार्थ-विपरीत ज्ञान) है वह अज्ञानका उदय है और जीवोंको जो (तत्त्वका) अश्रद्धान है वह मिथ्यात्वका उदय है। पुनश्च, जीवोंको जो अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है और जीवोंको जो मलिन (ज्ञातृत्वकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है वह कषायका उदय है। और जीवोंको जो शुभ या अशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप (मन-वचन-काय आश्रित) चेष्टाका उत्साह है वह योगका उदय जानो।

यह (उदय) हेतुभूत होनेसे जो कार्मणवर्गणागत (कार्मण-वर्गणारूप) पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूपमें आठ प्रकारसे परिणमित होता है वह, जब वास्तवमें जीवमें बंधता है तब, जीव (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका हेतु होता है।

आत्माके स्वभावकी ओरका ज्ञान न करके परका ही ज्ञान करना सो अज्ञानभाव है, वह अज्ञानका उदय है।

मैं सुखरूप हूँ—ऐसी प्रतीति न होनेसे परमें सुखबुद्धि होना, परमें अपनेपनकी बुद्धि होना सो मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यता होनेमें पूर्वके मिथ्यात्वकर्मके विपाकका निमित्त है। उस उदयकी ओर आत्मा उन्मुख हो तब, भ्रांति होती है, कर्म बलात् कराते हैं ऐसा नहीं है।

परको आसक्तिसे मुक्त नहीं हुआ — वह अत्यागभाव है अर्थात् अविरतिभाव है, उस अविरतिभावमें कर्मोदयका निमित्त है। उपयोगमें निर्मलता-स्वच्छता नहीं रहती वह कषायभाव है; उस कषाय

ावमें कषाय कर्म निमित्त है। शुभयोगमें या अशुभयोगमें वर्तना अथवा ावृत्य होना अर्थात् शुभमें प्रवर्तन करना और अशुभसे निवृत्य होना, ाशुभमें वर्तन करना और शुभसे निवृत्य होना–वह योगका उदय है। ात्माके प्रदेशोंका कम्पन है वह योग है, विकार है उसमें कर्मका ामित्त है।

पुराने कर्मोंके उदयके विपाकमें स्वयं युक्त हो वह नवीन कर्म-न्धका कारण होता है। तत्त्वके अज्ञानरूपसे (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा ापलब्धिरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ (स्वादमें आता हुआ) ाज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके उदय–जो ाक (नवीन) नवीन कर्मके हेतु हैं वे, उसमय अर्थात् अज्ञानमय चार भाव हैं।

आत्मा तो शुद्ध पवित्र है परन्तु अवस्थामें विकाररूप परिणमित होते हैं इससे ज्ञान हीन होता है। अल्प ज्ञानका जो स्वाद आता है उसमें ज्ञानावरणीयकर्मके विपाकका फल है। विपरीत ज्ञानका जो स्वाद है वह अपवित्रताका स्वाद है—पवित्रताका नहीं। यहाँ इस गाथामें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—उन चारों भावोंको अज्ञानमय कहा है और सम्यग्दृष्टिके वे चारों भाव नहीं हैं—ऐसा कहा है। अज्ञानभावमें चारों स्थित हैं और ज्ञानभावमें चारों नष्ट हो गये हैं। चैतन्यके ज्ञानस्वभावमें स्थिर न हो तो ज्ञानहीन होता है वह अज्ञान-भाव है; चैतन्यके असंग–असंयोगी स्वभावमें स्थिरता न करे और परमें आत्मबुद्धि करके वहाँ लीन हो तो मिथ्यात्व है; स्वरूपकी निवृत्तिमें स्थिर न हो और परकी आसक्तिमें स्थिरता करे वह परका अत्याग भाव अविरति है; स्वभावकी निर्मलतामें न रुके और मलिन उपयोगमें स्थिर हो वह कषाय है; अयोगमें न रुके और कम्पनमें युक्त हो वह योग है। जहाँ आत्माका सम्यग्भान हुआ वहाँ अज्ञान गया, मिथ्यात्व दूर हुआ, उस प्रकारकी अंशतः स्थिरता हुई, उस प्रकारका अर्थात् मिथ्यात्व सम्बन्धी कषाय और योग दूर हो गया; सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ उसका अन्त हो गया। चारोंको अज्ञानमयभाव कहा है।

कोई कहेगा कि योग तो केवलीको भी होता है न? केवलीके योग होता है परन्तु वह पर्यायदृष्टिसे बात है। यहाँ तो यह बात की है कि सम्यग्दृष्टिको वस्तुदृष्टि हुई वहाँ सब चला गया।

वस्तुमें अज्ञान नहीं है भ्रांति नहीं है, अविरति नहीं है, कषाय नहीं है, योग नहीं है। जिस प्रकार वे वस्तुमें नहीं हैं—उसीप्रकार जिन्हें वस्तुदृष्टि हुई है उनके भी वह नहीं हैं। वस्तुदृष्टिवंतके अज्ञान नहीं है, भ्रांति नहीं है, अविरति नहीं है और योग भी नहीं है। अज्ञानका कर्ता और कार्यपना अज्ञानभावमें होता है, भ्रांतिका कर्ता और कार्यपना अज्ञानभावमें होता है, कषायका कर्ता और कार्यपना अज्ञानभावमें होता है; कम्पनका कर्ता और कार्यपना भी अज्ञानभावमें होता है।

ज्ञानभावमें अज्ञानका कर्ता–कर्मपना नहीं है; भ्रांतिका कर्ता–कर्मपना नहीं है, अविरतिका कर्ता–कर्मपना नहीं है कषायका कर्ता–कर्मपना नहीं है और योगका भी कर्ता–कर्मपना नहीं है। ज्ञान होने पर वे समस्त अज्ञानमयभाव नहीं होते; ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प विकारी भाव होते हैं परन्तु उनका वह कर्ता नहीं होता, स्वामी नहीं होता इसलिये नित्य स्वभावका आश्रय करनेवाला ज्ञान होनेसे वे समस्त अज्ञानमय भाव नहीं होते। स्वभावका भान होनेसे परका कर्ता–भोक्ता होता ही नहीं; यदि कर्ता–भोक्ता हो तो उसे स्वभावकी खबर ही नहीं है। यह सम्पूर्ण वस्तुदृष्टिका विषय है, परिपूर्ण स्वभावसे भरपूर अनन्त गुणोंके पिण्ड आत्मा वस्तुदृष्टिका विषय है। वस्तुदृष्टिमें सम्पूर्ण आता है परन्तु ज्ञान स्व–पर प्रकाशक है इससे वह अपूर्णदशाको भी जानता है और पूर्ण अवस्थाको भी जानता है। वस्तुदृष्टिके साथ जिस ज्ञानकी पर्याय प्रगट होती है वह ज्ञान यथार्थ जानता है। ज्ञान पूर्ण विषयको भी जानता है और जो अल्प विकारी भाव रहा उसे भी जानता है, साधक भावरूप निर्मल पर्यायको भी जानता है और बाधक भावरूप समल पर्यायको भी जानता है, द्रव्यको भी जानता है और अपूर्ण–पूर्ण पर्यायोंको भी जानता है।

दृष्टि होनेके पश्चात् अल्प राग-द्वेष होता है उसे दृष्टि स्वीकार नहीं करती; ज्ञान उसे जानता है परन्तु दृष्टिके अभेद विषयमें भेद नहीं पड़ता; दृष्टिपूर्वकका ज्ञान सच्चा ज्ञान है। ज्ञान, सम्यग्दर्शनके विषयकी परिपूर्णताको भी जानता है और अवस्थाके विभागको भी जानता है।

अज्ञान अर्थात् स्वभावसे च्युत होनेवाला भाव। पहले अज्ञानकी सामान्य बात की पश्चात् चार भेद किये। आत्मा आनन्दमूर्ति है उसमें शांति और सुखका स्वाद न मानकर परमें आनन्द माननेसे ज्ञानमें जो आकुलता होती है वह भ्रमणा है; अपनेमें सुख है उसका लक्ष न करके, परमें सुख है वैसा लक्ष करनेसे परिणामोंमें जो आकुलता होती है वह कलुषिता है, अज्ञान है; यहाँ मुख्यतया सभी बोलोंमें अज्ञानभावको लिया है। आत्माके स्वभावका भान न हो तब विपरीत मान्यताका स्वाद होता है परन्तु स्वभावका स्वाद नहीं होता, तत्त्वश्रद्धाका परिणमन नहीं होता इससे परका आश्रय और पराधीनता दूर नहीं होती इसलिये वह आकुलतारूप है।

तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होनेवाला मिथ्यात्वका उदय है। अविरमणरूपसे (अत्यागभावरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होनेवाला असंयमका उदय है। कलुष (मलिन) उपयोगरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होनेवाला कषायका उदय है। शुभाशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिके व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होनेवाला योगका उदय है।

विपरीत मान्यताका भाव कलुषित है; भले ही ग्यारह अंगका विकास हो तथापि वह विनाशीक है। वस्तुदृष्टिके लक्ष्यपूर्वक जो विकास हो वह अविनाशी है। ज्ञानीको वर्तमान पर्यायमें मूढ़त्व या अभान नहीं होता, वर्तमान पर्यायमें अस्थिर नहीं होता; अस्थिरतामें आत्मबुद्धि नहीं होती। अस्थिरता उत्पन्न करनेकी भावना नहीं होती और उसे रखनेकी दृष्टि नहीं होती। चारित्रदोषके कारण अल्प अस्थिरता होती है उसे वह हेय और उपाधि मानता है। अल्प कषायभाव होता है— वह अवस्थादृष्टिमें जाती है द्रव्यदृष्टिमें तो वह गौण है। ज्ञानमें दोनों बातें हैं। आत्मा परसे निराला है, उसकी प्रतीतिके विना, विश्वासके

और नवीन कर्मबन्ध। जो नवीन कर्म बंधते हैं वे पुराने कर्मोंसे बंधते हैं अर्थात् कर्मका उदय आनेसे जीव अज्ञानभावसे उस ओर युक्त होता है इससे नवीन कर्म बंधते हैं। जो विकारी भाव हैं वे परोन्मुखताके भाव हैं इसलिये वे अज्ञान हैं; अजागृत हैं, जड़ हैं; इस प्रकार पुराने कर्म नवीन कर्मोंको बांधते हैं। पुराने कर्मोंका फलित होना, नवीन कर्मोंका बंधना और जीवका अतत्त्वश्रद्धानादिरूपमें परिणमित होना—यह तीनों एक ही समय होते हैं। जीव स्वतः ही अपने परिणामोंका हेतु होता है, स्वयं ही विपरीत पुरुषार्थ द्वारा निमित्तकी ओर युक्त होता है, पुराने कर्म राग-द्वेष नहीं कराते, वे नवीन कर्मोंसे नहीं कहते तू कर्मरूपसे बँध जा? अथवा तू स्वतः उस ओर युक्त हो जा। ज्ञानी पुराने कर्मोंकी ओर युक्त नहीं होता इससे उसके नवीन कर्म नहीं बँधते। यहाँ चारों अज्ञानके बोल लिये हैं। अज्ञानपूर्वक मिथ्यात्व है—ऐसा नहीं; किन्तु वास्तवमें मिथ्यात्वपूर्वक अज्ञान है। कर्मके उदय निमित्तभूत होनेसे, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूपमें परिणमित होते हैं और जीवके साथ बंधते हैं और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभावसे ही अतत्त्वश्रद्धानादि भावोंरूप परिणमित होता है। इस प्रकार अपने अज्ञानमय भावोंका कारण स्वतः ही होता है। मिथ्यात्वादिका उदय होना, नवीन पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमित होना तथा बँधना और जीवका अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावोंरूप परिणमित होना—वे तीनों एक ही समयमें होते हैं। कोई किसीका कर्ता नहीं है, सब स्वतंत्रतया-अपने आप ही परिणमित होते हैं, कोई किसीको परिणमित नहीं करता।

यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग-चारों बोलोंको अज्ञानमय लिया है; सम्यग्दृष्टिको वे चारों बोल नहीं हैं। आत्माका सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ अज्ञान गया, मिथ्यात्व दूर हुआ, उस प्रकारकी अंशतः स्थिरता हुई, कषाय गया, मिथ्यात्व सम्बन्धी योग गया, इस प्रकार सब चला गया। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् अल्प कषायादि रह

जायें वह बात यहाँ गौण है क्योंकि वह अवस्थादृष्टिकी बात है। यह बात वस्तुदृष्टिकी है।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि अखण्ड वस्तु पर है, द्रव्यदृष्टिका विषय सम्पूर्ण–परिपूर्ण द्रव्य है।

द्रव्यदृष्टि–अखण्डदृष्टि, वस्तुकी अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्यायको स्वीकार नहीं करती। अरे! निर्मल पर्यायको भी स्वीकार नहीं करती; निर्मल पर्याय जितना भी आत्माको नहीं मानती। द्रव्यदृष्टिका विषय तो अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य है।

द्रव्यदृष्टिके विषयमें अपूर्ण या पूर्ण पर्यायके भङ्ग नहीं आते, साध्य-साधकके भङ्ग नहीं आते। द्रव्यदृष्टि अखण्ड परिपूर्ण निरपेक्ष द्रव्यको स्वीकार करती है। अपूर्ण, पूर्ण, विकारी पर्यायें हैं अवश्य, उनको कहीं बिल्कुल नास्ति नहीं है, परन्तु द्रव्यदृष्टिका वह विषय नहीं है—द्रव्यदृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती। अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्यायको ज्ञान जानता है, शुभाशुभ परिणाम एक क्षणपर्यन्त आत्माकी पर्यायमें होते हैं उन्हें सम्यग्ज्ञान जानता है, वह असद्भूतव्यवहारनय है। अपूर्ण निर्मल पर्याय और पूर्ण निर्मल पर्यायको जाननेवाले ज्ञानको सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

द्रव्य और पर्याय दोनोंको एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है; द्रव्यदृष्टिके बल पूर्वक निर्मल पर्याय बढ़ानेसे ज्ञान सामान्यके साथ एकमेक होता है अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों एक होते हैं वह प्रमाणज्ञान है। सामान्यरूप पूर्ण द्रव्य है, निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्यके साथ एकता होती है वह सामान्य और विशेष दोनोंको एक साथ जानना वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान द्रव्यदृष्टिको और अपूर्ण, पूर्ण, विकारी पर्यायको यथार्थतया जानता है।

ज्ञानीके यथार्थद्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है, उसके बलमें स्थिरताकी वृद्धि करता हुआ केवलज्ञानको प्राप्त करता है परन्तु जहाँ तक अपूर्ण है, पुरुषार्थकी मन्दता है, स्थिरता अपूर्ण है, शुद्ध स्वरूपमें पूर्णतया स्थिर

शुभराग आता अवश्य है परन्तु उस शुभरागके साथ जो सत्को समझनेकी ओरका जो यथार्थ बल है—झुकाव है वह स्वतः सत् समझनेका कारण बनता है और शुभरागको हेय माना इसलिये वह दूर हो जाता है। सत् समझनेकी ओर यथार्थ उन्मुखता होनेसे सत्-श्रवण आदिका राग आये बिना नहीं रहता। जिसे आत्माके ओरकी रुचि जागृत हुई है उसे विषय-कषायोंके ओरकी रुचि सहज छूट ही जाती है और विषय-कषायोंकी रुचि छूटनेसे अमुक प्रकारसे तीव्र हिंसा छूट जाती है, तीव्र असत्य छूट जाता है, तीव्र चोरी छूट जाती है, परस्त्री सेवनकी लंपटता छूट जाती है। जिसे आत्माको जिज्ञासा जागृत हुई है वह लपटता करता हो—ऐसा नहीं हो सकता। जिसके आत्माकी जिज्ञासा जागृत हुई है उसके तीव्र कषाय छूट जाते हैं परन्तु वह आत्माकी यथार्थ पहिचान और स्थिरता पूर्वकके सच्चे व्रत नहीं हैं। सच्चे व्रत तो पाँचवीं और छठवीं भूमिकामें आते हैं, चतुर्थ भूमिकामें तो सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग होते हैं. व्रत तो पाँचवें गुणस्थानमें स्थिरता प्रगट होने पर होते हैं—ऐसा मार्गका क्रम है।

प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये, आत्माको यथार्थ पहिचान करनेके लिये सत् श्रवण, देव-गुरु-शास्त्रका बहुमान, सत् विचार इत्यादि होते हैं—ये सत् समझनेके साधन हैं; उन सभी शुभरागोंके साथ यथार्थ सत् समझनेके ओरकी उन्मुखता हो तो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही सत् समझमें आता है। जिज्ञासाकी भूमिकामें तीव्र विषय-कषायके परिणाम नहीं होते; व्रतके शुभ परिणाम आते हैं परन्तु वे सच्चे व्रत नहीं हैं।

चतुर्थ भूमिकामें सम्यग्दर्शन होता है, तबसे शुभाशुभ परिणामोंसे पृथक् निराले आत्माका भान होता है, शुभाशुभपरिणामोंका स्वामित्व छूट जाता है; परका–शुभाशुभपरिणामोंका कर्तृत्व छूटकर उनका ज्ञाता होता है। कभी-कभी उपयोग बाहरसे हटकर स्वरूपमें लीन होता है तब शुभाशुभ विकल्प भी छूट जाते हैं, अतः सिद्ध जैसा अनुभव करता है, बुद्धिपूर्वकके विकल्प छूट जाते हैं और

उपयोगस्वरूपमें लीन होता है, अबुद्धिपूर्वकके विकल्प होते हैं परन्तु उन्हें सर्वज्ञ जान सकते है छद्मस्थ नहीं जान सकते। केवलज्ञान होनेसे बुद्धिपूर्वकके विकल्प भी छूट जाते हैं।

पुद्गलका परिणमन जीवसे पृथक् है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

कर्म और आत्मा—दोनोंकी अवस्था एक साथ होने पर भी आठ कर्मोंकी अवस्था अपने कारण और आत्माकी अवस्था उसके अपने कारणसे पृथक्-पृथक् होती हैं। आत्माके राग-द्वेषका निमित्त पाकर जो परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं उनका कर्ता आत्मा नहीं है; ऐसे सूक्ष्मकर्मस्कन्धोंका जब आत्मा कर्ता नहीं है तब स्थूल स्कन्धोंका कर्ता तो होगा कहांसे?

प्रश्न:—यह आत्मा लकड़ीको पकड़ सकता है या नहीं?

उत्तर:—आत्मा परवस्तुको नहीं पकड़ सकता। दोनोंकी अवस्था एक साथ होने पर भी हाथ हाथमें है और लकड़ी लकड़ीमें है। उसी-प्रकार आत्माकी अवस्था आत्मामें है और कर्मकी अवस्था कर्ममें है। दोनोंकी अवस्था एक साथ होने पर भी आत्माकी अवस्था प्रतिक्षण आत्मामें और कर्मकी अवस्था प्रतिक्षण कर्ममें होती है; दोनोंकी अवस्था पृथक्-पृथक् होती है।

शरीरके हिलनेकी अवस्था, हाथके हिलनेकी अवस्था आत्मा नहीं कर सकता; आत्मा रागको कर सकता है परन्तु हाथकी अवस्था नहीं कर सकता। और लकड़ीकी अवस्थाको हाथ भी नहीं पकड़ सकता, लकड़ी अपने आधारसे है और हाथ अपने आधारसे है; हाथको अवस्था हाथमें और लकड़ीकी अवस्था लकड़ीमें है। दोनोंकी अवस्था भिन्न-भिन्न है। कोई कहेगा कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको नहीं कर सकता किन्तु पर्याय तो कर सकती है न? नहीं, वह बात मिथ्या है। एक द्रव्य तो दूसरे द्रव्यको नहीं कर सकता परन्तु एक पर्याय भी परद्रव्यकी पर्यायको नहीं कर सकती; क्योंकि सर्व द्रव्य द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे स्वतंत्र हैं।

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८॥

जो कर्मरूप परिणाम, जीवके साथ पुद्गलका बने।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे ॥ १३७ ॥
पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्यके।
जीवभावहेतुसे अलग, तब, कर्मके परिणाम हैं ॥ १३८ ॥

अर्थः—यदि पुद्गलद्रव्यको जीवके साथ ही कर्मरूप परिणाम होते हैं (अर्थात् दोनों एकत्रित होकर ही कर्मरूप परिणमित होते हैं) ऐसा माना जाये तो इस प्रकार पुद्गल और जीव दोनों वास्तवमें कर्मपनेको प्राप्त हों। परन्तु कर्मभावरूप परिणाम तो मात्र पुद्गल-द्रव्यको ही होते हैं इससे जीवभावरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् पृथक् ही कर्मका परिणाम है।

देखो भाई! यह वस्तु प्रथम समझने योग्य है कि प्रत्येक वस्तुकी अवस्था स्वतंत्र होती है। एक ओर आत्मा राग-द्वेष करे और साथ ही कर्मकी अवस्था भी करे—इस प्रकार दो का कर्तापन कभी नहीं हो सकता। यदि कर्मकी अवस्था आत्मा करता है तो उस समय आत्माकी अवस्था क्या हुई? आत्माकी अवस्था भिन्न नहीं रही अर्थात् उसकी अवस्था जड़में गई। शरीरके हिलने-चलनेकी अवस्था होती है उस समय आत्माकी अवस्था होती है या नहीं? यदि शरीरके हिलने-डुलनेकी अवस्था आत्मा करे तो आत्माकी अवस्था क्या रही? शरीरके हिलने-डुलनेकी अवस्था आत्मा करे और रागकी अवस्था भी आत्मा करे—ऐसा नहीं हो सकता; जड़की और विकारी परिणामोंकी दो क्रियाएँ आत्मा नहीं करता। जड़ और आत्मा दोनों साथ होने पर भी दोनोंकी अवस्थाएँ पृथक् है; चलनेकी अवस्था जड़की है और रागकी अवस्था चेतनकी है। हिलना-चलना जड़की क्रियावतीशक्तिकी अवस्था है; किसी समय तीव्र गति करे, कभी मन्दगति करे ऐसी क्रियाशक्तिका कार्य स्वतंत्र है।

जड़की अवस्था आत्मामें नहीं होती और आत्माकी अवस्था जड़में नहीं होती। यदि आत्माकी अवस्था जड़में मिल जाये तो आत्मा ही नहीं रहा; आत्मा यदि जड़की अवस्थामें कर्ता है तो उस समय आत्माकी अवस्था क्या है ? जड़की हिलने-चलनेकी अवस्था होती है उस समय छद्मस्थको राग होता है तथापि राग और जड़की क्रियाएँ एकरूप नहीं हो जातीं, क्योंकि यदि दोनों एकरूप हो जायें तो आत्माकी अवस्था नहीं रही किन्तु मात्र जड़की अवस्था रही।

कर्म और आत्मा दोनों एकत्रित होकर कर्मकी अवस्थारूप हों तो जीव और पुद्गल-दोनों कर्मपनेको प्राप्त हों, परन्तु कर्मकी अवस्था तो पुद्गलमें होती है और आत्माकी अवस्था आत्मामें होती है। कर्म और आत्मा दोनों साथ-साथ हैं तथापि दोनोंकी अवस्था पृथक्-पृथक् ही है। जड़की क्रिया-अवस्था जड़से और आत्माकी अवस्था आत्मासे है।

कागज पर लिखनेकी क्रिया और रागकी क्रिया-उन दो क्रियाओंको एक द्रव्य नहीं करता। लिखनेकी अवस्था भी आत्मा करे और रागकी अवस्था भी आत्मा करे—इस प्रकार जड़ और चैतन्यकी दो अवस्थाएँ आत्मा नहीं कर सकता; अधिक तो आत्मा रागकी क्रिया करेगा, किन्तु लिखनेकी क्रिया तो पुद्गलद्रव्यकी है। लिखनेकी क्रियाका कर्ता पुद्गल ही है इच्छा आदि तो निमित्तमात्र है। किन्तु वहाँ अज्ञानीको भ्रम हो जाता है कि इच्छा हुई और लिखा जा रहा है इसलिये मैं लिख सकता हूँ; परन्तु भाई ! लिखनेकी क्रिया तो पुद्गल द्रव्यकी है, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। क्या ज्ञानस्वरूप आत्मा लिख सकता है ? क्या स्याही आत्मामेंसे आती है जो आत्मा लिख सके ? इसलिये लिखनेकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी ही है; लिखनेकी और रागकी दोनों क्रियाओंको एकद्रव्य नहीं करता। उसीप्रकार कर्मकी अवस्था भी आत्मा करे और रागकी अवस्था भी आत्मा करे—ऐसा होता है ? नहीं होता। वे तो दोनों अवस्थाएँ एक साथ होती हैं इससे संयोग

दृष्टिसे अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो गया है कि आत्मा कर्मकी अवस्थाको करता है।

जब सूर्यविकासी कमल खिले तब सूर्योदय होता ही है, परन्तु दोनों अवस्थाएँ एक ही साथ होती हैं; इससे अज्ञानियोंको ऐसा भ्रम हो जाता है कि सूर्यने सूर्यविकासी कमलको विकसित किया। उसी प्रकार नये कर्मकी अवस्था हो तब आत्माको रागादि अवस्था होती है और जब आत्मामें रागादि अवस्था हों तब कर्मरूप अवस्थाको निमित्त माना जाता है, इस प्रकार एक ही साथ दोनों होनेसे अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि आत्माके रागकी अवस्था जड़कर्मने की है और जड़कर्मकी अवस्था आत्माने की है।

यदि पुद्गलद्रव्यको कर्मपरिणामके निमित्तभूत ऐसे रागादि अज्ञानरूप परिणमित हुए जीवके साथ ही (अर्थात् दोनों एकत्रित होकर ही) कर्मरूप परिणाम होता है—ऐसा वितर्क किया जाये तो, जिस प्रकार एकमेक हुए हल्दी और फिटकरी-दोनोंको लाल रङ्गरूप परिणाम होता है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोंको कर्मरूप परिणाम आ जायेगा।

अज्ञानभावरूप परिणमित हुआ जीव नवीन कर्मोंके बन्धनमें निमित्त होता है; उसे खबर नहीं है कि "मैं पृथक् हूँ" इससे वह कर्मके बन्धनमें निमित्त होता है। ज्ञानीको अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट होनेसे वह नवीन कर्मोंका निमित्तभूत नहीं होता। अल्प अस्थिरताका निमित्त प्राप्त करके नवीन कर्म बंधते हैं परन्तु वस्तुदृष्टिसे ज्ञानी निमित्तपना स्वीकार नहीं करता। अज्ञानभावरूप परिणमित हुए जीवकी पर्याय कर्मको निमित्तभूत होती है परन्तु जीवकी पर्याय जीवमें और जड़की पर्याय जड़में होती है, किन्तु जड़-चैतन्य दोनों एकत्रित होकर कर्मकी अवस्था नहीं करते।

हल्दीका पीला रङ्ग और फिटकरीका सफेद रङ्ग-दोनों रङ्ग एकत्रित हों तब एक लाल रङ्ग रहता है; सफेद और पीला रङ्ग नहीं रहता किन्तु तीसरा लाल रंग हो जाता है; उसीप्रकार आत्माकी

रागकी अवस्था और कर्मकी अवस्था दो अवस्थाएँ एकत्रित हों तो तीसरी मिश्र अवस्था होना चाहिये; दो अवस्थाएँ एकत्रित हों तो एक तीसरी अवस्था हो जाती है। आत्मा अज्ञान भावोंको करे और जड़कर्मको करे तो दोनों एकत्रित होकर एक तीसरी अवस्था आना चाहिये; जिस प्रकार हल्दी और फिटकरी एकत्रित होनेसे तीसरा रङ्ग होता है उसीप्रकार। परन्तु ऐसा तो नहीं होता। सर्व वस्तुओंके द्रव्य, गुण और पर्याय अपने अपनेमें स्वतंत्र हैं; यदि एककी अवस्था दूसरीमें आये तो वस्तुका नाश हो जाये। फिटकरी और हल्दी एकत्रित होनेसे तीसरा रङ्ग होता है तथापि सर्व परमाणुओंकी अवस्था अपने अपनेमें स्वतंत्र है, किसीकी अवस्था किसीमें प्रविष्ट नहीं हो जाती। यदि पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोकी अवस्था एक हो तो पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोंको कर्मरूप परिणाम आ जायेगा, परन्तु मात्र पुद्गलद्रव्यके ही कर्मपनेरूप परिणाम होते हैं इससे जीवके रागादि अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मके निमित्त हैं—उनसे पृथक् ही पुद्गलकर्मका परिणाम है।

अज्ञानीने ऐसा मान लिया है कि शरीरकी अवस्था मैं करता हूँ और मेरी अवस्था भी मैं करता हूँ; कर्मकी अवस्था मैं करता हूँ और मेरी अवस्था भी मैं करता हूँ—ऐसा अज्ञानीने मात्र अज्ञानसे मान लिया है; परन्तु किसी अन्य द्रव्यकी अवस्था कोई द्रव्य कर ही नहीं सकता, सभी द्रव्योंकी पर्यायें अपने अपनेमें स्वतंत्र होती हैं।

लिखनेकी क्रिया पुद्गल करता है उसमें ज्ञान तो मात्र जानता है। ज्ञान तो दूर रहते हुए भी जानता है और निकट रहने पर भी जानता है। दूर रहनेवाला ही ज्ञान कर सकता है और निकट रहनेवाला ज्ञान नहीं कर सकता—ऐसा कुछ भी नहीं है। लिखनेकी क्रियाको केवली ही जानते हैं और निकट रहनेवाला नहीं जानता—ऐसा नहीं है; लिखनेकी क्रियाको निकट रहनेवाला भी जानता है कि यह लिखा जा रहा है। लिखनेका जो राग होता है उसे ज्ञानी ज्ञाता-भावसे जानता है और लिखनेकी क्रियाको भी ज्ञाताभावसे जानता है; परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं हूँ इसलिये यह लिखा जा रहा

है—ऐसी विपरीत मान्यता करता है; परन्तु अज्ञानी भी जड़की क्रिया नहीं कर सकता। और एक जीव दूसरे किसी भी जीव-अजीवका कार्य कुछ भी नहीं कर सकता।

यदि पुद्गलद्रव्य और जीव एकत्रित होकर कर्मरूप परिणमित होते हैं—ऐसा माना जाये तो दोनोंको कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो। परन्तु जीव तो कभी जड़कर्मरूप परिणमित नहीं हो सकता; इससे जीवका अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मको निमित्त है—उससे भिन्न ही पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम है।

यदि पुद्गल और जीव दोनों एकत्रित होकर परिणमित हों तो जीव भी जड़की अवस्थाको धारण करे; परन्तु जीव तो कभी जड़-कर्मरूप परिणमित हो ही नहीं सकता। बोलनेकी अवस्थाके समय यदि आत्मा और जड़ दोनोंकी अवस्था एकमेक हो जाती हो तो आत्माकी क्या अवस्था रहेगी? कोई कहे कि वाणीमें तो निमित्त होता है न? हाँ, मैं निमित्त कर्ता हूँ वैसा अज्ञानी मानता है, ज्ञानी समझते हैं कि मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टिकी अपेक्षासे शरीरादिकी अवस्थामें ज्ञानी निमित्त भी नहीं है। ज्ञानीकी दृष्टि स्वके ऊपर होती है परके ऊपर नहीं होती, इसलिये वे निमित्त नहीं हैं, इसकी अवस्था इसमें और मेरा ज्ञान मुझमें ऐसा ज्ञानी समझते हैं। इच्छाके कारण वाणी नहीं है, वाणी उत्पन्न हो जाय तो इच्छाको निमित्त कहा जाता है परन्तु अज्ञानीको ऐसा भ्रम होता है कि इच्छा होती है और वाणी निकलती है इसलिये मैं वाणी बोल सकता हूँ, मैं वाणी बोलनेका निमित्त कर्ता हूँ। ज्ञानी समझते हैं कि वाणी अपने आप स्वतंत्र परिणमित होती है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ; इच्छा इच्छामें, वाणी वाणीमें, ज्ञान ज्ञानमें स्वतंत्रतया परिणमित होते हैं।

अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर है इसलिये वह निमित्तरूपसे कर्ता है; हाथसे स्वतंत्र लिखा जाता है वैसा केवलज्ञानी भी जानते हैं और ज्ञानी भी जानते हैं। अज्ञानीको ऐसा लगता है कि मैं हूँ इससे लिखा जा रहा है—इस प्रकार उसने निमित्त कर्तापन स्वीकार किया है।

परिणमित हो रहे हो, इसलिये जैसा है उसीप्रकार आत्माको पहिचानो और समझो!

ज्ञानी स्वच्छन्दताका सेवन नहीं करते. ज्ञानीको पुरुषार्थकी मन्दताके कारण अल्प अस्थिरता होती है परन्तु उसमें उन्हें रुचि नहीं है, अन्तरङ्गसे उदास हैं। रागका एक कण भी मेरा स्वरूप नहीं है मैं तो उन समस्त भावोंसे निराला शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिये; परन्तु क्या किया जाय? पुरुषार्थकी मन्दताके कारण पड़ा हुआ हूँ।

अज्ञानी कहता है कि ज्ञानीके बंध नहीं है, ज्ञानी विषय-कषायोंका सेवन करता हो तथापि बंध नहीं है इसीसे हमको भी आत्माका भान हुआ है परन्तु उदयके कारण विषय-कषायोंका सेवन करते हैं इसलिये हमारे भी बंध नहीं है क्योंकि शास्त्र इन्कार करते हैं। अरे भाई! शास्त्र इन्कार करते हैं कि तेरा भाव इन्कार करता है? शास्त्रकी बात शास्त्रमें रही परन्तु तेरा हृदय क्या कहता है? अन्तरमें तो तन्मयता हो जाती है; अन्तरमें लोलुपता है, अन्तरसे उदासीनता नहीं है, निराले आत्माका भान नहीं रहता, साक्षीपना नहीं रहता और स्वच्छन्दतासे व्यर्थका बचाव करता है।

ज्ञानीके दृष्टिका बल है, आत्मामें आनन्द और समाधिका वेदन करता है; जो अल्प राग होता है वह ध्यानमें है परन्तु पुरुषार्थकी मन्दताके कारण वह राग होता है—वैसा समझते हैं, पुरुषार्थ जरा डगमग हो जाता है परन्तु उसे आदरणीय नहीं मानते, अन्तरङ्गसे उदास हैं। ज्ञानीके तो हृदयसे निकलता है कि यह राग और रागके संयोग वे सब विष्टा हैं, विष हैं, अल्प राग-द्वेष होते हैं उन्हें स्वभाव दृष्टिमें विष्टा ही समझते हैं इससे उनका आदर नहीं है।

अज्ञानी तो स्वच्छन्दतासे विषय-कषायोंमें मग्न रहते हैं और कहते हैं कि हमें बन्ध नहीं है। परन्तु भाई! वैसा मुफ्तका माल मोक्षमार्गमें नहीं है। यदि स्वच्छन्दतासे वर्तन करेगा तो चला जायेगा चौरासीके चक्करमें, अनन्तकाल तक निकलना कठिन हो जायेगा। ऐसे

के ऐसे परिणामोंका सेवन करना और कहना कि हमें चारित्रमोहका उदय है। अरे! उदय है या स्वच्छन्द है? देख तो!

ज्ञानीके काम-क्रोधका अल्प राग होता है, परन्तु उसे वह स्व-भावदृष्टिसे मल समान ही देखता है, उसका आदर नहीं है, इसलिये वह नवीन कर्मोंको निमित्तरूप भी नहीं कहलाता। अल्प अस्थिरताके कारण अल्प बन्ध होता है परन्तु वह अस्थिरताको अपना स्वरूप नहीं मानता, रखने योग्य नहीं मानता, परिपूर्ण स्वभावदृष्टि प्रगट हुई है इसलिये स्वभावदृष्टिसे ज्ञानी नवीन कर्मोंको निमित्तरूप भी नहीं है।

अज्ञानीको संयोगसे भला-बुरा मानता है इसलिये यह मुझे इष्ट है या अनिष्ट है ऐसा मान लेता है कि कर्मने मुझे राग-द्वेष कराया है। परन्तु जब कर्मने तुझे राग-द्वेष कराया तब तू कहां था? था या नहीं? क्या मर गया था? तेरी अवस्था कहां गई थी? तेरी अवस्था अज्ञान भावसे तेरे अधिकारमें थी या नहीं? यदि तू कर्माधीन हो गया हो तो तू पराधीन हुआ, तेरी स्वतंत्रता कहां रही? प्रत्येक द्रव्य पर्यायमें भी त्रिकाल स्वतंत्र है, कोई किसीके आधीन नहीं है। प्रत्येक गाथा अपूर्व है, यदि रुचि पूर्वक मनन करे तो छुटकारा हो जाये, नहीं तो पार होना कठिन है।

जीव स्वयं अपनेको भूलता है स्वतंत्रतया कर्मोंमें युक्त होता है और कहता है कि कर्मोंने मुझे राग-द्वेष कराया है, तेरी वह बात सर्वथा मिथ्या है। यदि पुद्गलद्रव्य अपनी अवस्थाको करे और जीवकी अवस्थाको करे तो दो अवस्थाएँ एक हो जायें और दोनों द्रव्य एक हो जायें, परन्तु दो द्रव्य त्रिकाल त्रिलोकमें एकरूप नहीं होते। कर्मका फल कर्ममें आता है और जो विषय-वासना तुझे होती है वह तेरी अवस्थामें होती है; जड़ तो जानता भी नहीं है, विकारी अवस्थामें रुकना तेरे हाथमें है।

अज्ञानभाव तुझमें होते हैं, कर्म तुझे नहीं कराते। अज्ञानी निमित्तके आश्रयसे ही चला जाता है, पराश्रयसे जो भाव होते हैं उन्हें अपना मान लेता है; ज्ञानी परवश नहीं होता और परभावोंको अपना

नहीं मानता। कर्मके फलके आश्रयसे जो भाव होता है उसमें अज्ञानी अर्पित हो जाता है, इससे वह ऐसा मान लेता है कि कर्म मुझे राग-द्वेष कराते हैं। ज्ञानी शुद्ध निश्चयसे रागको अपना नहीं मानता इसलिये वह ऐसा भी नहीं मानता कि कर्म मुझे राग-द्वेष कराते हैं। परकी अवस्था होती है उसमें ज्ञानी अपना निमित्त नहीं मानते, इससे कर्म भी नही बंधते।

जीव और कर्म दो एकत्रित होकर रागादिरूप परिणमित होते हैं वैसा नही है। जिस प्रकार हल्दी और फिटकरी दोनों एकत्रित होकर तीसरा रङ्ग होता है, उसीप्रकार आत्मा और कर्म दोनों मिलकर तीसरी अवस्था होती है—वैसा नहीं है। हल्दी और फिटकरीमें तो सभी परमाणु स्वतंत्र हैं, सबकी अवस्था पृथक्-पृथक् है; मात्र स्थूलरूपसे दो द्रव्योंकी एक तीसरी लाल अवस्था दिखाई देती है परन्तु वास्तवमें वैसा नहीं है। यदि जीव और कर्म एकत्रित होकर रागादि होते हों तो जीव और पुद्गलकर्म दोनोंको रागादि परिणाम आ जायें, परन्तु अकेले जीवके ही रागादि अज्ञान परिणाम तो होते हैं, इससे पुद्गलकर्मका उदय जो कि जीवके रागादि अज्ञान परिणामोंका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है; पुद्गलकर्म तो कभी जीवके रागादिरूप परिणमित नहीं हो सकता इससे जीवकी विकारी अवस्था भिन्न है और पुद्गलकर्मकी अवस्था भिन्न है दोनोंकी अवस्था पृथक्-पृथक् है॥ १३९-१४०॥

अब अन्तरके परिणाममें नय विभागसे बात करते हैं; मनके आलम्बनसे दो प्रकारके रागके विकल्प होते हैं वह भी पक्ष है—ऐसा अब कहेंगे। मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसा विकल्प भी पक्ष है. राग है—वैसी सूक्ष्म बात अब कहेंगे।

समस्त वस्तुएँ स्वतंत्र हैं, सबका कर्ता-कर्मपना स्वतंत्र है। परन्तु जब तक जीव ऐसा मानता है कि परकी अवस्था मैं करता हूँ तबतक वह मिथ्यादृष्टि है। १०० वीं गाथामें कहा था कि घटपटका कर्ता अज्ञानी भी नहीं है परन्तु अपनी विभावपर्याय जो योग-उपयोग

है उसका कर्ता अज्ञानी होता है इसलिये निमित्तरूपसे वह घटपटका कर्ता होता है। मैं निमित्तरूपसे घटपटका कर्ता हूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि कुम्हार मानता है; यदि कुम्हार सम्यग्दृष्टि हो तो उसके योग और उपयोग घड़ा होनेमें निमित्तरूप होते अवश्य हैं परन्तु योग और उपयोगका वह कर्ता नहीं है इसलिये वह घड़ा होनेमें निमित्त भी नहीं है। पहले कहा था कि घटपट होनेमें और नवीन कर्म बांधनेमें ज्ञानी निमित्त नहीं है; अब कहना है कि मनके विषयमें नयके दो पक्ष होते हैं वह भी तेरा स्वरूप नहीं है।

"आत्मामें कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं"—वह नय-विभागसे कहते हैं:—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥

है कर्म जीवमें बद्धस्पृष्ट, जु कथन यह व्यवहारका।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीवमें, कथन है नय शुद्धका ॥ १४१ ॥

अर्थः—जीवमें कर्म (उसके प्रदेशोंके साथ) बंधा हुआ है तथा स्पर्शित है—ऐसा व्यवहारनयका कथन है और जीवमें कर्म बंधा हुआ नहीं है, अस्पर्शित है—ऐसा शुद्धनयका कथन है।

आत्मामें कर्म बद्ध है और कर्म बद्ध नहीं है—इन दो पक्षोंका विचार रागमिश्रित है; मात्र निर्विकल्प स्वभावमें-एकाकार स्वभावमें यह दो पक्ष—"ऐसा है" और "ऐसा नहीं है" ऐसा विकल्प नहीं है ऐसे विकल्पका मैं कर्ता हूँ और यह मेरा कार्य है—ऐसा कर्ता-कर्मपना स्वभावदृष्टिमें नहीं है। आत्मा बद्धस्पृष्ट नहीं है ऐसा विचार भी रागमिश्रित है।

स्वभावधर्मसे वस्तु अखण्ड है उसमें मनके निमित्तके बिना ज्ञानके दो पक्ष नहीं होते। मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ और बद्धस्पृष्ट हूँ—ऐसे रागमिश्रित ज्ञानके दो पक्ष, दो भङ्ग मनके अवलम्बनसे होते हैं; वे

निर्णय करनेवालेमें अनन्त पुरुषार्थ है, जिसे सर्वज्ञका निर्णय हुआ है उसको अपने आत्माके स्वभावका निर्णय होता ही है। सर्वज्ञ भगवानने पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष देखा है, जिसने अपनेमें सर्वज्ञ स्वभावको जाना है उसने सर्वज्ञको जाना ही है। जिस भावसे सर्वज्ञके पूर्ण स्वभावका निर्णय किया और अपने स्वभावका निर्णय किया है उस भावमें (भवका भाव होना ही नहीं) अनन्त संसारका नाश हुआ। परका ऐसा करता हूँ, परका यह करता हूँ, उसे छोड़कर ऐसा ज्ञान किया कि पर्याय क्रमबद्ध होती है वहाँ समता हो गई, परके ग्रहण-त्यागसे रहित ज्ञान और वीर्य स्वभावोन्मुख हुए। सर्व द्रव्योंकी पर्याय अपनी योग्यता-से होती है ऐसे निर्णय होते ही परका अकर्ता अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञाता-पन जागृत हुआ, मोक्षपर्याय होने तक पुरुषार्थ पूर्वक क्रमबद्ध पर्यायको सर्वज्ञ भगवानने जाना है। जिसने सर्वज्ञका यथार्थ स्वरूप जाना उसने क्रमबद्ध पर्यायको यथार्थ जाना है।

मैं इस प्रकार किसीका भला या बुरा कर दूँ, अमुक व्यक्तिको आगे बढ़ा दूँ—वैसी मान्यताका हाथ परमेंसे अब उठा लिया। जिस प्रकार मैं पराश्रित नहीं किन्तु स्वतंत्र हूँ उसीप्रकार सामनेवाला पदार्थ और सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं—ऐसा निश्चित् हुआ वहाँ वीर्य जो परके ग्रहण-त्यागमें अटकता था वह रुक गया और यह जाना कि मैं तो जो हूँ वही हूँ, मुझे परके साथ सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञस्वभावके सन्मुख दृष्टि और निश्चय हुए विना क्रमबद्ध पर्यायकी स्वतंत्रता समझ-में नहीं आ सकती।

यहाँ दो पक्षोंका अस्वीकार करके निरपेक्ष तत्त्वको बतलाना है। आत्मा कर्मसे बंधा हुआ है और आत्मा कर्मसे बंधा हुआ नहीं है—वह दो पक्षोंका विचार रागमिश्रित है, रागमिश्रित विचारके अवलम्बन-से स्वभावका भान हो जाये—ऐसा कभी भी नहीं होता। जो पक्षको उलंघ गया है वह पक्षातिक्रान्त है। आत्माके स्वभावको पहले नयसे या निक्षेपसे निश्चित् किया है, पश्चात् अनुभवके समय उस नय-निक्षेपका काम नहीं पड़ता। जिसप्रकार खानेकी एक वस्तु ली उससमय उसे

तराजूसे तोलते हैं परन्तु खाते समय वह तराजू आदि काममें नहीं आते; उसीप्रकार नय-निक्षेपसे पहले वस्तुका स्वभाव निश्चित् किया है पश्चात् अनुभवके समय वह नय-निक्षेप काम नहीं आता। नय-निक्षेपमें विकल्प रहता है, पक्षातिक्रांतमें विकल्पका अभाव है।

पक्षातिक्रांत कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि अपनेको समस्त धर्म समान मानना चाहिये, किसी धर्ममें भेद नहीं पाड़ना चाहिये, सभी मार्ग समान हैं—ऐसा यदि कोई इसका अर्थ ले तो ऐसा अर्थ नहीं लेना है। वस्तुका सत्स्वरूप क्या है उसका निर्णय बराबर करना चाहिये; परन्तु यहां तो समस्त वस्तुको परसे निरपेक्ष बतलाना है। रागमिश्रित पक्षको छुड़ानेकी यह बात है।

यहां पक्ष छोड़नेको कहा है इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निर्णय छोड़नेको कहा है; क्योंकि राग छोड़नेको कहा है कहीं तत्त्व-विचार और निर्णय छोड़नेको नहीं कहा है। आत्माको इस अपेक्षासे बंध है और इस अपेक्षासे बंध नहीं है, इस अपेक्षासे निमित्त है और इस अपेक्षासे नहीं है, इस अपेक्षासे राग है और इस अपेक्षासे राग नहीं है, द्रव्यदृष्टिसे आत्मा परसे निराला परिपूर्ण शुद्धस्वरूप है और पर्यायदृष्टिसे अवस्थामें मलिनता होती है इत्यादि वस्तुस्वभाव जैसा है वैसी ही प्रतीति करके रागसे अतिक्रान्त होकर प्रथम श्रद्धामें मिथ्यापना छोड़ना चाहिये किन्तु ज्ञान और प्रतीति छोड़नेको नहीं कहा है। मैं बँधा हुआ हूं और निर्बन्ध हूं—ऐसे विचारोंमें रुकनेसे राग होता है, इससे राग छोड़कर स्वभावमें स्थिर होनेको कहा है, 'बँधा हुआ हूं' और 'बँधा हुआ नहीं हूं' ऐसे पक्षसे अतिक्रांत होना कहा है, जो दो भेदोंमें रुक जाता है उसे छुड़ाते हैं।

प्रश्न:—गौतमस्वामीको भगवानके ऊपर राग था इससे रुके थे न?

उत्तर:—यदि निमित्तकी ओरकी अपेक्षासे कहें तो कहा जायेगा कि गौतमस्वामीको भगवान पर राग था। परन्तु वास्तवमें

स्वतःके लिये है। वास्तवमें अपनी ही भक्ति करता है; परकी भक्ति कोई कर ही नहीं सकता। स्वतःको अपने गुणोंका बहुमान आता है उसका परके ऊपर आरोप करता है, इसका अर्थ ऐसा होता है कि अपने गुणों पर रुचि है अर्थात् वह गुण स्वतः प्रगट करना चाहता है, इसलिये स्वयं अपनी ही भक्ति करता है, अन्यकी भक्ति की—ऐसा उपचारसे कहा जाता है।

समयसारकी स्तुतिमें आता है कि:—

"तुं छे निश्चय ग्रन्थ भङ्ग सघला व्यवहारना भेदवा" इसप्रकार स्तुति की जाती है वह उपचारसे है। वास्तवमें उसे वस्तुस्वरूपकी रुचि है इससे भक्ति करता है। वह राग परके कारण नहीं आता परन्तु अपने कारण से आता है।

कोई यह कहे कि—चौथे गुणस्थानमें आत्माका भान होनेसे बिल्कुल राग ही नहीं होता और रागके निमित्त ही नहीं होते, तो वह ज्ञान मिथ्या है। चतुर्थ भूमिकामें अशुभ राग होता है और उसके निमित्त स्त्री, पुत्रादि होते हैं और शुभराग होता है उसके निमित्त देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि होते हैं। परन्तु चौथी भूमिकामें बिल्कुल राग ही नहीं होता अथवा बिल्कुल वीतराग जैसी भूमिका माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। चौथी भूमिकामें ज्ञानीके राग आता है परन्तु उसे वह करने योग्य नहीं मानता; परके कारण होता है ऐसा नहीं मानता और अपना स्वभाव नहीं मानता, अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य पर उसकी दृष्टि है। यदि रागको अपना स्वभाव माने तो दृष्टि मिथ्या और यदि ऐसा माने कि राग बिल्कुल आता ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या है। इस गाथामें तो उसे समझाते हैं जो रागमिश्रित परिणाममें ही रुका हुआ है और ऐसा मानता है कि वही मेरा पुरुषार्थ है। साधक अवस्थामें वीर्यकी मन्दतासे चिदानन्दस्वभावमें स्थिर न रह सकनेके कारण बाह्य लक्ष आता है; वहाँ मैं बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ,—ऐसे पक्षों रूप विकल्पमें रुकता है उसे भी समझाते हैं। आचार्यदेव ऐसी सूक्ष्मतासे समझाते हैं कि सभी प्रकारके पक्ष छूट जावें किसी भी प्रकारका पक्ष न रहे।

आत्मा अज्ञानभावसे क्या कर सकता है और ज्ञानभावसे क्या कर सकता है? अज्ञानभावमें राग-द्वेषका कर्ता होता है और ज्ञान-भावमें ज्ञानका कर्ता होता है।

'जीवमें कर्म बद्ध है'—ऐसा जो विकल्प है, तथा 'जीवमें कर्म अबद्ध है'—ऐसा विकल्प है, वह दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्षका अतिक्रम करता है (उलंघ जाता है, छोड़ता है) वही समस्त विकल्पोंका अतिक्रम करता हुआ स्वतः निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

पर्याय अपेक्षा आत्मामें कर्म एकक्षेत्रमें सम्बन्धरूपसे व्याप्त होकर रह रहे हैं—ऐसा शुभ विकल्प नयपक्ष है, और द्रव्य अपेक्षा आत्मामें कर्म बँधे नहीं हैं—ऐसा शुभ विकल्प भी नयपक्ष है। दोनों नयपक्षमें ज्ञानकी अवस्था रागमें पकड़ जाती है। यह दो नयपक्षके पक्ष होते हैं वह स्वभावका कर्तव्य नहीं है। अज्ञानभाव उसका कर्ता होता है और राग उसका कर्तव्य है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह परिणमित हुए बिना नहीं रहता अर्थात् अवस्थान्तर हुए बिना नहीं रहता। जो वस्तु है वह बिल्कुल कूटस्थ नहीं रहती, वस्तु वस्तुरूपसे और गुणरूपसे स्थित रहकर परिवर्तित होती है—ऐसा वस्तुका स्वभाव है।

रागको बदलकर द्वेष होता है, उसमें होनेवाला कर्ता मैं हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है। प्रतिक्षण विकारी पर्यायका परिवर्तन तो होता है, परन्तु उसकी श्रद्धामें स्वाश्रयका जोर है या पराश्रयके ऊपर जोर है—उसके ऊपरसे कर्ता-कर्मका नाप होता है। अविकारी स्वभावको भूलकर रागादिमें कर्तापनेका भाव होता है वह उसका अज्ञानभाव है और राग-द्वेष उसका कर्तव्य है।

आत्मा ज्ञानभावसे तो निर्मल अवस्थाका कर्ता है किन्तु चारित्रमें अपने पुरुषार्थकी अशक्तिसे मात्र स्वमें नहीं रहा जा सकता इससे आत्मामें कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नहीं हैं—ऐसे विकल्पोंमें रुकता है वह नयपक्ष है, उसे भी समझाते हैं।

स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादिके अशुभपरिणाम तो निकाल दिये, जड़की ओरका स्थूल कर्तृत्व छुड़ाकर यहाँ तो मनके शुभ परिणामों तक ले गये हैं। मात्र मनके शुभविकल्पोंकी बात ली है। कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नहीं हैं वे दोनों शुभविकल्प हैं। यद्यपि आत्मा अबद्ध है, शुद्ध है, निरपेक्ष है, परसे निराला है वह पक्ष तो सत्य है परन्तु उस पक्षमें रुकना भी शुभविकल्प है इसलिये रागका पक्ष है। आत्मा बद्ध है वह बात पर्यायदृष्टिसे यथार्थ है परन्तु द्रव्यदृष्टिसे अभूतार्थ है, असत्य है और उस ओरका पक्ष सो राग है। ज्ञानका स्वभाव तो एकरूप ज्ञाता रहनेका है परन्तु ज्ञान पराश्रयसे संक्रमित होता है, निमित्त और रागके आश्रयके बिना ज्ञानमें विकल्पका खण्ड नहीं पड़ता। स्वभावमें परिणति होना-पलटना तो अपना स्वभाव है. परन्तु जब विकारमें परिवर्तित हो तब ज्ञान अस्थिर होता है—रागका आश्रय आता है।

'ऐसा हूं' और 'वैसा है'—ऐसा नयपक्षके विकल्प करनेका काम एकाकार स्वभावमे नहीं है, ज्ञानका स्वभाव तो सहज एकरूप है, वह जैसा है वैसा हो सहज ज्ञान न मानकर 'ऐसा है' और 'ऐसा नहीं है' वैसी वृत्ति वह कृत्रिम उत्पत्ति है—अपना स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो सहज, समवस्थित, यथावत्, एकाकार है; परन्तु आत्मामे कर्म बद्ध है और कर्म बद्ध नही हैं—ऐसी वृत्ति सो कृत्रिम है।

अपने स्वभावके आंगनमें आकर नयोंके विकल्प-रागमें रुकता है उसकी यह बात है, बाह्यके कर्तृत्वकी बात नहीं है। शरीरका मैंने कर दिया है, परका मैंने कर दिया है, मैं उपस्थित था इसलिए यह कार्य हो गया, मैं जड़का कर्ता और वह मेरा कार्य—इत्यादि जड़के कर्तृत्वकी बात तो कहीं रह गई, परन्तु स्वभावके आंगनमे आकर 'मैं ऐसा हूं' और 'मैं ऐसा नहीं हूं'—ऐसे विकल्पमें रुका इससे एकरूप ज्ञान नहीं रहा—वीतरागभाव नहीं रहा। अबद्ध हूं वह बात भूतार्थ है—सत्यार्थ है, और बद्ध हूं वह बात अभूतार्थ है—असत्यार्थ है, परन्तु दो नय दो पक्षका कार्य करते हैं। पर्यायदृष्टिसे उपचारसे

आत्मा कर्मसे बँधा हुआ है यह बात सत्य है परन्तु इसलिये यह बात मिथ्या है।

वस्तुकी बात सूक्ष्म है परन्तु समझमें आ सके ऐसी है; अनभ्यासके कारण मँहगी मालूम हो किन्तु सहज स्वभावसे मँहगी नहीं है। इसलिये इसे सुननेसे अरुचि नहीं आना चाहिये, अनादर नहीं होना चाहिये।

प्रशस्त रागका पक्ष छूटकर समस्त विकल्पोंका अतिक्रम होता हुआ साक्षात् समयसार होता है।

'आत्मा बद्ध है' और 'आत्मा अबद्ध है'—ऐसे दोनों विकल्पोंसे छूटकर विज्ञानघन होता हुआ साक्षात् समयसार होता है। जिस प्रकार जमें हुए घीमें अँगुली नहीं धँसती उसी प्रकार रागका पक्ष छूटकर ज्ञान निर्भेद्य हो जाता है; मैं शुद्ध स्वरूप हूँ वैसी भेदरूप वृत्ति भी नहीं होती, ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ—इस प्रकारका कोई भी विकल्प नहीं रहता, वस्तुस्वरूपसे जैसा हूँ वैसा ही हूँ। इस प्रकार बद्ध-अबद्धके पक्षसे छूटकर ज्ञान ज्ञानरूपसे दृढ़ होता हुआ, ज्ञान ज्ञानमें जमकर, विज्ञानघन होता हुआ साक्षात् समयसार होता है। साक्षात् अर्थात् जो स्वभावशक्तिमें था वह पर्यायमें प्रगट हुआ—अनुभवमें आया। अज्ञानभावसे विकल्पका–रागादिका आत्मा कर्ता-कर्मरूप होता था, वह छूटकर अब ज्ञानका कर्ता-कर्मरूपसे हुआ।

जो "जीवमें कर्म बद्ध है" ऐसा विकल्प करता है वह "जीवमें कर्म अबद्ध है" ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता है, तथापि विकल्पका अतिक्रम नहीं करता, और जो "जीवमें कर्म अबद्ध है" ऐसा विकल्प करता है वह भी "जीवमें कर्म बद्ध है"—ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता है तथापि विकल्पका अतिक्रम नहीं करता। पुनश्च, जो "जीवमें कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है" ऐसा विकल्प करता है वह दोनोंका अतिक्रम न करता हुआ विकल्पका अतिक्रम नहीं करता। इससे जो समस्त नयपक्षका अतिक्रमण करता है वही समस्त विकल्पोंका अतिक्रमण करता है, वही समयसारको प्राप्त करता है—अनुभव करता है।

जो "जीवमें कर्म बद्ध है" ऐसा विकल्प करता है वह "जीवमें कर्म अबद्ध है" ऐसे एक पक्षका उलंघन कर जाता है तथापि रागका उल्लंघन नहीं करता और स्वभावमें स्थित नहीं होता। "जीवमें कर्म अबद्ध है" इस प्रकार जो एक पक्षके रागमें रुक जाता है वह पक्षके विकल्पका उलंघन करता है तथापि रागका उलंघन न करनेसे स्वभावमें स्थिर नहीं होता। ऐसे शुभ विकल्प आते हैं कि आत्मा कर्मसे बँधा हुआ है और कर्मसे बँधा हुआ नहीं है. जो ऐसे दो पक्षोंका उल्लंघन नहीं करता वह शुभरागके पक्षको नहीं छोड़ता इससे वह समस्त नय-पक्षको नहीं उल्लंघता. अतिक्रम नहीं करता और इससे समयसारका अनुभवन नहीं करता–आत्माका अनुभवन नहीं करता; परन्तु जो समस्त विकल्पोंका अतिक्रमण करता है—उल्लघता है वही निर्विकल्प विज्ञानघन समयसारका अनुभवन करता है; विकल्प रहित मात्र आत्म-स्वभावका अनुभवन करता है, परकी अपेक्षासे रहित निरपेक्ष, सहज, शांत, निर्विकल्प स्वरूपका अनूभवन करता है, अनूभव अर्थात् वेदन करता है। सहज आनन्द इत्यादि गुणोंका वेदन करता है, निजरसका स्वाद लेता है, निजस्वादमें लीन हो जाता है उसे समयसारका अनुभव अर्थात् आत्माका अनुभव हुआ कहलाता है। पर निमित्तकी ओरके राग–द्वेषके भंगसे उल्लंघन की गई दशाको बिलकुल निर्विकल्प कहा जाता है वह निर्विकल्पस्वरूप होकर आत्मस्वभावका अनुभव करती है वह शुद्धतारूपी स्वभाव कर्म है–कार्य है–पर्याय है।

कर्म तीन प्रकारके हैं:—जड़कर्म, अज्ञानकर्म और स्वभावकर्म। जड़की अवस्था जड़में होती है वह जड़कर्म है; अज्ञानभावसे विकारी भावोंका–शुभाशुभ भावोंका कर्म (कार्य) करता है इसलिये वह अज्ञानकर्म; अज्ञानभावोसे कर्म करता है इसलिये ज्ञानभावसे भी कर्म करता है, अज्ञान भावसे कर्म नहीं हो तो ज्ञानभावसे भी कर्म नही हो, परन्तु अज्ञानभावसे कर्म है इसलिये ज्ञानभावसे कर्म है। कर्ममें फल देनेकी जो शक्ति है वह जड़का कर्म है। स्वभावकर्म तो सिद्धमें भी है, वहाँ भी परिणमन है, प्रति समय परिणमन होता ही रहता है,

देव-गुरु-शास्त्रकी ओरके विकल्पोंका आश्रय भी तेरे स्वभावमें हीं है तो फिर अन्य कौनसा आश्रय स्वभावमें होगा? इसलिये र्विकल्प विज्ञानघन स्वभावके आश्रय द्वारा विकल्पको तोड़! स्वभावमें स्थर हो जा।

सत् देव-गुरुके निकटसे नयके पक्षोंको सूना, उन्होंने पक्षाति-ान्त होनेके लिये समझाया तो फिर उनके कहे हुए नयके पक्षोंमें स्थित हना भी अच्छा नहीं लगेगा, क्योंकि ये नयके विकल्प सहज स्वभाव ही हैं, कृत्रिम हैं, देव-गुरु-शास्त्रकी ओरके विकल्प भी कृत्रिम हैं, हज स्वभाव नहीं हैं।

प्रथम श्रद्धा करे कि नयपक्षके विकल्पसे रहित मेरा सहज वरूप पूर्ण ज्ञानघन एकाकार है—इस प्रकार निःशंक हो, पश्चात् ारित्रके अल्प दोषरूप विकल्प हो तथापि वह विवेकसे आगे ही ढ़नेवाला है, विकल्पको तोड़ेगा और आगे स्वभावमें बढ़ेगा।

किसीने अबंध पक्षको पकड़ा उसने भी रागको ही ग्रहण किया; किसीने बंध पक्षको पकड़ा उसने भी रागको ही ग्रहण किया; दोनोंने रागको ही ग्रहण किया है। द्रव्यदृष्टिसे अबद्ध है और पर्याय-दृष्टिसे बद्ध है—ऐसा वस्तुका स्वरूप है तथापि उसके रागमें रुक जाना वह अपना स्वभाव नहीं है। जो पक्षोंको तोड़कर स्वभावमें स्थित होता है वह समयसारको प्राप्त करता है। नयपक्षको छोड़नेसे वीतराग समय-सार हुआ जाता है। यह बात सम्यग्दर्शन की है, पूर्ण वीतरागताकी यह बात नहीं है। मेरा वीतराग स्वभाव है ऐसी प्रतीति होनेसे निर्विकल्प वीतराग स्वभावमें स्थित होना सो समयसार है। वही सम्यग्दर्शन है।

अब, यदि ऐसा है तो त्यागकी भावनाको वास्तवमें कौन नहीं नचायेगा? नचायेगा अर्थात् कौन परिणमित नहीं करेगा? ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्षके त्यागकी भावनाके २३ कलश-रूप काव्य कहते हैं।

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं,
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥ ६९ ॥

अर्थः—जो नयपक्षपातको छोड़कर (अपने) स्वरूपमें सदैव गुप्त होकर रहते हैं वे ही, जिनका चित्त विकल्पजालसे रहित शांत हुआ है—ऐसे होते हुए साक्षात् अमृतका पान करते हैं।

जो सहज आत्मस्वरूपमें गुप्त होकर रहते हैं, स्वसन्मुख होकर स्वरूपमें स्थित होते हैं वे बद्ध-अबद्धके पक्षके रागमें स्थित नहीं रहते, रागके जालको छोड़कर जिनका चित्त शांत हुआ है वे आत्माके अमृत आनन्दस्वभावका स्वाद लेते हैं आकुलताका अभाव होकर निजरसका स्वाद लेते हैं, नयपक्षके त्यागकी भावनाको नचा करके परिणमित करके आत्माके अमृतको पीते हैं।

बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—ऐसे पक्षमें जो रहते हैं उनके चित्तमें क्षोभ दूर नहीं होता—आकुलता नहीं मिटती, राग दूर नहीं होता। परन्तु बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—वैसे विकल्प भी जिसमें नहीं है ऐसे भूतार्थस्वभावको ग्रहण करनेसे ही विकल्प छूटते हैं और तब वीतराग स्वभावमें प्रवृत्ति होती है, आत्माका अतीन्द्रिय आनन्द मुख्यरूप अनुभवमें आता है, निर्विकल्प वीतरागभावका वेदन होता है। जो बद्ध-अबद्धके विकल्प रहित आत्माका स्वरूप जानते हैं वे निर्विकल्प स्वभावके वेदक होते हैं, अनन्त गुणके पिण्डस्वरूप आत्माका अनुभवन करनेवाले होते हैं। यह बात अपूर्व है, अचिन्त्य और अलौकिक है, इसे समझे बिना स्वभावकी महिमा नहीं आती और भवभ्रमणका अभाव नहीं होता। परन्तु जो इस स्वभावको समझे उसीको स्वरूपकी महिमा आती है, वही निजरसका स्वाद लेने वाला होता है, उसीको भव-भ्रमणका अभाव होता है।

अब २० कलशोंमें नयपक्षका विशेष वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ऐसे समस्त नयपक्षको जो छोड़ता है वह तत्त्ववेदी (तत्त्वका ज्ञाता) स्वरूपको प्राप्त होता है:—

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ,
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७० ॥

अर्थ:—जीव कर्मसे बँधा हुआ है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कर्मसे बंधा हुआ नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी (वस्तुस्वरूपका ज्ञाता) पक्षपात रहित है उसके निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है)।

एक पक्षकी पकड़वाला कहता है कि जीव बँधा हुआ है, दूसरे पक्षकी पकड़वाला कहता है कि जीव बंधा हुआ नहीं है। भगवान आत्मा तो चित्स्वरूप है उसमें ऐसे जो दो पक्ष होते हैं वे रागके पक्ष हैं, रागके भेद हैं। परन्तु जो तत्त्वका अनुभवी है वह इन रागके पक्षोंसे रहित है। मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ उन भावोंको छोड़कर विकल्पको तोड़कर स्वभावमें स्थित हुआ, निर्विकल्परूप हुआ वह चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। बद्ध हूँ-और अबद्ध हूँ ऐसे जो विकल्प हैं सो रागका आँगन है। भगवान आत्माका वह आँगन नहीं है। जो ऐसा जानता है वह तत्त्ववेदी है—स्वरूपका अनुभवी है—तत्त्वका वेदक है।

इस ग्रंथमें प्रथमसे ही व्यवहारनयको गौण करके और शुद्धनयको मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्यके परिणाम पर निमित्तके आश्रयसे अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहलेसे ही गौण कहते आये हैं और जीवको शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव पदार्थको

शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके, अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्धस्वरूपके स्वादको प्राप्त नहीं होगा। अशुद्ध नयकी तो बात ही क्या है! किन्तु यदि कोई शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा और इससे वीतरागता नहीं होगी।

इस शास्त्रमें व्यवहारनयको गौण करके, शुद्ध नयको मुख्य करके कथन किया है। कर्मका, रागका, निमित्तका, भेदका विषय करनेवाला ऐसा जो ज्ञान है वह व्यवहारनय है। उस व्यवहारनयका भार इस शास्त्रमें गौण करके कथन किया है। आत्मा अनन्त गुणोंसे शुद्ध है, विकार उसका स्वभाव नहीं है। स्वभावमें मन नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं है, मात्र शुद्ध अनन्त गुणके पिण्ड स्वरूप आत्मा, इसका विषय करनेवाला ज्ञान सो शुद्ध नय है।

जो अनेक प्रकारसे विकारी भेद हो वह वस्तुका स्वभाव नहीं है, वह तुझमें नहीं है और तू ऐसा नहीं है। राग-द्वेषका क्षणिक विकार होता है वह तुझमें नहीं है, तू तो चिदानन्द मूर्ति है—ऐसा आचार्यदेव पहलेसे ही कहते आये हैं। आत्मा तो चैतन्यमात्रस्वरूप है उसमें विकारका अंश नहीं है, परका मेल नहीं है ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा है वह शुद्धनयका विषय है।

आत्मा शुद्ध है—ऐसी शुद्धताकी बात आचार्यदेवने अभी तक कही है, परन्तु यहाँ तो शुद्धनयका विकल्प भी दूर करना है। आत्मा शुद्ध है और आत्मा अशुद्ध है—ऐसे दो विकल्प भी पक्षपात हैं, वे विकल्प टूटे बिना स्वरूपमें स्थिर नहीं हुआ जा सकता; इसलिये यहाँ विकल्पोंको तोड़नेकी बात की है।

शुद्ध कहकर अशुद्धताको गौण किया है नित्य कहकर पर्यायको गौण किया है, शुद्धनयको जिस विकल्पसे कहना चाहता है वह विकल्प भी तेरा स्वभाव नहीं है, अखण्ड स्वभावकी ओर उन्मुख होनेके लिये, रागकी ओरसे उपयोगको हटादेनेके लिये तू रागकी ओर न देख!

शरीरकी ओर न देख! निमित्तकी ओर मत देख! बंध-मोक्षके दो पक्ष होते हैं उन्हें भी गौण करके जो मात्र सहज स्वभाव है उसका आश्रय कर! विकल्पोंको तोड़नेके लिये अभेदस्वभावका आश्रय करनेको कहा है। जिस प्रकार नदीमें पानीका प्रवाह एकरूप चला जाता हो और उसमें बीचमें यदि नाला आ जाये तो एकरूप प्रवाहका भंग पड़ जाता है, उसी प्रकार ज्ञान एकरूप प्रवाहसे स्वभावकी ओर ढलना चाहिये परन्तु बीचमें रागमें, शरीरमें और निमित्तमें रुकनेसे एकरूप प्रवाहका भंग पड़ता है, इसलिये कहा है कि मात्र ज्ञायक अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है उसका आश्रय करेगा तो निजस्वरूपमें संपूर्ण आनन्दको प्राप्त होगा। परन्तु यदि शुद्धनयके विकल्पमें भी रुक जायेगा तो उस स्वादको नहीं पा सकेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्धनयके विकल्पमें नहीं रुकना, अशुद्धनयकी तो बात ही क्या है? क्योंकि यदि शुद्धनयका भी पक्ष लेगा तो भी राग नहीं मिटेगा और वीतरागता नही होगी। पक्षपातको छोड़कर चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होनेसे ही समयसारकी प्राप्ति होती है, इसलिये शुद्धनयको जानकर उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्ध स्वरूपका अनुभव करके स्वरूपमें प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतरागदशा प्राप्त करना योग्य है।

आत्मा रागी है, द्वेषी है, बँधा हुआ है, शरीर युक्त है—ऐसी दृष्टि जिसके विद्यमान है उसकी बात तो दूर रही! वह तो शुद्ध स्वरूपके आँगनमें भी नहीं आया, वह तो शुद्धस्वरूपसे विमुख हो गया है, जरा भी स्वसन्मुख नहीं है परन्तु जो आत्माकी शुद्धता और अशुद्धताका यथार्थ ज्ञान करके शुद्धस्वरूपके पक्षके रागमें स्थित है वह भी शुद्धस्वरूपको प्राप्त नहीं हो सकता, आत्माका अनुभव नहीं कर सकता।

अशुद्धनयकी ओरका जो असद्भूतव्यवहार है उसके पक्षकी तो बात ही नहीं है, परन्तु जो गुण-गुणीके राग द्वारा भेद होता है वहाँ भी नहीं रुकना। शुद्धताके आँगनमें खड़े-खड़े "मैं ऐसा हूँ-मैं

ऐसा हूँ" ऐसे विकल्प करता हुआ खड़ा रहेगा उसे भी निर्विकल्प स्वादका स्वादन नहीं होगा, वह यहींका वहीं रुक जायेगा; जैसा सहज आत्मस्वरूप है वैसा वीतराग नहीं होगा, इसलिये पक्षपातको छोड़कर एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होनेसे स्वरूपको प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनयको जानकर, स्वरूपमें लीन होकर पक्षपातको छोड़ना।

आचार्यदेवने शुद्धनयको जानना कहा है, क्योंकि जाने बिना छोड़ेगा क्या? इसलिये आत्मा परसे निराला है—ऐसा बराबर जानकर, अशुद्ध पक्षको गौण करके, शुद्ध स्वरूपको जान! पश्चात् शुद्धके पक्षके रागको छोड़कर स्वरूपमें लीन हो! कषायका प्रवर्तन भी स्वरूपमें नहीं है—ऐसी यथार्थ श्रद्धा करके श्रद्धाका बल लाओ! श्रद्धाके पश्चात् चारित्र-स्थिरता ला! श्रद्धाका विषय सामान्य है, पश्चात् वर्तन ला अर्थात् विशेष ला! "ऐसा हूँ और वैसा हूँ" वह विकल्प छोड़कर स्वरूपमें प्रवर्तन-आचरण चारित्र ला! यदि विकल्प नहीं छूटेगा तो वीतरागस्वभाव नहीं होगा।

जैसा स्वरूप है वैसा प्राप्त करना योग्य है परन्तु पक्षमें स्थित रहना योग्य नहीं है, विकल्पमें स्थित रहना योग्य नहीं है इसलिये स्वभावके आनन्दके प्रवर्तनके लिये विकल्पके भङ्गका त्याग करना चाहिये।

आत्मा पर वस्तुकी अवस्थाको करे और परवस्तु आत्माकी अवस्थाको करे—वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा राग-द्वेषका कर्ता है वह कहना भी सच्चा नहीं है। यहाँ तो उससे भी सूक्ष्म बात है। वस्तुको देखनेके दो पक्ष हैं वह नय है। एक पर-अपेक्षासे देखनेका पक्ष और एक स्व-अपेक्षासे देखनेका पक्ष। आत्माको कर्मके बंधनकी अपेक्षासे देखना सो व्यवहारपक्ष और अबंध अपेक्षासे देखना सो निश्चय-पक्ष। उन दोनों पक्षोंके विकल्पमें रुकना सो नयपक्ष है, राग है। उन पक्षोंमें स्थित रहनेसे वीतरागदशा प्राप्त नहीं होती इसलिये उन्हें छोड़कर स्वरूपमें लीनता करना योग्य है।

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

अर्थ:—जीव मूढ़ (मोही) है, ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव मूढ़ (मोह) नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उन्हें चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है)।

जीव मूढ़ है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव मूढ़ नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। नय अपेक्षाका एक ऐसा पक्ष है कि जीव मूढ़ है और दूसरा पक्ष है कि जीव मूढ़ नहीं है। अज्ञान भावसे कर्मकी ओर युक्त है, परमें उलझ गया है—ऐसी पर्यायकी अपेक्षासे देखें तो आत्मा मूढ़ है।

दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीव मूढ़ नहीं है। परमार्थ-दृष्टिसे आत्मा मूढ़ नहीं है वह बात यथार्थ है, क्योंकि त्रिकाल ज्ञान-स्वभावी आत्मा कभी भी परमें नहीं उलझता, किन्तु उस ओरका विकल्प सो पक्ष है। परमार्थनयसे आत्मा मूढ़ नहीं है वह बात यथार्थ है परन्तु अज्ञान अपेक्षाकी दृष्टिसे मूढ़ है—वह बात मिथ्या नहीं है, किन्तु वे दोनों नयपक्ष हैं, दोनों नय पक्षोंमें रुकना वह राग है।

आत्माका वास्तविक हित कैसे हो-वह बात यहाँ की है। अन्य सब टालते-टालते नयपक्ष भी दूर कर देना वैसा आचार्यदेवका उपदेश है।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है; उसे वर्तमान पर्याय-दृष्टिसे देखें तो मूढ़ है परन्तु त्रिकाल दृष्टिसे देखें तो मूढ़ नहीं है किन्तु उसके ऊपर पक्ष करके रुकना राग है। जो तत्त्ववेदी है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही अनुभवमें आता है। मात्र शुद्ध चैतन्य-

तत्त्व जब अनुभवमें लीन है तब चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है, उसमें ऐसा हूँ और वैसा हूँ ऐसे नयके दो विकल्प नहीं हैं। उसे तो चित्स्वरूप जैसा है वैसा ही अनुभवमें आता है।

आत्माको क्षणिक अवस्थामें मूढ़ता भासित होती है परन्तु वस्तुदृष्टिसे आत्मा मूढ़ नहीं है, कर्मसे उलझा हुआ नहीं है। वह दो नयोंके दो पक्षपात हैं। मैं कर्मसे उलझा हुआ हूँ और मैं कर्मसे पृथक् आत्मा उसमें उलझा हुआ नहीं हूँ—ऐसे दोनों विकल्प वास्तवमें व्यवहार ही हैं परन्तु यहाँ एकको निश्चय कहा है। मैं चैतन्यज्योति कर्ममें न उलझूँ—ऐसा विकल्प वह पक्ष है। परमार्थदृष्टिसे आत्मा नहीं उलझता वह बात यथार्थ है परन्तु ऐसा विकल्प वह राग है इसलिये व्यवहार है।

राजा बन जाये तो मैं राजा हुआ, राजा हुआ-ऐसा कहाँ तक गोखता रहता है? पश्चात् मैं राजा हूँ ऐसा निर्णय ही हो गया। उसीप्रकार परसे भिन्न चैतन्यज्योति आत्मा उलझा हुआ नहीं है—ऐसा भान होनेके पश्चात विकल्पमें रुका रहे तो स्वानुभव नहीं होता। नमक खारा है, खारा है, ऐसा कहाँ तक गोखेगा? गोखते रहनेसे नमकका स्वाद आयेगा? नमक-नमक ऐसा सोचते रहनेसे नमक खाया जाता है? नहीं खाया जाता। उसीप्रकार मैं अमूढ़ हूँ, मैं अमूढ़ हूँ ऐसा गोखते रहनेसे, उस विकल्पमें रुक जानेसे स्वभावका स्वाद आ जायेगा? नहीं।

अनेक प्रकारके कूड़ा कचरारूप रागके पक्ष दूर करते करते मनके आँगनमें आकर खड़ा रहे और विचार करे कि मैं अमूढ़ हूँ, अमूढ़ हूँ वह भी पक्ष है। आत्मा तो जैसा है वैसा ही है, उसका वेदन करना सो वस्तुस्वभाव है। वस्तुस्वभाव दो पक्षपातसे रहित है। जो तत्त्वका वेदक है उसे चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही है—वैसा अनुभवमें आता है।

एक पक्ष कहता है कि आत्मा कारण है और दूसरा पक्ष कहता है कि आत्मा कारण नहीं है। पर्यायदृष्टिसे आत्मा अज्ञानभावसे राग-द्वेषका कारण कहलाता है परन्तु वस्तुदृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तु राग-द्वेषका कारण नहीं है; मात्र वस्तुकी अवस्थामें राग-द्वेष होता है, नवीन-नवीन अज्ञानभाव होते हैं वह राग-द्वेषका कारण है। यदि वस्तु राग-द्वेषका कारण हो तो वह कभी दूर नही हो सकता। पर्यायदृष्टिसे आत्मा राग-द्वेषका कारण है वह बात सत्य है, परन्तु इस विकल्पमें रुक जाना वह संसारका कारण है।

यदि आत्माका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना और उसमें स्थिर न हुआ तो सिर पर चौरासीका अवतार खड़ा है; जहाँ कोई शरण नहीं है, कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है, दुकान नहीं है, खेत नहीं है; नाम, ठाम, गाम आदि कुछ भी नहीं है—ऐसे कुत्ते, कौवे गधे आदिके भवोंमें चला जायेगा।

कोई कहेगा कि यह सब किसने कहा जा रहा है? प्रभु! तेरी प्रभुता अन्तरङ्ग शक्ति कैसे प्रगट हो यह अपूर्व बात धर्मके जिज्ञासावानको कहते हैं। एकबार श्रद्धासे तो प्रभु हो जा! फिर साक्षात् प्रभु होनेका समय किसी दिन आयेगा, असली स्वभावसे तो सभी प्रभु हैं—वैसी एकबार श्रद्धा तो कर! पश्चात् वर्तमान पर्यायमें जो मलिनता है उसे पुरुषार्थ द्वारा टालकर निर्मल पर्याय प्रगट करके वीतरागता होगी।

यदि इस समय न चेता तो मरकर चला जायेगा चौरासीके चक्करमें! ढूँढ़ने पर हाथ नहीं आयेगा! इस भवमें यदि तत्त्व न समझा तो चौरासीके चक्करमें ढूँढ़ने पर हाथ नहीं आयेगा! जिसप्रकार बिना डोरा पिरोयी हुई सूई कूड़ेमें खो जाती है, इसीप्रकार चौरासीके अवतारमें खो जायेगा। सम्यग्ज्ञानरूपी सच्चा डोरा पिरोया तो चौरासीके कूड़ेमें नहीं खोने पायेगा, किन्तु यदि सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा नहीं पिरोया तो जिसप्रकार सूई खो जाती है उसीप्रकार खो जायेगा। कौवोंके

उड़ा हुआ तिनका फिर ढूंढ़नेसे हाथ नहीं आता! इसलिए यथार्थ ज्ञान कर, यथार्थ प्रतीति कर और स्वरूपमें स्थिर हो!

वास्तवमें, मरनेवाला मरकर कहाँ गया, उसे कोई नहीं देखता लेकिन सब अपने स्वार्थको रोते हैं। "हाय-हाय! मेरा इकलौता बेटा हीरा चला गया"—इस प्रकार अपने स्वार्थको रोते हैं। परन्तु लड़केके आत्माका क्या हुआ? वह कहाँ गया? अच्छी गतिमें या दुर्गतिमे? वह कोई नही देखता; परन्तु मात्र अपने स्वार्थको ही सब याद करते हैं। सगे, कुटुम्बी सभी मात्र स्वार्थके ही साथी हैं। उसके आत्माका क्या हुआ होगा उसकी किसीको नहीं पड़ी है; यदि उसके आत्माका और उसके भवका विचार करें तो अपना भी इस भवका राग उड़ जाये। भाई! भव-भ्रमणका अन्त करना हो तो आत्माकी पहिचान कर।

आत्मा कारण है और आत्मा कारण नहीं है—ऐसे दो विकल्पोंमें रुकना छोड़कर आत्मामें रुकना वह आत्ममार्ग है। कारण है और कारण नहीं है—वैसे विकल्प छोड़कर स्वरूपस्थित होना वह मार्ग है। प्रथम निश्चय श्रद्धान और पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा, चारित्र द्वारा स्वरूपमें स्थित हो सकते हैं।

लक्ष साधे विना यदि वाण मारा जाये तो वस्तुको नहीं वेध सकेगा; उसीप्रकार आत्माका यथार्थ स्वरूप दो पक्षोंसे रहित जैसा है वैसी पहिचान न करे, निर्विकल्प प्रतीति न करे तो जड़-चैतन्यकी धाराको वेधकर भेदज्ञान किस प्रकार करेगा? स्थिर किस प्रकार होगा? इसलिए आत्माका जैसा है वैसा परसे निराला पवित्र स्वरूप जानकर, उसकी प्रतीति करके, राग-द्वेषको और आत्माके स्वभावको वेधकर पृथक् करके स्वरूपमें एकाग्र होनेसे आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। आत्मा पर्यायसे राग-द्वेपका कारण है और वस्तुदृष्टिसे कारण नहीं है—ऐसे विकल्पमें तत्त्ववेदी नहीं रुकते, उन्हें चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही अनुभवमें आता है।

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥

अर्थः—जीव कार्य है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कार्य नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि जीवकी अवस्था कार्यरूप है, दूसरा पक्ष कहता है कि कार्यरूप नहीं है; वास्तवमें तो जीवका स्वभाव जैसा है वैसा ही है। विपरीत पुरुषार्थसे आत्मा अज्ञान और राग-द्वेषका कार्य करता है और सीधे पुरुषार्थसे स्वभावकी निर्मल पर्यायका कार्य करता है। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीव कार्यरूप है और द्रव्यदृष्टिसे वस्तु त्रिकाल एकरूप है, इस प्रकार पर्यायसे और द्रव्यसे वस्तुका स्वभाव जैसा है वैसा है। कार्यरूप है और कार्यरूप नहीं है—ऐसे विकल्पको छोड़कर अर्थात् स्वसन्मुख होकर तत्त्ववेदी शान्त आनन्दस्वरूप आत्माका अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

अर्थः—जीव भाव है (भावरूप है) ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भावरूप नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात-रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष है कि आत्मा भावरूप है, दूसरे नयका पक्ष है कि आत्मा वैसा नहीं है—भावरूप नहीं है। परकी अपेक्षासे अभावरूप है और अपने रूपसे भावरूप है। पररूपसे अभाव है अर्थात् इस शरीर-रूपसे आत्मा नहीं है; शरीररूपसे जो आत्मा भावरूप हो तो

आत्मा जाता है उसके साथ शरीर भी जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये शरीररूपसे भावरूप नहीं है; किन्तु शरीररूपसे आत्माका अभाव है। आत्माका आत्मारूपसे भाव है, इस प्रकार आत्मा भावरूप है और आत्मा परद्रव्य-क्षेत्र-काल और परभाव अपेक्षा अभावरूप है—ऐसे दो विकल्पोंमें रुकना वह राग है। इन दो पक्षोंको छोड़कर अभेद स्वरूपमें रहना वह वीतरागता है। वस्तु तो स्वभावमें जैसी है वैसी है, उसमें भाव-अभावके भंग-भेदके विकल्प नहीं हैं। जो तत्त्ववेदी हैं वे वस्तुस्वरूपका यथावत् वेदन करते हैं।

सूर्योदय हो तब एक कहे कि सूर्य पूर्वमें है और दूसरा कहता है कि पश्चिममें है। पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हुआ कहता है कि सूर्य पूर्वमें है, और पश्चिम दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हुआ कहता है कि सूर्य पश्चिममें है; परन्तु सूर्य तो जैसा है वैसा ही है। पूर्व और पश्चिम दिशाके पक्षपातसे जो रहित है वह तो कहता है कि सूर्य तो जैसा है वैसा है। उसीप्रकार चैतन्य तो है वह है, परन्तु चैतन्य है और चैतन्य नहीं है—ऐसे विकल्पमें रुकना वह राग है। चैतन्य नहीं है इससे वस्तु नहीं है—ऐसा नहीं, परन्तु इसके रागमें लीन होना छुड़ाते हैं। वस्तु तो है परन्तु वह पररूपसे नहीं है। सिद्ध सिद्धरूप है परन्तु पररूप नहीं है, इसीप्रकार चैतन्य चैतन्यरूप है परन्तु पररूप नहीं है। इस प्रकार वस्तु तो है—अस्ति तो है परन्तु विकल्प छुड़ाते हैं। यह वस्तु कितने पैसोंकी है—ऐसा सोचता रहे तो उस वस्तुको नहीं खाया जा सकता; खानेके समय गोखता रहे तो खानेका स्वाद नहीं आ सकता। आत्मा ऐसा है, ऐसा है, ऐसा गोखता रहे तो आत्माका अनुभव नहीं हो सकता। खानेके समय जीभ गोखनेका कार्य करती है या खानेका? गोखनेका ही काम करे तो गोखते समय खाया नहीं जा सकता। इस प्रकार विकल्पसे गोखता रहे कि मैं भावरूप हूँ, मैं भावरूप नहीं हूँ; मैं अपनेसे हूँ और परसे नहीं हूँ ऐसे विकल्पमें रुके तो स्वरूपका स्वाद नहीं ले सकता। जो तत्त्ववेदी हैं वे आत्माका स्वभाव जैसा है उसका वैसा ही अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

अर्थः—जीव एक है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव एक नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं-उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्षवाला कहता है कि जीव एक है, गुण और अवस्थामें अनेक होने पर भी वस्तुसे एक है, इसलिए उस अपेक्षासे उसकी बात सत्य है; गुणकी अपेक्षासे और पर्यायकी अपेक्षासे जीवको अनेक भी कहा जाता है; देहसे प्रत्येक आत्मा भिन्न हैं, समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक है—ऐसा नहीं है। द्रव्य अपेक्षासे एक है—ऐसी बात यहाँ है; लेकिन प्रत्येक आत्मा पृथक् है। वेदांत कहता है कि सर्वत्र सर्वव्यापक आत्मा एक ही है; वह बात बिल्कुल मिथ्या है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि एक-अनेकके विकल्पमें रुकनेसे आत्माका स्वाद नहीं आता। खीर खाना और उसका वर्णन करना वह एकसाथ नहीं हो सकता, वाणीका विषय और खाना एकसाथ नहीं बन सकता। इसीप्रकार विकल्पका विषय करना और आत्मस्वभावका वेदन करना वह एकसाथ नहीं बन सकता। वाणीमें उपयोग [illegible] और भोजनके स्वादमें उपयोग रहे वे दोनों एक साथ नहीं हो सकते, इसी प्रकार विकल्प करता जाये और आत्माके [illegible] जाये—वे दोनों एक साथ नहीं बन सकते।

आत्मा अपने गुण-पर्यायमें एक है। परन्तु उस एक-अनेकके रटनमें रुका रहे तो स्वरूपकी एकाग्रता नहीं होती। परन्तु जो तत्त्ववेदी हैं अर्थात् तत्त्वके ज्ञाता हैं वे ऐसे एक-अनेकके विकल्पमें न रुककर आत्माके विज्ञानघन स्वभावमें एकाग्र होकर निजस्वभावका स्वाद लेते हैं। निरन्तर चैतन्यस्वरूप जीवको चैतन्यस्वरूप ही जानते हैं।

(उपजाति)

एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

अर्थः—जीव सांत (अन्तरहित) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सांत नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं, जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक अभिप्रायवालेका पक्ष है कि आत्मा सांत है, और दूसरा कहता है कि सांत नहीं है। एक समयकी अवस्था होती है वह दूसरे समय नहीं होती, दूसरे समय दूसरी अवस्था होती है—उस पर्यायको लेकर आत्मा अन्त सहित है—ऐसा कहा है। और आत्मा पर्याय जितना नहीं है; एक शरीरमें यदि आत्मा पचास वर्ष तक रहे तो वह पचास वर्ष जितना नहीं है। आत्मा तो अनादि अनन्त अखण्ड, एकरूप त्रिकाल है। परन्तु एक समयकी अवस्था जितना, दस वर्ष जितना या पचास वर्ष जितना नहीं है। आत्माका स्वरूप तो जैसा है वैसा है, परन्तु अन्त सहित है या अन्त रहित है—ऐसे विकल्पोंमें रुकना वह [illegible] कारण नहीं है—धर्म नहीं है। [illegible] आवे और खाना आदि [illegible] नहीं बनता; इसीप्रकार विकल्पोंमें रुकना और आत्माका अनुभव करना—दोनों एक साथ नहीं होते। ऐसा है और ऐसा नहीं है—ऐसा विकल्प भी अन्तरंग है उस अन्तरंगमें रुकनेसे आत्माका अनुभव नहीं होता, इसलिये जो तत्त्ववेदी—तत्त्वका ज्ञाता है वह [illegible] छोड़कर चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

अर्थः—जीव नित्य है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नित्य नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्षवाला कहता है कि आत्मा नित्य है और दूसरे पक्षवाला कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे देखने पर आत्मा नित्य है—ध्रुव है. परन्तु ऐसे राग-विकल्पमें रुक जानेसे आत्माका वेदन नहीं होता। वस्तु स्वतः स्थायी रहकर अवस्थासे परिवर्तित होती रहती है, इसलिये अवस्थासे आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार सोना स्थायी रहकर अवस्था बदलता रहता है, क्षणमें कड़ा होता है, घड़ीमें कुण्डल होता है, घड़ीमें अँगूठी होता है; सोना एकरूप रहने पर भी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं; उसीप्रकार आत्मा एकरूप रहने पर भी समय-समयकी अवस्थाएँ बदलता है।

कोई कहे कि आप तो इसमें नित्य और अनित्य सब निकाले देते हो। नहीं भाई! निकालते नहीं हैं, परन्तु वस्तुका सच्चा स्वरूप जैसा है वैसा समझाते हैं; स्वरूपको नहीं निकालते हैं परन्तु उस ओरके राग-विकल्पको निकाल देनेके लिये कहते हैं।

जिसप्रकार माल लेते समय बाँट-तराजूसे तोलकर माल लेते हैं; परन्तु उसे खाते समय उस मालका स्वाद लिया जाता है, तराजू-बाँट साथमें नहीं लिये जाते; उसीप्रकार प्रथम वस्तुस्वरूपको जाननेके लिए इन सभी पक्षोंसे वस्तुका निर्णय किया जाता है परन्तु अनुभव करते समय उन सभी पक्षोंका राग रखे तो अनुभव न हो इसलिये जो तत्त्ववेदी हैं वे पक्षोंका राग छोड़कर आत्माका स्वाद ले रहे हैं।

(उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८४ ॥

अर्थः—जीव वाच्य (वचनसे कहे जाने योग्य) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वाच्य (वचनगोचर) नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही है।

एक कहता है कि जीव वाच्य है और दूसरा कहता है कि वाच्य नहीं है—वे दोनों पक्षपात हैं। एक अपेक्षासे जीव कथंचित् वाणीसे कहा जा सके-ऐसा है; यदि किसी भी अपेक्षासे न कहा जा सके तो केवलज्ञानीकी वाणीमें पदार्थका स्वरूप नहीं आये. इसलिये कथंचित् वचनगोचर है। जैसे कि, घीका स्वाद वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता तथापि संकेत द्वारा कुछ बताया जाता है, इसलिये कथंचित् वचनगोचर है।

वाणी द्वारा आत्माका स्वरूप कहा जा सकता है; केवलज्ञानीकी वाणीमें समस्त पदार्थोंका स्वरूप आता है। परमार्थदृष्टिसे पदार्थोंका पूर्ण स्वरूप वाणीमें नहीं आता। जैसे कि घीका स्वाद वाणी द्वारा कहे परन्तु संतोष नहीं होता। जब भी जैसे पदार्थका वर्णन वाणी द्वारा संतोष पूर्वक नहीं हो सकता, तो फिर आत्माका अनुभवरस वाणीसे कैसे कहा जा सकता है? आत्माका अद्भुत रस वाणीमें कहनेसे संतोष नहीं होता; इसलिए आत्मा वचनसे अगोचर है। आत्मा वचन अगोचर है और आत्मा वचनगोचर है—ऐसा वृत्तिका उत्थान आत्माके स्वरूपमें नहीं है; वे दोनों पक्षपात हैं; जो तत्त्ववेदी हैं वे इन दोनों पक्षपातोंको छोड़कर चित्स्वरूपका वेदन करते हैं।

एक ओर ऐसा कहा जाता है कि—"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो," और ऐसा भी कहा

जाता है कि–भगवानके शब्दब्रह्ममें सम्पूर्ण स्वरूप आता है। ऐसी बात आये वहाँ अज्ञानीको विरोध भासित होता है परन्तु अपेक्षासे यह दोनों बातें यथार्थ हैं। वस्तुस्वरूपकी बहुत महिमा आये तब ऐसा भी कहते हैं कि—अहो! वस्तुका स्वरूप वाणीसे अगोचर है; जैसे कि—"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां" इत्यादि। और ऐसा भी कहा जाता है कि—शब्दब्रह्म सर्वका प्रकाशक है। वे दोनों नयपक्ष हैं; वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा है इसलिये विकल्पमें नहीं रुकना चाहिए, परन्तु उसे यथावत् समझकर उसका अनुभव करना–वेदन करना। जो तत्त्ववेदी हैं वे निजस्वरूपका यथावत् अनुभव करते हैं।

आत्मा ज्ञानभावसे शुभाशुभ परिणामोंका भी कर्ता नहीं है; दो नयके पक्ष होते हैं उनका कर्तृत्व भी आत्माके नहीं है। दो नयोंके पक्षमें रुकनेसे आत्माका स्वाद नहीं लिया जा सकता।

जिस प्रकार बोलनेवाला मनुष्य बोलते समय खा नहीं सकता, उसीप्रकार विकल्पके समय आत्माका स्वाद नहीं आता। जिसप्रकार गन्ना चूसते समय खीरका स्वाद नहीं लिया जा सकता, उसीप्रकार विकल्प करनेवाला विकल्प करे कि–मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, इसप्रकार अन्तर्जल्प करता जाये और साथ ही साथ आत्माका स्वाद भी लेता जाये—ऐसा नहीं हो सकता; इसलिये विकल्प छोड़कर स्वरूपका स्वाद लेना।

(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

अर्थः—जीव नानारूप है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नानारूप नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित है उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष है कि जीव नानारूप अर्थात् अनेकरूप है और

दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीव अनेकरूप नहीं है। अनेक गुण-पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा नानारूप है और वह आत्मा गुण-पर्यायके पिण्डरूप एक वस्तु है इसलिये वस्तुदृष्टिसे आत्मा एक है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण हैं इसलिये आत्मा अनेकरूप है, और गुण-पर्यायके पिण्डरूप एक वस्तु है इसलिये एकरूप है।

मैं नानारूप हूँ और नानारूप नहीं हूँ अथवा मैं एकरूप हूँ और एकरूप नहीं हूँ—ऐसे शुभ विकल्पमें रुकना वह सहज अवस्थाकी स्थितिको विघ्नरूप है; ऐसे शुभविकल्प भी विघ्नरूप हैं, तब फिर दूसरे विकल्पोंकी तो बात ही क्या?

स्वतः एक है या अनेक है—इत्यादि विचार प्रारम्भमें आते हैं; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, स्थिरतास्वरूप हूँ—इत्यादि गुणोंका विचार प्रारम्भमें आता है, परन्तु एकाग्र होते समय वह काम नहीं आता; वह विकल्प विघ्नरूप है। जो तत्त्ववेदी हैं वे दो पक्षपातसे रहित हैं; वे तो चैतन्यस्वरूपका वेदन करनेवाले हैं।

८१ वें कलशमें ऐसा कहा है कि–जीव एक है और एक नहीं है; यहाँ ८५ वें कलशमें जीव अनेक है और अनेक नहीं है—ऐसा कहा है। ८१ वें कलशमें एकको अस्तिकी ओरकी बात ली है और यहाँ ८५ वें कलशमें अनेककी अस्तिकी ओर की बात ली है उतना अन्तर है। जो तत्त्ववेदी हैं वे दोनों पक्षपातोंसे रहित हैं और चित्स्वरूप आत्माका ही वेदन करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

अर्थः—जीव चेत्य (ज्ञात होने योग्य) है—ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव चेत्य नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष ऐसा है कि जीव ज्ञात होने योग्य है और दूसरे नयका ऐसा पक्ष है कि जीव ज्ञात होने योग्य नहीं है। जीव ज्ञात होने योग्य है—वह बात सत्य है, परन्तु मैं ज्ञात होने योग्य हूँ, मैं ज्ञात होने योग्य हूँ—वैसे विकल्पमें रुक जाये तो स्वभावका स्वाद नहीं आयेगा। मिश्री मीठी है, मीठी है—वैसा रटता रहे तो मिश्रीका स्वाद नहीं आयेगा; किन्तु मिश्री खाये तो उसका स्वाद आये। उसीप्रकार आत्माका स्वभावका रटन करनेसे स्वभावका स्वाद नहीं आता, परन्तु स्वभावका वेदन करे तो स्वभावका स्वाद आये। दो पक्षोंके रागमें रुकेगा तो निर्विकल्प आनन्दस्वरूपका स्वाद नहीं आयेगा।

आत्मा अज्ञानसे दिखाई नहीं देता, इन्द्रियोंसे—मनसे दिखाई नहीं देता, इसलिए एक अभिप्राय ऐसा है कि आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है, परन्तु आत्मा स्वभावसे ज्ञात होता है इसलिये ज्ञात होने योग्य है, यह बात सत्य है, परन्तु दोनों प्रकारके विकल्पोंमें रुकनेसे निर्विकल्प स्वभावमें भंग पड़ता है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूप ही अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

अर्थः—जीव दृश्य है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव दृश्य नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित है उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

८९ वें कलशमें ज्ञात होने योग्य कहा और यहाँ अंतर्दृष्टिसे दृश्य होने योग्य कहा; ८६ में विशेष चेतना कही और यहाँ ८७ में सामान्य चेतना कही है।

परद्रव्यके आश्रयसे, इन्द्रियोंसे या शुभराग द्वारा आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है, दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं है—इस प्रकार विकल्प

करते रहना भी राग है। और आत्मा स्वभावसे ज्ञात होने योग्य, दृष्टि गोचर होने योग्य है—ऐसा विकल्प करते रहना भी राग है। दोनों अपेक्षाओंसे आत्मा जैसा है वैसा जाननेके पश्चात् भी रागमें स्थित रहना कि—आत्मा ज्ञानमूर्ति दृष्टिगोचर होने योग्य है और दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं है—यह भी आत्माके स्वभावको विघ्न करनेवाला है, स्वरूपके वेदनको रोकनेवाला है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चैतन्य-स्वरूपका उपभोग करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

अर्थः जीव वेद्य (वेदन होने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वेद्य नहीं है—ऐसा दूसरा नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि आत्मा वेदन होने योग्य है, और दूसरा पक्ष कहता है कि वेदन होने योग्य नहीं है। स्वभाव द्वारा-स्व अपेक्षासे आत्मा वेदन होने योग्य है और पर अपेक्षासे-पर इन्द्रियों द्वारा आत्मा वेदन होने योग्य नहीं है। वेदन होने योग्य है और नहीं है—वे दोनों विकल्प हैं; वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा समझकर स्वरूपका वेदन करना ही हितकर है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चैतन्यस्वरूपका वेदन कर रहे हैं—अनुभव कर रहे हैं—भोग रहे हैं।

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

अर्थः—जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है—ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव 'भात' नहीं है—ऐसा दूसरे

नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है, अर्थात् उन्हें चित्स्वरूप जैसा है वैसा ही अनुभवमें आता है।

एक नयका अभिप्राय ऐसा है कि जीव प्रत्यक्ष है वह बात सत्य है, क्योंकि जीव कहीं स्वयं अपनेसे परोक्ष होता है? नहीं होता। जीव स्वतः ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, इसलिये प्रत्यक्ष है। दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीव प्रत्यक्ष नहीं है; इन इन्द्रियोंसे आत्मा ज्ञात नहीं होता इसलिये प्रत्यक्ष नहीं है। आत्मा स्वयं अपने द्वारा ज्ञात होता है परन्तु निम्नदशामें बीचमें मनका निमित्त आता है, जानते हुए मन और इन्द्रियोंका निमित्त आता है इसलिये आत्मा परोक्ष है। परन्तु बीचमें निमित्त आने पर भी ज्ञान ज्ञान द्वारा ही जानता है, इसलिये आत्मा प्रत्यक्ष है।

कितने ही लोग कहते हैं कि आत्मा तो जब केवलज्ञान हो तब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, परन्तु इसी समय प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। अरे भाई! वह बात सम्पूर्णताकी अपेक्षासे सच है परन्तु निम्नदशामें भी अनुभवकी अपेक्षासे आत्मा प्रत्यक्ष है; दूसरे प्रकारसे द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे स्वरूपप्रत्यक्ष भी है। केवलज्ञान हो तब सकलप्रत्यक्ष कहलाता है—वह सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होनेकी अपेक्षासे है। आत्माको जानते हुए क्षयोपशम ज्ञानमें मनका निमित्त आता है इसलिए आत्मा परोक्ष है। इस अपेक्षासे आत्मा प्रत्यक्ष है और इस अपेक्षासे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसे विकल्पमें रुकना वह खेद है।

प्रथम आत्माका अनुभव हो तब विकल्प टूट जाता है और स्वरूपमें स्थिर होते हैं, और फिर बाह्य लक्ष आये तब विकल्प आता है, परन्तु उससे स्वरूपका भान नहीं जाता। फिर अपनी पदवीके अनुसार स्वरूपस्थित हो जाते हैं, और फिर बाह्य लक्ष जाता है। इस प्रकार साधकदशामें वर्तते रहते हैं। परन्तु जो विकल्प है वह खेद है—दुःखका कारण है।

जिसे स्वरूपका स्वाद लेना हो वह आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसा गोखता रहे तो स्वरूपका स्वाद नहीं आयेगा। नमक खारा है, खारा है—ऐसा खाते समय भी गोखता होगा? नहीं गोखता। इसीप्रकार आत्मा शांत-आनन्दस्वरूप है, उसमें स्थिर होना हो तो विकल्प क्या? विकल्प आये वह तो दुःखका कारण है। शरीरका नाम तो जो है वही है, उसमें रटना क्या? उसीप्रकार आत्म-स्वरूपका यथावत् निर्णय किया फिर स्थिर होते समय रटना क्या? आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसा विकल्प दुःखका कारण है, आत्माके निर्विकल्प आनन्दको विघ्नरूप है। एक सेर वेसनमें चार सेर घी डालकर मैसूरपाक अमुक भाईने बहुत अच्छा बनाया है—इस प्रकार मिठाई खाते समय भी मैसूर अच्छा है-अच्छा है—ऐसा गोखता रहे तो मैसूर खाया नहीं जा सकता। दूसरे लोग भी कहते हैं कि—छोड़ न भाई, अपनी बातको! खाने दे! इस प्रकार लड्डुओंको खाते समय गोखता रहे तो लड्डू नहीं खाये जा सकते। आत्मा परसे निराळा पवित्र है, पवित्र है—ऐसा गोखना अनुभवके समय नहीं होता। यदि गोखता रहे तो विकल्प नहीं टूट सकता और निर्विकल्प आनन्दका अनुभव नहीं हो सकता।

आचार्यदेवने २० कलश कहे हैं—बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि नयोंके पक्षपात हैं। जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्वका—वस्तु-स्वरूपका निर्णय करके नयोंके पक्षपातको छोड़ते हैं उन पुरुषोंको चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूपसे अनुभव होता है।

आत्मा व्यवहारसे बँधा हुआ है और परमार्थसे बँधा हुआ नहीं है। आत्मा कर्मकी अपेक्षासे, विकारकी अपेक्षासे मूढ़ है परन्तु स्वभावकी अपेक्षासे अमूढ़ है। आत्मा पर्यायकी अपेक्षासे रागी है

परन्तु भूतार्थ वस्तुदृष्टिसे रागी नहीं है। आत्मा पर्यायकी अपेक्षासे द्वेषी है परन्तु वस्तुदृष्टिसे अद्वेषी है। आत्मा अज्ञान अवस्थासे विकारका कर्ता है परन्तु ज्ञान अवस्थासे विकारका कर्ता नहीं है। आत्मा अज्ञान अवस्थासे विकारका भोक्ता है परन्तु ज्ञान अवस्थासे विकारका भोक्ता नहीं है परन्तु स्वभावका भोक्ता है। जीव अपनी अपेक्षासे जीव है और परजीवकी अपेक्षासे जीव नहीं है अर्थात् परपदार्थकी जीवमें नास्ति है। जीव अपनी अपेक्षासे सूक्ष्म है; इन्द्रिय और विकल्पसे पकड़ा जा सके—ऐसा नहीं है, इसलिए सूक्ष्म है। शरीर और इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धवाला है इसलिये स्थूल है। आत्मा पर्यायदृष्टिसे, अज्ञान अवस्थासे विकारका कारण कहलाता है परन्तु वस्तुदृष्टिसे पूर्णवस्तु विकारका कारण नहीं है। आत्मा अज्ञान अवस्थासे विकारका कार्य करता है और ज्ञानभावसे स्वभावका कार्य करता है; वस्तुदृष्टिसे सम्पूर्ण त्रिकाली वस्तु कार्यरूप नहीं होती। आत्मा अपने स्वभावकी अपेक्षासे भावरूप है और परमें आत्मा नहीं है इसलिए परकी अपेक्षासे आत्मा अभावरूप है। वस्तुदृष्टिसे आत्मा एकरूप है, गुण और पर्यायकी अपेक्षासे अनेक रूप है अर्थात् एकरूप नहीं है। पर्याय एक समय पर्यन्त ही होती है इसलिए पर्यायकी अपेक्षासे आत्मा सांत है अर्थात् अन्त सहित है और त्रिकाली द्रव्यकी अपेक्षासे सांत नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य है और पर्यायदृष्टिसे नित्य नहीं है। आत्मा कथंचित् वाणीसे कहा जा सकता है इसलिए वाच्य है परन्तु परमार्थदृष्टिसे आत्मा वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता इसलिए वाच्य नहीं है। आत्मा गुण-पर्यायकी अपेक्षासे अनेकरूप है परन्तु गुण-पर्यायके एक पिण्डरूप होनेसे वस्तुदृष्टिसे अनेकरूप नहीं है। आत्मा स्वभावसे ज्ञात होने योग्य है इसलिए चेत्य है, परन्तु मन और इन्द्रियोंसे ज्ञात होने योग्य नहीं है इसलिए चेत्य नहीं है। आत्मा स्वभाव द्वारा दृष्टिगोचर होने योग्य है इसलिये दृश्य है परन्तु मन-इन्द्रियसे दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं है इसलिए दृश्य नहीं है। आत्मा स्वभावकी अपेक्षासे वेदन होने योग्य है परन्तु इन्द्रियोंसे वेदन होने योग्य नहीं है। आत्मा स्वतः अपने द्वारा

प्रत्यक्ष है परन्तु इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं है। यह सब नयोंके पक्षपात हैं; उनमें यदि रुका रहे तो स्वभावका अनुभव नहीं होगा, परन्तु वस्तुका स्वभाव जैसा है उसे यथावत् जानकर निर्णय करना पड़ेगा। जाने बिना भी स्वभावका अनुभवन नहीं कर सकेगा और जाननेके पश्चात् भी यदि विकल्पमें रुका रहेगा तो भी स्वभावका अनुभव नहीं हो सकेगा।

प्रथम वस्तुस्वभावका निर्णय बराबर करना पड़ेगा। लोग कहते हैं कि नमक खारा है, परन्तु यह नमक है या खारा-इसका निर्णय बराबर करना पड़ेगा। खिचड़ीमें नमक डाला जाता है परन्तु पापड़ी खार नहीं। समझे बिना खिचड़ीमें नमक डालनेके बदले यदि खार डाल देगा तो खिचड़ीका स्वाद बिगड़ जायेगा। यदि पापड़में पापड़ खार डालेगा तो बराबर होगा परन्तु यदि खिचड़ीमें डाला जाये तो खिचड़ी बिगड़ जायेगी—इसलिये यह नमक है या खारा यह बराबर निर्णय करना पड़ेगा, निश्चित् किए बिना यदि रसोई करेगा तो बिगड़ जायेगी। उसीप्रकार प्रथम आत्माका स्वरूप जानना पड़ेगा। जगत अनेक प्रकारसे आत्माका स्वरूप कहता है, उसमें सच्चा स्वरूप क्या है उसका अंतरंगसे निर्णय किये बिना विकल्प नहीं छूटेगा, मूढ़ हो जायेगा, क्योंकि वस्तुको समझे बिना दृष्टिको रोकेगा कहाँ? विकल्प छोड़कर अस्तित्वपना कहाँ स्थिर रखेगा? क्योंकि अस्तिपनेका तो भान नहीं है इसलिये मूढ़ हो जायेगा।

दुकान पर माल लेने जाये वहाँ यदि बिना तोला हुआ माल ले तो कम-अधिक आये परन्तु वहाँ ठगाता नहीं है; दुकानदार तोले बिना कहे कि देख! सवा पांच तोला हो गया, तो ऐसे नहीं मानेगा और कहता है कि तू तो तोलकर दे, तोले बिना माल नहीं लूंगा। अन्तमें दुकानदारको माल तोलकर ही देना पड़ता है—वहाँ तो बिना तोला हुआ माल नहीं लेता और यहाँ आत्मामें परीक्षा किये बिना मोक्षपर्याय प्रगट करने जाये तो वह कहाँसे प्रगट हो? मैं आत्मा कौन हूँ? किस अपेक्षासे शुद्ध हूँ और किस अपेक्षासे अशुद्ध हूँ? किस अपेक्षासे बद्ध

हूँ और किस अपेक्षासे अबद्ध हूँ ? यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन मुझसे भिन्न किस प्रकार हैं ? उन सबको ज्ञान द्वारा तोल किए बिना–परीक्षा किए बिना, यथार्थ निर्णय किए बिना विकल्प छोड़ने जायेगा तो मूढ़ हो जायेगा, क्योंकि आत्माको यथार्थ नहीं जाना है इसलिये ठहरेगा कहाँ जाकर ? मूढ़ हो जायेगा। इसलिये प्रथम आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर, यथार्थ निर्णय करके, परसे भिन्न निराले आत्माका भान करके, विकल्पको छोड़कर स्वरूपमें स्थित होगा तो आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव कर सकेगा; स्वरूपमें स्थित होगा वहाँ विकल्प छूट जायेगा और चिदानन्दस्वरूप आत्माका अनुभव करेगा।

जीवमें अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, इससे उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्स्वरूप कहा है।

आत्मामें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरु-लघुत्व इत्यादि साधारण धर्म हैं, और ज्ञानस्वभाव असाधारण धर्म है। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। जो जिसका स्वभाव हो उसे उसमें उपाधि या भार मालूम नहीं होता। ज्ञानमें पच्चीस–पचास वर्षकी बात याद करता है वह क्या इन्द्रियोंसे याद करता है ? मनने याद करता है ? नहीं, ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञानस्वभावमेंसे याद करता है। पच्चीस–पचास वर्षकी बात यदि जीभसे कहने लगे तो कहते हुए बहुत समय लगेगा और पूरी कह भी नहीं सकेगा; किन्तु यदि ज्ञानसे याद करे तो एक सेकन्डमें याद कर सकता है। ज्ञानस्वभाव अपना स्वतः स्वभाव है इससे याद कर सकता है, और वह ज्ञानस्वभाव प्रगट अनु-भवमें आ सकता है। ज्ञानको ध्यानमें लेना हो तो तुरन्त लिया जा सकता है। यह जो याद करनेवाला है वह मैं हूँ, ज्ञाता मैं हूँ—इस प्रकार तुरन्त ही ध्यानमें आये—ऐसा ज्ञानस्वभाव अनुभवगोचर है। ज्ञानस्वभाव असाधारण है अर्थात् किसी दूसरे द्रव्यमें वह ज्ञानस्वभाव रहा हुआ नहीं है। एक जीव द्रव्यमें ही ज्ञानस्वभाव है और अस्तित्व आदि साधारण धर्म दूसरे द्रव्योंमें भी है। एक ज्ञानको गुण-गुणी-

की अभेददृष्टिसे देखो—सम्पूर्ण द्रव्यदृष्टिसे देखो तो, उसमें अनन्त गुण आ जाते हैं। एक ज्ञानगुणको लक्षमें लेनेसे दूसरे द्रव्योंसे चैतन्य-द्रव्य पृथक् होता है। दूसरे साधारण गुणोंको लक्षमें लेनेसे जड़-चैतन्य द्रव्य भिन्न नहीं होते; चैतन्यद्रव्यको जानना हो तो ज्ञानलक्षण द्वारा झटसे पहिचाना जा सकता है, इसलिये ज्ञानगुण असाधारण है।

उपरोक्त २० कलशोंके कथनको अब संक्षिप्त करते हैं:—

(वसंततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ९० ॥

अर्थः—इस प्रकार जिसमें वहुतसे विकल्पोंके जाल अपने आप उठते हैं—ऐसी महान् नयपक्ष कक्षाको (नयपक्षकी भूमिको लांघकर) (तत्त्ववेदी) अन्तर और बाह्यमें समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है—ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भावको-(स्वरूपको) प्राप्त करता है।

प्रथम पदार्थका लक्षण जानकर, बराबर निर्णय करके पश्चात् नयपक्षकी भूमिको लांघकर आत्माके आनन्द-रसका वेदन करता है। पराश्रित अर्थात् व्यवहार, स्वाश्रित अर्थात् निश्चय, दोनोंकी अलग अलग खतौनी करना चाहिये, व्यवहारको परमार्थमें नहीं डालना है और न परमार्थको व्यवहारमें। परन्तु प्रथम वस्तुका बराबर निर्णय करता है; निर्णय करनेके पश्चात् ऐसी महान् नयपक्षकी भूमिको उलंघ जाता है। यहां तो बीस नय कहे हैं परन्तु ऐसे तो अनन्तनय हैं प्रथम श्रद्धामें उन सभी नयोंका उलंघन करके आत्माका समतारसरूपी एक ही रस जिसका स्वभाव है—ऐसे अपने स्वरूपको प्राप्त करता है।

व्यक्त अर्थात् बाहर है वह पर्याय और अव्यक्त शक्तिरूप अंतरमें है वह वस्तु; द्रव्य तथा पर्यायसे सर्वप्रकारसे आत्मा समतारस-

से परिपूर्ण है। अन्तर और बाह्यमें एक समतारसरूप रस हो जिसका स्वभाव है वह प्रगट होता है। मैं ऐसा हूँ–और मैं वैसा हूँ, वैसे विषमभाव आत्माका स्वभाव नहीं है। वैसे विषमभावोंके विकल्प टूटकर आत्माका आनन्दरस प्रगट होता है। आत्मा स्वतः आनन्दरस है। मैं ऐसा हूँ और मैं वैसा हूँ—ऐसी महान नयपक्षकी भूमिका उलंघन करके वह रस प्रगट होता है। आत्माके समस्त प्रदेशोंमें आनन्द है, अंतरमें और बाह्यमें अर्थात् आत्माकी पर्यायमें भी आनन्द है और वस्तुमें भी आनन्द है, सम्पूर्ण आत्मा आनन्दरससे परिपूर्ण है।

नमककी डलीमें अन्दर भी खारापन होता है और बाहर भी खारापन होता है; उसीप्रकार आत्माके अन्तर्‌स्वभावमें त्रिकाली आनन्दरस है और वर्तमान व्यक्त पर्यायमें भी वह आनन्दरस झलकता है।

शरीर–वाणी–मन इत्यादि परमाणु मात्र मिट्टी है—धूल है; कर्म भी धूल है, उससे आत्माका वीतराग आनन्दरस भिन्न है; वह आनन्दरस वर्तमान पर्यायमें भी झलक उठता है।

जिसप्रकार बरसातके दिन हों, खूब पानी बरस रहा हो; उस समय बाहर तो पानी होता ही है परन्तु अन्दर भीतमें भी पानीके कण झलकने लगते हैं। गरमीके दिनोंमें शाम तक पत्थर तपते हैं, बाहर भी ताप होता है और पत्थरमें भी उष्णता ओतप्रोत हो जाती है। ठंडके दिनोंमें सभी वस्तुएँ ठंडी हो जाती हैं; बाहर भी ठंड और वस्तुमें भी ठंड ओतप्रोत हो जाती है, इसीप्रकार स्वरूपमें लीनताके समय पर्यायमें भी शांति और वस्तुमें भी शांति, आत्माके आनन्दरसमें शांति, शांति और शांति। वस्तु और पर्यायमें ओतप्रोत शांति। रागमिश्रित विचार था वह खेद था; वह छूटकर पर्यायमें और वस्तुमें समता, समता और समता। वर्तमान पर्यायमें भी समता और त्रिकाली वस्तुमें भी समता। इस प्रकार आत्माका आनन्दरस बाह्यमें और अन्तरमें सर्व प्रकारसे शान्तरसमय झलक उठता है। इस प्रकार विकल्पजालका उल्लंघन करके आनन्दरसरूप अपने स्वरूपको प्राप्त करता है।

अब, नयपक्षकी भावनाका अन्तिम काव्य कहते हैं:—

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

अर्थः—पुष्कल, भारी, चंचल विकल्परूप तरंगों द्वारा उठनेवाले इस समस्त इन्द्रजालको जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण भगा देता है वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ।

नयोंके विकल्प पुष्कल, महान इन्द्रजाल जैसे हैं। नियमसारमें पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—हे प्रभु! हे भगवान! आपका नयोंका मार्ग इन्द्रजाल जैसा है। किसी अपेक्षासे निमित्त है—ऐसा कहा जाता है और किसी अपेक्षासे निमित्त नहीं है—ऐसा कहा जाता है; किसी अपेक्षासे रागी है, किसी अपेक्षासे रागी नहीं है—ऐसा कहा जाता है। किसी अपेक्षासे कर्ता है, किसी अपेक्षासे कर्ता नहीं है—ऐसा कहा जाता है। किसी अपेक्षासे नित्य है, किसी अपेक्षासे नित्य नहीं है—ऐसा कहा जाता है। द्रव्य अपेक्षासे नित्य है और पर्याय अपेक्षासे अनित्य है; अज्ञान अपेक्षासे कर्ता है और ज्ञान अपेक्षासे कर्ता नहीं है—इत्यादि नय-भंगका मार्ग इन्द्रजाल जैसा लगता है। जो नहीं समझता वह आकुलित होता है और जो समझता है उसे अलौकिकता लगती है कि अहा हा! यह तो कोई अद्भुत मार्ग है! वस्तुस्वरूपको विरोध रहित यथावत् समझे उसे अलौकिकता लगे विना नहीं रहती।

अज्ञानी कहते हैं कि दो बातें करते हो उसकी जगह एक ही बात करो न? क्षणमें द्रव्य कहते हो और क्षणमें पर्याय कहते हो; इनमेंसे एक बात कुछ भी करो। एक बातका निर्णय तो लाओ! तब ज्ञानी कहते हैं कि भाई! द्रव्य और पर्याय—दोनों तेरा स्वरूप है,

तेरी जो विभावपर्याय होती है उसमें व्यवहारनयसे निमित्तकी अपेक्षा आती है और त्रिकाली स्वभाव अनादि अनन्त है उसमें किसी भी प्रकार निमित्तकी अपेक्षा नहीं आती। इस प्रकार यदि समझे तो सर्वप्रकारसे निपटारा हो जाये—ऐसा है, और न समझे तो हर जगह आकुलित होगा। मन, वाणी और देहके पार भगवान आत्मा है। उसकी विभावपर्यायमें विकल्पका इंद्रजाल है। जिसप्रकार समुद्रमें पानीकी भारी लहरें उठती हैं, उसीप्रकार विकल्पोंकी भारी चंचल लहरें उठती हैं, उसके स्वभावका स्फुरण होनेसे उन चंचल तरंगोंका नाश करता है। स्वभावका स्फुरण अर्थात् स्वभावज्ञानरूप धनुष्यकी टंकार-वह जहाँ हुई वहाँ इंद्रजाल जैसे चंचल विकल्प नष्ट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण वासुदेवने धनुषकी टंकारकी वहाँ पद्मनाभ राजाकी सेना भागी कि, इसके समक्ष अपनेसे नहीं ठहरा जा सकेगा इसलिये भाग चलो! ऐसा कहकर सभी भाग गये। उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द श्रीकृष्ण भगवान आत्मा जागृत हुआ वहाँ अज्ञान और राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, इस जाज्वल्यमान चैतन्यके समक्ष हम नहीं टिक सकेंगे—ऐसा कहकर वे भाग जाते हैं। श्रीकृष्णरूपी आत्मा अज्ञान और राग-द्वेषका भक्षक है। अग्नि हो वहाँ दीमक खड़ी नहीं रहती, जहाँ अग्नि हो वहाँ दीमक सूख जाती है। इसीप्रकार चैतन्यस्वरूप जाज्वल्यमान ज्योति प्रगट हो, स्वरूपका भान हो—वहाँ विकल्प भस्म हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि विकल्पको नाशक है—भस्म करनेवाली है; ज्ञानका स्फुरण मात्र ही विकल्पोंको भगा देता है। अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है, यह तो सम्यग्ज्ञानकी बात है। भगवान आत्माका अन्तर्भान होनेसे, उसमें स्थिर होनेसे उन विकल्पोंको तत्क्षण भगा देता है, उसी क्षण विकल्प खड़े नहीं रहते—ऐसा तेजःपुंज आत्मा मैं हूँ—ऐसा चित्प्रकाश आत्मा मैं हूँ ॥ १४२ ॥

अब शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा किस अपेक्षासे नित्य है और किस अपेक्षासे अनित्य; किस अपेक्षासे बद्ध है और किससे अबद्ध;—इत्यादि नय पक्षोंका बहुतसा स्वरूप आपने समझाया। अब,

इस नयपक्षका जो उल्लंघन कर गया है—उसका क्या स्वरूप है—वह कृपा करके समझाइये! इस प्रश्नका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं:—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

नयद्वयकथन जाने हि केवल समयमें प्रतिबद्ध जो ।
नयपक्ष कुछ भी नहि ग्रहे, नयपक्षसे परिहीन वो ॥ १४३ ॥

अर्थः—नयपक्षसे रहित जीव समयसे (आत्मासे) प्रतिबद्ध होता हुआ (चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ) दोनों नयोंके कथनको केवल जानता ही है परन्तु नयपक्षको किंचित् भी ग्रहण नहीं करता।

मैं ऐसा हूँ और ऐसा हूँ—यह नयपक्ष है। इस नयपक्षसे अतिक्रान्त आत्मा समयमें प्रतिबद्ध अर्थात् लीन हो जाता है। जहाँ स्वसमयमें प्रतिबद्ध होता है वहाँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसे विकल्प छूट जाते हैं। आत्माके स्वभावका जहाँ वेदन हुआ वहाँ रागके वेदनमें नहीं रुकता, परन्तु नयपक्षको केवल जानता ही है, नयपक्षको किंचित् भी ग्रहण नहीं करता।

जिसप्रकार केवली भगवान विश्वके साक्षीपनेके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत—ऐसे जो व्यवहार-निश्चयनयके पक्ष हैं उनके स्वरूपको ही केवल जानते हैं परन्तु निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान द्वारा सदैव स्वतः ही विज्ञानघन हुए होनेसे श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा (-श्रुतज्ञानकी भूमिकाका उल्लंघन कर गये होनेसे) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुए होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते।

यहाँ श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानीकी उपमा देंगे। विकल्प रहित, निर्विकल्प एकाग्रतामें, स्वसन्मुख उपयोगदशामें श्रुतज्ञानी केवली जैसा है—ऐसा उपमा देंगे।

सर्वज्ञ भगवान कैसे हैं? विश्वके साक्षीभूत हुए हैं, स्व-परको जाननेकी शक्ति पूर्ण विकसित हो गई है, परम पूर्णानन्द परमानन्द दशा प्रगट हुई है, परमाणुकी समस्त अवस्थाएँ तथा अनन्त द्रव्योंकी समस्त अवस्थाएँ एक साथ जान रहे हैं। भगवानके श्रुतज्ञानकी अपूर्ण स्थिति नहीं है। भगवान दूसरे पदार्थोंके गुण-पर्यायोंको तथा अपने गुण-पर्यायोंको जान रहे हैं, उसीप्रकार भावश्रुतज्ञानके साथ होनेवाले विकल्पके भेदोंको भी केवल जानते हैं। भगवान स्वतः तो श्रुतज्ञानकी भूमिकाको लांघ गये हैं परन्तु श्रुतज्ञानकी पर्यायको केवल जानते ही हैं।

श्रुतज्ञानकी भूमिकामें निर्विकल्प अनुभूतिरूप भावश्रुतज्ञानका उपयोग न हो तब आत्मा मुक्त है और आत्मा मुक्त नहीं है—ऐसा विकल्प होता है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों समान कक्षाके नहीं हैं। यथार्थ निश्चयकी कक्षा ऊँची है परन्तु जहाँ रागके भेद पड़ते हैं वहाँ दोनों पक्षपात हैं। आत्माका भान होनेके पश्चात् भी स्थिर न रह सके तब विकल्प आये बिना नहीं रहते। श्रुतज्ञान अपूर्ण स्थिति है इससे व्यक्त-अव्यक्त विकल्प आये बिना नहीं रहते। पर्यायकी अपेक्षासे अशुद्ध हूँ और स्वभावकी अपेक्षासे शुद्ध हूँ—ऐसा विकल्प आता है परन्तु ज्ञानी उसकी पकड़में नहीं रुकते।

केवलज्ञानी अपने अनन्त गुण-पर्यायोंको समस्त एक समयमें जानते हैं उसीप्रकार दूसरोंको जानते हैं और श्रुतज्ञानकी भूमिकाको लांघ गये होनेसे नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। सकल-पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हुआ है, विमल अर्थात् सर्व पर्यायें निर्मल हुई हैं, निरन्तर प्रकाशमान हैं, केवलज्ञानसूर्य पूर्ण उदित हो गया है। जिसप्रकार लाख पंखुड़ियोंवाला कमल विकसित होता है उस समय वह सम्पूर्ण-विकसित हो जाता है, उसीप्रकार आत्मामें पूर्ण पर्याय विकसित होकर केवलज्ञानपर्याय खिले तब सम्पूर्ण सर्वज्ञस्वभावरूपी ज्ञान-कमल खिल उठता है। राग या द्वेषकी एक भी वृत्ति नहीं होती क्योंकि राग-द्वेषका क्षय हुआ है; विज्ञानका समूह—विज्ञानका पुंज प्रगट हो

गया है, जिसमें कि दो पक्ष होनेका अवकाश नहीं है; क्योंकि जिसमें दो पक्ष पड़नेका अवकाश है—ऐसी श्रुतज्ञानकी दशाको लांघ गये हैं।

जिसप्रकार केवली भगवान विश्वके साक्षीपनेके कारण, केवलज्ञान प्रगट हुआ होनेसे और श्रुतज्ञानकी भूमिकाको लांघ गये होनेसे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते; उसीप्रकार (श्रुतज्ञानी आत्मा) क्षयोपशमसे जिनकी उत्पत्ति होती है—ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं।

श्रुतज्ञानी अपूर्ण है; क्षयोपशम ज्ञान है इसलिए विकल्प उठेगा, परन्तु वहाँ भी उनके ग्रहणबुद्धि नहीं है। यहाँ श्रुतज्ञानीकी केवलज्ञानीके साथ तुलना करते हैं। केवलज्ञानी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, श्रुतज्ञानीके भी नयपक्षकी ग्रहण बुद्धि नहीं है। केवलज्ञानी समस्त जगतके साक्षी हैं, वे नयपक्षके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, तो श्रुतज्ञानी भी नयपक्षके दो पक्षोंमें नहीं रुकते, परन्तु उनके साक्षी रहते हैं। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमें इतना अन्तर है कि केवलज्ञानीके समस्त ज्ञान विकसित हो गया है और श्रुतज्ञानीके अपूर्ण ज्ञान है।

द्रव्य, गुण और पर्याय; भूत, भविष्यत और वर्तमान, अनन्तकाल व्यतीत हुआ और होगा, तथा वर्तमान है, उसे केवलज्ञानी समरूपसे जानते हैं; तीनकाल और तीनलोकको एक साथ जानते हैं श्रुतज्ञानकी अपूर्ण दशाको उलंघ गये हैं।

श्रुतज्ञानीके अपूर्ण ज्ञानके कारण ज्ञान संक्रमित होता है—बदलता है। ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प आते हैं, एक पक्षसे दूसर पक्ष बदल जाता है। ध्यानमें है कि यह रागमिश्रित विचार आते हैं ज्ञान होने पर भी विकल्प आये बिना नहीं रहते। रागमिश्रित विचा हैं तथापि रागके साथ श्रुतज्ञानका तर्क है, इससे उन्हें श्रुतज्ञानात्मक विचार कहा है। विकल्प उठता है तथापि ज्ञानीके स्वरूपमें सावधानी है, विकल्पमें सावधानी नहीं है। मैं अबद्ध हूँ और मैं बद्ध हूँ—ऐसे

विकल्प उठते हैं तथापि उनके प्रति उत्साह नहीं है, परन्तु एकाग्र होनेके प्रति उत्साह है। मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प उठते हैं, परन्तु उनमें वह लीन नहीं हो जाता, उन्हें रखना नहीं चाहता, उनमें उत्साह निवृत्त हुआ है इससे उन्हें पकड़ता नहीं है। जो विकल्प उठे उसे नाश करनेका भाव वर्त रहा है, स्वरूपका उत्साह वर्तता है, स्वरूपमें स्थिर होने—स्वरूपका अनुभव करने—स्वरूपका स्वाद लेनेके समयसे पूर्व वे विकल्प वर्तते अवश्य हैं, पक्ष भी होते हैं परन्तु उनमें उत्साह नहीं है, वहाँ रुकना नहीं है, वहाँ अटक जाना पसन्द नहीं है।

स्वरूपमें स्थित हुआ इससे साधक और सिद्ध दो एक हो गये, विकल्प छूटे इससे भगवान हो गया। विकल्प उठते हैं तब भी उन्हें जानता ही है।

मैं सर्व विकल्पोंसे पृथक् चैतन्य जागृतस्वरूप हूँ—ऐसे चैतन्य-स्वरूपके भानमें ज्ञानदृष्टिको तीक्ष्ण करता हुआ आगे बढ़ता है। ऐसी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि द्वारा ग्रहण किए गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय, समयसे प्रतिबद्धपने द्वारा (चैतन्यमय आत्माके अनुभवन द्वारा) उस समय (अनुभवके समय) स्वतः ही विज्ञानघन हुआ, श्रुत ज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिकासे अति-क्रान्तपने द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुआ होनेसे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूति मात्र समयसार है।

अपूर्ण ज्ञान है इसलिये निर्मल, नित्य-उदित विशेषण आचार्यदेवने दिया है; केवलज्ञानी पूर्ण हो गये हैं इसलिये सकल विमल-निरन्तर प्रकाशमान विशेषण आचार्यदेवने दिया है।

तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किए गये अपने निर्मल, नित्य-उदित चिन्मय आत्माके प्रतिबद्धपने द्वारा (प्रतिबद्धका अर्थ है ज्ञानकी

विराज रहे हैं। श्री सीमंधर भगवान इस समय महाविदेहक्षेत्रमें विराज रहे हैं, वे केवलज्ञानी भगवान निरन्तर प्रकाशमान एक धारावाही सहज स्वरूपसे हैं; अब कहीं प्रयत्न करके उन्हें उपयोग नहीं लगाना पड़ता, सहजपरिणमन दशा है, इसलिए केवलज्ञानीके उपयोग नहीं है—वैसा कहा जाता है। केवलज्ञान विमल है उसमें किसी भी प्रकारका मल नहीं है, सकल केवलज्ञान द्वारा सदैव स्वतः ही विज्ञानघन होता हुआ स्वरूपाकार ज्ञानबिम्ब हो गया है; इससे श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा अर्थात् निम्नभूमिकामें मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसा अपूर्ण ज्ञानमें होता है, वैसी अपूर्ण ज्ञानकी मर्यादाका उलंघन कर गये हैं, केवलज्ञानमें सब कुछ ज्ञात हो गया है इससे वहाँ रागका विकल्प नहीं होता। अपूर्ण ज्ञानमें ऐसा होता है कि मैं द्रव्यसे ऐसा हूँ और पर्यायसे ऐसा हूँ, परन्तु केवली भगवान उस अपूर्ण ज्ञानकी भूमिका लाँघ गये हैं अतः नयपक्षसे दूर हैं, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। रागका भी नाश हो गया है और अपूर्ण ज्ञानका भी नाश हो गया है, वीतरागता और पूर्ण ज्ञान वर्त रहा है।

जिस प्रकार केवली भगवान अपूर्ण ज्ञानको लाँघ गये होनेसे नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार निम्नदशामें यथार्थ प्रतीति हो जानेके पश्चात् श्रुतज्ञानी आत्माको, क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उसका उत्साह निवृत्त हुआ है।

निर्विकल्प स्थिरताके समय भी सूक्ष्म वृत्ति पड़ी है; यदि सूक्ष्म वृत्ति भी टूट जाये और पूर्ण स्थिरता हो जाये तो वीतरागता प्रगट हो, परन्तु यह तो अपूर्ण ज्ञान है इससे अनुभवके समय भी विकल्प उठते अवश्य हैं, किन्तु वे तो अबुद्धि पूर्वकके विकल्प हैं; वे विकल्प इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें केवलज्ञानी जान सकते हैं छद्मस्थ स्वयं उन्हें नहीं जान सकता।

भगवान विश्वके साक्षीभूत होनेसे केवल जानते ही हैं, उनके सूक्ष्मतया भी विकल्प वृत्ति नहीं होती, और निम्न भूमिकामें अल्पज्ञान

होनेसे निर्विकल्प ध्यानके समय, स्वरूपके ध्यानके समय रागके कारण ज्ञान अबुद्धिपूर्वक संक्रमित अवश्य होता है, अबुद्धिपूर्वक विकल्प भी आते हैं परन्तु छद्मस्थसे वे पकड़े नहीं जाते। विकल्प पकड़में नहीं आते उन्हें अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। निर्विकल्प ध्यानमेंसे बाहर आये तब बुद्धिपूर्वकके विकल्प होते हैं अर्थात् बुद्धिसे पकड़में आयें—ऐसे विकल्प होते हैं; तथापि स्वानुभवके समय उन विकल्पोंको ग्रहण करनेमें उत्साह निवृत्त हुआ है, साक्षीरूपसे वह विकल्पको जानता रहता है, पुरुषार्थकी मंदताके कारण अस्थिरता है इससे विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु उन विकल्पोंको ग्रहण करनेका उत्साह नहीं होता।

श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनिश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, जिसप्रकार केवली भगवान जानते हैं उसीप्रकार यह भी विकल्पोंका ज्ञाता ही है। ज्ञानका स्वभाव स्व-परको जाननेका होनेसे स्व-परको जानता है, परन्तु उन विकल्पोंको ग्रहण करनेकी ओरका उत्साह निवृत्त हुआ है, ज्ञान ज्ञानका ही कार्य करता है, विकल्प उठते हैं, परन्तु उस ओर उत्साह नहीं है।

प्रश्न:—अनुभवके समय अबुद्धिपूर्वकके विकल्पको जान सकता है ?

उत्तर:—अनुभवके समय अबुद्धिपूर्वकके विकल्पको नहीं जान सकता। यदि जाने, तब तो बुद्धिपूर्वकका विकल्प हो गया, फिर अबुद्धिपना कहाँ रहा? इसलिए निर्विकल्प ध्यानी अबुद्धिपूर्वकके विकल्पको नहीं जान सकता। केवलज्ञानी जान सकता है कि इस आत्माके सूक्ष्म विकल्प है परन्तु उसे स्वतःको उसकी खबर नहीं है। वह तो अपने स्वरूपमें ही लीन है। सातवीं भूमिकामें मुनिको भी अनुभवके समय अबुद्धिपूर्वकके विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु वहाँ वह पकड़ नहीं सकते, उन विकल्पोंको पकड़नेके लिए उपयोग सूक्ष्म होना चाहिये और यदि उपयोग इतना अधिक सूक्ष्म हो तो केवलज्ञान हो जाये। निर्विकल्प ध्यानके समय यदि अबुद्धिपूर्वक विकल्प न हो तो कषाय न हो और कषाय न हो तो अपूर्ण ज्ञान न हो और अपूर्ण ज्ञान

न हो तो सर्वज्ञ हो अर्थात् उस समय केवलज्ञानी हो जाये; परन्तु वैसा तो नहीं होता इससे अबुद्धिपूर्वक विकल्प है परन्तु उसकी स्वरूप-ध्यानीको खबर नहीं है, वह तो अपने स्वसंवेदनमें लीन है।

आचार्यदेवने केवली भगवानकी बातमें कहा है कि निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा नयपक्षको ग्रहण नहीं करते। और यहाँ सम्यग्ज्ञानीकी बातमें कहा है कि तीक्ष्ण ज्ञान-दृष्टिसे ग्रहण किया गया निर्मल, नित्य-उदित चैतन्य है उसमें प्रतिबद्धताके द्वारा नयपक्षको ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार दोनोंके विशेषणोंमें अन्तर है, क्योंकि केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है और श्रुतज्ञान अपूर्ण है।

मैं परसे निराला, आनन्दमय, निर्मल आत्मा हूँ वैसी तीक्ष्ण सूक्ष्म-दृष्टि द्वारा निर्मल, नित्य-उदित चैतन्यमें प्रतिबद्धपनेको प्राप्त हुआ है। निचलदशामें पुरुषार्थ है इससे तीक्ष्ण-सूक्ष्मदृष्टि द्वारा निर्मल, नित्य-उदित आत्मामें प्रतिबद्धपनेको प्राप्त हुआ है—वैसा कहा है।

नित्य-उदितका अर्थ है स्थायी उदित—ऐसे चैतन्यमें लीनता प्राप्त की है। केवलज्ञानीकी बातमें कहा है कि—सदा विज्ञानघन हुआ है, और यहाँ सम्यग्ज्ञानीकी बातमें निर्विकल्प हुआ होनेसे जितने समय तक निर्विकल्प आनन्दमें रहे उतने समय तक स्वतः ही विज्ञानघन हुआ होनेसे आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसारको वेदता है—ऐसा कहा है।

केवलज्ञानीकी बातमें आचार्यदेवने कहा है श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तके द्वारा वे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते; और यहाँ [illegible] आत्माके [illegible] और [illegible] विकल्पोंकी भूमिकाके अतिक्रान्तके द्वारा समस्त नयपक्षको ग्रहण नहीं करता।

केवलज्ञानके [illegible] किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता और यहाँ [illegible] किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता—यह [illegible] है।

श्रुतज्ञानी निर्विकल्प उपयोगके समय सविकल्प है और केवल-ज्ञानी तो पूर्ण हो गये हैं परन्तु निर्विकल्प उपयोगके समय श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी समान हैं।

सम्यग्ज्ञानीको निर्विकल्प उपयोगके समय सर्वथा ज्ञान नहीं जमा है, क्योंकि जब निर्विकल्पतामेंसे बाहर आता है तब पुनः विकल्प उठते हैं। यदि निर्विकल्प उपयोगके समय ज्ञान बिल्कुल जम गया हो तो केवलज्ञान हो जाये, परन्तु वैसा नहीं होता; इसलिए निर्विकल्प उपयोगके समय अबुद्धिपूर्वक विकल्प होते हैं इससे उपयोग बाहर आनेसे बुद्धिपूर्वकके विकल्प आते हैं। उपयोग बाहर आये और विकल्प आये तब भी उसे ज्ञायकका भान रहता है, ज्ञायकका भिन्न परिणमन रहता है। पृथक् भान रहने पर भी घरके कामकाज, व्यापार-धन्धे, दया, दान, पूजा, भक्तिके विकल्प आते हैं, परन्तु उनकी यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो निर्विकल्प अनुभवकी बात है।

आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तवमें वह श्रुतज्ञानी आत्मा निर्विकल्पताके समय समस्त पक्षोंसे पर है, इससे परमात्मा है। देखो ! यहाँ श्रुतज्ञानीको परमात्मा कहा है; श्रुतज्ञानीके अपूर्ण पर्याय है तथापि उस अपेक्षाको गौण करके जो आत्माकी उत्कृष्ट स्थिरता है उस स्वानुभूतिरूपी मालका यह नमूना है, इससे उसे परमात्मा कहा है। यह किसकी बात हो रही है? यह चौथे गुणस्थानवालेकी बात है। चौथे गुणस्थानवालेको आचार्यदेवने परमात्मा कहा है।

स्वरूपमें लीन हुए श्रुतज्ञानी आत्माको आचार्यदेवने परमात्मा कहा है; स्वतः आत्मा तो है, परन्तु ज्ञान उपयोगको परसे हटाकर अपने आत्मामें लीन किया है, इसलिए उसे परमात्मा कहा है। स्वरूपमें लीन हुआ वहाँ प्रत्यक्ज्योति हुआ—निर्मल प्रकाश हुआ, आत्माकी ख्याति हुई, ईश्वरके दर्शन हुए अपनी प्रसिद्धि हुई, आत्म-साक्षात्कार हुआ। ऐसा अनुभूति मात्र आत्मा साक्षात् [illegible] हुआ।

वस्तुका ऐसा अचिन्त्य और अद्भुत स्वभाव है। इसे किसे कहा जाये—इसकी तो अभी खबर ही नहीं है तो उसके [illegible] [illegible]

ओरका प्रयत्न होगा कहाँसे ? यथार्थ श्रवण किए बिना समझमें नहीं आता और समझे बिना लक्षमें नहीं आता। जिसे आत्माका कल्याण करना हो उसे वस्तुस्वरूप समझना ही होगा।

भावार्थः—जिस प्रकार केवली भगवान सदैव नयपक्षके स्वरूपके साक्षी हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी 'ऐसा हूँ और वैसा हूँ'— वैसे पक्षसे छूट जाते हैं तब विकल्पोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते हैं, और समस्त नयपक्षोंके स्वरूपके ज्ञाता-दृष्टा हो जाते हैं।

एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे कि रागी ही हूँ अथवा रागी नहीं हूँ; दोनोंमेसे किसी भी एक पक्षका ग्रहण करे तो वह पक्षपात है और मिथ्यात्वसे मिला हुआ राग है। व्यवहारनयको जानें अवश्य परन्तु व्यवहारनयको आदरणीय माने तो वह पक्ष है और मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है। बन्धको जाने तो अवश्य परन्तु आदरणीय माने तो एकान्त पक्ष हुआ। अकेला शुद्धस्वभाव मानें और बन्धको न माने तो वह भी एकान्त पक्ष है, मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है।

यदि आत्मा अवस्थामें भी पूर्ण हो गया हो तो विकल्प कैसे उठे? विकल्प उठता है वह असद्भूतव्यवहार है। विकल्परूप अशुद्ध अवस्था है वह व्यवहार है और आत्माका शुद्धस्वरूप है वह निश्चय है। भेद है वह व्यवहार है और अभेद है वह निश्चय है। उन दोनोंको मुख्य-गौण रूपसे जानना वह नय है। शुद्ध द्रव्यकी प्रतीतिके विषयका बल और द्रव्यदृष्टिका ज्ञान तथा पर्यायका ज्ञान हो तो स्वभावकी सन्मुखताका पुरुषार्थ जागृत होता है, द्रव्यदृष्टिके विषयके बल बिना द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि—दोनों नयोंका ज्ञान सच्चा नहीं होता और दोनों नयोंके ज्ञान बिना द्रव्यदृष्टिके विषयका बल यथार्थ नहीं होता, इसलिए दोनोंमेंसे यदि कोई भी एक न हो तो पुरुषार्थ जागृत नहीं होता।

निमित्तको न जाने तो ज्ञान मिथ्या है, और निमित्त तथा मैं दोनों एक हैं—ऐसा माने तो श्रद्धा मिथ्या। एक कहे कि आत्मामें मलिन पर्याय ही नहीं है, आत्मा बिल्कुल शुद्ध ही है—इस प्रकार पर्याय रहित वस्तुको माने तो ज्ञान मिथ्या है, और अकेला व्यवहार अर्थात् पर्याय ही माने, निश्चय वस्तुको न माने तो वस्तुके बिना निर्मल पर्याय होगी कहाँसे ? इसलिए मात्र पर्यायको माननेवालेका ज्ञान भी मिथ्या है। ज्ञान दोनों पक्षोंका होना चाहिए; यदि दोनों पक्षोंका ज्ञान हो तो हेय और उपादेयको जानकर स्वसन्मुख हो।

व्यवहार जानने योग्य है, परन्तु आदरणीय एक निश्चय वस्तु ही है। यदि व्यवहारसे लाभ माने तो व्यवहार स्वतः ही निश्चय हो गया। व्यवहारके आश्रयसे सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; क्योंकि व्यवहार पराश्रय है; पराश्रयसे स्वाश्रय कैसे प्रगट होगा ? गुण-पर्यायके भेदरूप व्यवहारके आश्रयसे भी निर्मल पर्याय कैसे प्रगट हो ? अभेदके आश्रयसे स्वभावपर्याय प्रगट होती है परन्तु भेदके आश्रयसे स्वभावपर्याय प्रगट नहीं होती। स्वाश्रय सो निश्चय स्वभाव है इसलिए स्वाश्रयसे स्वभाव-पर्याय प्रगट होती है—वह वास्तविक स्थिति है।

ज्ञानी स्वभावदृष्टिसे रागादिका कर्ता नहीं है, तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिसे राग होता है उसे जानना वह व्यवहारनय है। झुकना चाहिये अपने पूर्ण स्वभावकी ओर और ज्ञान करना चाहिए द्रव्य-पर्याय दोनोंका। जो अवस्थामें राग न हो तो फिर वहाँसे पीछे हटना क्या ? और स्वभाव अविकारी न हो तो फिर सन्मुख होना किसमें ? स्वभाव अविकारी है उस ओर उन्मुख होता है और पर्यायमें विकार है उस ओरसे विमुख होता है, इसलिये निश्चयनयका विषय शुद्धस्वभाव है और व्यवहारनयका विषय पर्याय—ये दोनों नय जानने योग्य हैं और आदरणीय एक निश्चयनय ही है।

कोई ऐसा माने कि मैं मात्र शुद्ध हूँ; अवस्थामें न राग है और न विकल्प है—ऐसा एकान्त माने वह भी मिथ्यात्व है; और शुद्ध स्वभावको न समझे और मात्र व्यवहार-व्यवहार करता रहे तो

[illegible] ही करते हैं [illegible] वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

[illegible] व्यवहार और निश्चयका स्वरूप क्या है यह तो समझ नहीं सकता और कहता है कि इसमें तो दोनों नय आते हैं; परन्तु तू आत्माके लिये [illegible] करता है? ज्ञान तो दोनोंका करने योग्य है परन्तु उनमें आदरणीय कौन सा है? भेद या अभेद? व्यवहारकी ओर लक्ष करनेसे विकल्प होता है, राग होता है, भेद पड़ता है, भंग पड़ते हैं; परन्तु निर्मल अभेद शुद्धस्वभाव है उस पर लक्ष करनेसे—उस ओर उन्मुख होनेसे पर्याय निर्मल होती है, शुद्धता बढ़ती है, राग दूर होता है, विकल्प छूटते हैं, इसलिये आदरणीय तो एक निश्चयनय है, उन्मुख होने योग्य निश्चयनय है और ज्ञान करने योग्य व्यवहार-निश्चय दोनों हैं।

एक पक्षको सर्वथा ग्रहण करे कि आत्मामें राग नहीं है, द्वेष नहीं है—इत्यादि कोई भी मलिनता नहीं है, तो आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसी झूठी बात तू लाया कहाँसे? तेरी पर्यायमें मलिनता वर्तमान हो रही है, मलिनतामें निमित्त भी सम्मुख हैं उनका ज्ञान तो कर...... अवस्थामें जो मलिनता है उसे जानकर छोड़; निश्चय एकरूप शुद्ध स्वभाव है उसे जान करके आदर, मलिनताको जाने बिना मलिनताको दूर करनेका पुरुषार्थ नहीं होगा; दोनों पक्ष समझे बिना जो एक ही ओर खींचातानी करे वह मिथ्यादृष्टिका राग है।

एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो वह मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है और प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त मात्र चारित्रमोहनीयका राग है।

प्रयोजनवशका अर्थ है आवश्यकताके कारण। जैसे कि कोई कर्मको न मानता हो तो उसे कहते हैं कि भाई! यह विकार होता कहाँसे है? इत्यादि अशुद्ध पर्यायके ओरकी, बात की उस समय रागको स्थापित करते हैं और वस्तुस्वभावको गौण करते हैं। और कोई

द्रव्यस्वभावको न माने, मात्र पर्यायको ही माने, निमित्तको ही माने तब उससे कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव ही मूल वस्तु है, द्रव्यस्वभावके बिना निर्मल पर्याय कहाँसे आयेगी? निमित्तका और पर्यायका तो ज्ञान करने योग्य है—इस प्रकार एक नयको मुख्य करके प्रयोजनवश कहे तो मिथ्यात्व नहीं परन्तु चारित्रमोहका राग है।

निगोदका आत्मा सिद्ध समान है तथापि निगोदमें और सिद्धमें जो अन्तर है वह पर्यायका है, निगोदसे लेकर सिद्ध तक बीचमें जितनी न्यूनाधिक विकासकी अवस्था है वह सब व्यवहार है।

पहला पक्ष तो सर्वथा एक नयको ग्रहण करके एकान्त मानता है, इसलिये मिथ्यात्व है और दूसरा पक्ष प्रयोजनवश व्यवहार या निश्चयको मुख्य-गौण करता है—वह मिथ्यात्वरहित चारित्रमोहनीयका राग है। तीसरे पक्षमें, स्वरूपमें स्थिर हो तब राग नहीं है—वीतराग जैसा ही है; जब नयपक्षको छोड़कर वस्तुस्वरूपको मात्र जाने ही—तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भाँति वीतराग जैसा ही होता है—ऐसा जानना चाहिए। चौथे, पाँचवें और सातवें गुणस्थानमें आत्मानुभवके समय नयके रागको छोड़कर श्रुतज्ञानी भी वीतराग जैसा ही होता है; वीतराग नहीं परन्तु वीतराग जैसा ही—ऐसा कहा है। भावार्थमें भी टीका जैसी संधि की है, अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। यदि बराबर ध्यान पूर्वक पढ़े तो सब समाधान हो जाये—ऐसा है। ऐसी उच्च वस्तु महा भाग्य बिना सुननेको नहीं मिलती।

वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है—यह कलशमें कहते हैं:-

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम्
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समय[illegible] ॥

अर्थ:—चित्स्वभावके पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य अनुभवमें आते हैं (किये जाते हैं) ऐसा जिसका परमार्थस्वरूप होनेसे जो एक है—ऐसे अपार समयसारको मैं, समस्त बन्धपद्धतिको दूर करके अर्थात् कर्मोदयसे होनेवाले सर्व भावोंको छोड़कर अनुभव करता हूँ।

चित्स्वभावके पुंज द्वारा अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव अनुभवमें आते हैं। अहो! उत्पाद, व्यय और ध्रुवस्वरूप आत्माका अनुभव हो ऐसा आचार्यदेव बतलाते हैं। इसमें अनित्य स्वरूप द्रव्य है वह आचार्यदेवने बताया है। ज्ञानस्वभावके पुंज द्वारा अर्थात् ज्ञानस्वभावके समूह द्वारा अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुवभाव अनुभवमें आते हैं। उत्पाद निर्मल है, व्यय भी निर्मल और ध्रुव भी निर्मल है—तीनों निर्मल हैं। ऐसा जिसका परमार्थस्वरूप निर्मल होनेसे जो एक है; उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीन प्रकारसे होने पर भी जो एक है, अपार है, असीम है;—ऐसे असीम सामर्थ्यवाले अपार समयसारका मैं अनुभव करता हूँ; कर्मके उत्पाद-व्ययसे होनेवाले सर्व भावोंको छोड़कर मैं अनुभव करता हूँ। जब लिखनेकी ओर लक्ष हो तब आत्मा अनुभवमें नहीं आता, परन्तु जब आत्मामें स्थित होता है तब आत्मा अनुभवमें आता है।

निर्विकल्प अनुभव होनेसे, जिसके केवलज्ञानादि गुणोंका पार नहीं है—ऐसे समयसाररूपी परमात्माका अनुभव ही वर्त रहा है, 'मैं अनुभव करता हूँ'—ऐसा विकल्प भी जहाँ नहीं होता।

जिसके अनन्तानन्त गुणोंका पार नहीं है, ऐसे सयसाररूपी परमात्माका अनुभव जब वर्तता है तब, मैं अनुभव करता हूँ—एकाग्र हुआ हूँ—ऐसा विकल्प भी नहीं होता। ज्ञान वर्त रहा है, वेदन वर्त रहा है परन्तु विकल्प वहाँ नहीं है,—ऐसा पक्षातिक्रान्तका स्वरूप है। अब कर्ता-कर्मकी अंतिम गाथा रही है। जो पक्षातिक्रान्त है वही समयसार है—ऐसा अब कहेंगे।

क्रमबद्ध पर्यायमें स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ आदि पांच समवाय

पक्षातिक्रान्त ही नियमसे समयसार है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ही समयसार है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों पुरुषार्थसे प्रगट होते हैं। चैतन्यके एक क्षणके पुरुषार्थकी उग्रतामे पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म-पाँचों समवाय आ जाते हैं। वस्तुके ऊपर यथार्थ दृष्टि हुई वह पुरुषार्थ द्वारा हुई वह पुरुषार्थ । १ । उस पुरुषार्थके द्वारा जो स्वभाव था उसमेंसे पर्याय प्रगट हुई—वह स्वभाव । २ । जिस समय पर्याय प्रगट हुई वह स्वकाल अर्थात् काल । ३ । और पुरुषार्थ द्वारा जो पर्याय क्रमबद्ध होनेकी थी वह हुई वह नियति । ४ । और पुरुषार्थसे स्वभाव प्रगट होनेके समय जो कर्मका अभाव हुआ वह कर्म । ५ । चार समवाय अस्तिरूपसे चैतन्यमें आ जाते हैं और अन्तिम कर्मका अभाव वह नास्तिपरिणमनरूपसे चैतन्यमे आ जाता है।

आत्माकी पर्याय प्रगट होनेमें पांचों कारण होते हैं; उन सबमें पुरुषार्थ मुख्य है। जैसी वीर्यकी उग्रता या मंदता होती है उसीप्रकार कार्य आता है। जो पुरुषार्थ करे उसे दूसरे चारों कारण आ जाते हैं। जो पुरुषार्थको स्वीकार नहीं करता उसे एक भी कारण लागू नहीं पड़ता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब पुरुषार्थसे ही प्रगट होते हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही समयसार है; उसके साथ आंशिक चारित्र होता है, परन्तु मुख्यतया तो यहां सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी बात ली है। उनके साथ आंशिक चारित्र होता है और क्रमशः पूर्ण चारित्र प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र प्रगट ही नहीं होता, इसलिये यहां सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी बात मुख्यतया ली है।

पक्षातिक्रान्त ही समयसार है—ऐसा नियमसे सिद्ध होता है—ऐसा कहते हैं:—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यह आत्मा बहुत सूक्ष्म है। यह आत्मा तो [illegible] बात करनेवालोंको [illegible] और [illegible] छोड़ना कहते-कहते आई है। परन्तु लोग कहते हैं कि हमें यह समझमें नहीं आता इसलिये हमको शुभ करनेके लिए कहो। परन्तु भाई! पाप करना तो कोई कहता ही नहीं, अशुभ भावकी अपेक्षा शुभभावोंमें रहे यह ठीक है, परन्तु प्रथम स्वभावको समझना चाहिये; क्योंकि स्वभावके भान द्वारा विकारका अन्त आता है। शुभभाव विकार है, विकारसे स्वभाव समझमें नहीं आता किन्तु ज्ञान द्वारा समझमें आता है। शुभभावसे पुण्यबन्ध होता है परन्तु भवका अंत नहीं आता। शरीरकी क्रिया मैं कर सकता हूँ, विकारको किया मैं कर सकता हूँ—वह बात तो दूर रहो, परन्तु यह तो आँगनमें आकर मैं शुद्ध हूँ और मैं शुद्ध नहीं हूँ—ऐसे दो पक्षोंके रागमें रुकेगा वहाँ तक विकार दूर नहीं होगा और जिसमें राग बिल्कुल नहीं है उसको ग्रहण किये बिना निर्विकल्प स्वभावकी प्राप्ति नहीं होगी; सहज स्वभावकी प्राप्तिके बिना वीतराग नहीं होगा और वीतरागताके बिना मुक्ति नहीं होगी। प्रथम सहज ज्ञान-स्वरूपका निर्णय करनेके लिये मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विचार आते अवश्य हैं, निर्णय करनेके लिए विचारोंका मंथन आता अवश्य है, और वैसा करनेसे उसकी प्रतीति हो वह तो ज्ञानकी पर्याय है, परन्तु साथमें जो राग है वह विकार है। अपूर्ण ज्ञानमें विचार होता है और विचारके साथ राग होता है; इसलिये उस अपूर्ण ज्ञानकी पर्याय जितना आत्माका अखण्ड स्वरूप नहीं है; आत्मा तो परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्यसे भरपूर है; वर्तमानमें ही अपार सामर्थ्यसे परिपूर्ण–ऐसे आत्मा पर

लक्ष करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आत्माकी परिपूर्ण दृष्टिमें अपूर्ण पर्याय आदरणीय नहीं है। स्वरूपमें स्थित होनेसे रागमिश्रित विचार छूट जाते हैं; जब तक रागमिश्रित विचारोंमें रुकता है तब तक स्वरूपका स्वाद नहीं ले सकता। साधक-दशामें रागमिश्रित विचार आते अवश्य हैं, परन्तु स्वरूपका अनुभव करते समय वे विचार छूट जाते हैं। अशुभ परिणामोंसे बचनेके लिये रागमिश्रित शुभ विचारोंमें रुकता अवश्य है, परन्तु स्वरूपके अनुभवके समय वे विचार भी छूट जाते हैं।

कोई कहेगा कि हमें सच्चा वस्तुस्वरूप समझनेका क्या काम है? हम तो व्यवहार-शुभभाव करते रहेंगे। परन्तु भाई! शुभभावोंसे पुण्य होगा-संयोग मिलेंगे परन्तु वे संयोग और शुभभाव तो अजागृत भाव हैं वे मरणके समय जागृति किस प्रकार रखायेंगे?

मरते समय कुछ भी भान नहीं रहेगा, असाध्य हो जायेगा। नित्य जागृत स्वभावका भान नहीं है, शुद्ध धर्मकी खबर नहीं है—उसका फल तो मूढ़ता ही आयेगा न? शुभाशुभ भाव करे उससे उसके संयोग मिलते हैं अर्थात् बाह्य संयोग मिलते हैं, परन्तु उससे [illegible] आत्माको जागृति नहीं मिलती; क्योंकि शुभभाव तो विकार है, और विकारका फल संयोग मिलता है. परन्तु यदि आत्माका [illegible] भान किया हो तो आत्मामेंसे आत्माकी जागृति रहे। सारे जीवन [illegible] शुभभाव किए हों परन्तु मरण समय असाध्य हो जाता है [illegible] देहसे आत्माको पृथक् स्वीकार नहीं किया है, देहाध्यास [illegible] है, शुभराग करने योग्य मानता है, शुभाशुभ परिणाम [illegible] आत्माको स्वीकार नहीं किया है, परके साथ एकत्व [illegible] मूढ़ हो जाता है। परसे भिन्न आत्माका यदि भान हो तो [illegible] प्रकार आत्माको जागृति रख सकता है। जिसे भिन्न [illegible] भान नहीं है वह जीवित होते हुए भी असाध्य है और [illegible] असाध्य हो जाता है। मैं चिदानन्द आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ [illegible] रूप नहीं हूँ, वचनरूप, मनरूप, शुभाशुभ विकाररूप मैं नहीं हूँ—[illegible]

पृथक् आत्माका जिन्हें भान नहीं है वे सब असाध्य हैं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—यह जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहलाता है—उसका भान कर, उसे प्रगट कर! और वे कहते हैं कि जो सर्व नयपक्षोंसे रहित कहा गया है वही समयसार है, और इसी समयसारको केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। नाम भिन्न हैं तथापि वस्तु एक है।

आत्मा परसे भिन्न, शुद्ध-पवित्र, ज्ञानमूर्ति है—ऐसा निर्णय करके उसमें स्थित हुआ उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। नाम भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है। मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ—ऐसे पक्षोंमें लगा रहे, तथापि उन पक्षोंके छूट जानेपर अनन्त गुण-पर्यायकी मूर्ति चैतन्यस्वरूपमें स्थित होनेसे मात्र अकेला आत्मा रह जाये वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

जो वास्तवमें समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित न होनेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है-ऐसा है—वह समयसार है। वास्तवमें इस एकको ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका नाम मिलता है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे भिन्न नहीं—एक ही हैं।)

जो समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित होता था,—मैं शुद्ध हूँ, मैं एक हूँ, और गुण तथा पर्यायसे अनेक भी हूँ—ऐसे विकल्पोंसे खण्डित होता था, रागमिश्रित पक्षसे स्वरूपका भंग हो जाता था,—वह जब समस्त नयपक्षोंके विकल्पोंको पुरुषार्थसे रोक देनेसे खण्डित नहीं हुआ-वह अखण्डित हुआ। समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है और अपने अखण्डित स्वरूपका अनुभव करता है वही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे पृथक् नहीं हैं।

यह केवलज्ञानीकी बात नहीं परन्तु चौथे गुणस्थानकी बात है, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानीकी बात है।

रागके विकल्पसे खण्डित होता था वह स्वरूपका निर्णय करके स्वरूपमें स्थित हुआ-वहाँ जो खण्ड होता था वह रुक गया और मात्र आत्मा अनन्त गुणोंसे भरपूर आनन्दस्वरूप रह गया। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ; मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्पोंसे छूट गया और अकेला आत्मतत्त्व रह गया—उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, और वही समयसार है। समयसार यह पृष्ठ या अक्षर नहीं हैं; यह पृष्ठ तो जड़ हैं। आत्माके आनन्दमें लीनता वह समयसार है। स्वरूपका बराबर निर्णय करके विकल्प छूट जायें, पश्चात् अनन्त-गुणसामर्थ्यसे भरपूर मात्र आत्मतत्त्व रहा वही समयसार है।

कोई कहेगा कि यह तो आप परमात्माकी बात करते हो; केवलज्ञानीकी बात करते हो। परन्तु भाई! यह तो एक अंशकी बात है, मात्र बानगीकी बात है, अभी पूरा करना तो शेष रहा है, इससे अनन्तगुना पुरुषार्थ शेष रहा है। अभी पूर्ण स्थिरता प्रगट नहीं हुई है, पूर्ण वीतरागरूप स्थिरता तो आंशिक स्थिरतामें वृद्धि करते-करते होती है। यह तो मात्र अंश प्रगट हुआ है, अभी श्रावकत्वकी स्थिरता, मुनित्वकी स्थिरता, केवलज्ञानकी स्थिरता-वह सब शेष हैं। यह तो मात्र चौथी भूमिकाकी बात है। ऐसा निर्विकल्प अनुभव होनेके पश्चात् राजपाट करे, गृहस्थाश्रममें हो, तथापि परसे निराले आत्माका भान उसके वर्तता रहता है इससे वह ज्ञाता रहता है; इसलिए वह आत्मामें रहा है परन्तु गृहस्थाश्रममें नहीं रहा है। निर्विकल्प अनुभव सदैव नहीं रहता, अंतर्मुहूर्त रहता है; पश्चात् राज्य, व्यापारादि विकल्प उठते हैं परन्तु उनका वह कर्ता नहीं होता, स्वरूपका पृथक् भान रहता है। व्यापार, धन्धा, राजपाट करते समय भी किसी-किसी स्वरूपमें उपयोग स्थिर होता है, परन्तु चौथा गुणस्थान है इसलिये विशेष स्थिरता नहीं होती।

स्वयं जातिका वणिक हो, परन्तु जब बालक हो तब किसानके घर भी जाता है और वह खाने-पीनेको दे तो खाता-पीता है, क्योंकि उसे खबर नहीं होती कि मैं वणिक हूँ। और जब बड़ा हुआ तब खबर

हुई कि मैं वणिक हूं, मुझे किसानके यहाँ नहीं खाना-पीना चाहिये; वह पानी पीनेसे अपवित्र हो जाऊँगा—ऐसा बड़े होने पर ध्यान आता है और वृद्ध होने पर तो सभी प्रकारके व्यवहारका ध्यान आ जाता है। उसी प्रकार अनादि अज्ञानसे मैं कौन हूं और पर कौन है—इसकी खबर न होनेसे परका अभिमान करता है; पर मेरा है और मैं परका हूं, पर मेरा कर सकता है और मैं परका कर सकता हूँ—इस प्रकार बालभावसे अज्ञानका भोजन-पान करता है, परन्तु जहाँ भान हुआ कि मैं परसे निराला, निर्विकल्प चैतन्यज्योति आत्मा हूँ, मैं परका कुछ नहीं कर सकता और न पर मेरा ही कुछ कर सकता है—ऐसा भान हुआ कि वहाँ जवान हुआ—वह जवानीकी चाल है। यह चौथी भूमिकाकी बात है, सम्यग्दर्शनकी बात है, यह आत्मजागृतिकी बात है; अभी स्थिरता शेष है, अंशतः स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु अभी पाँचवीं और छठवीं-सातवीं भूमिकाकी स्थिरता प्रगट नहीं हुई है अर्थात् अभी चारित्र प्रगट नहीं हुआ है, क्रमानुसार पांचवीं-छठवीं-सातवीं भूमिकाकी स्थिरता प्रगट करके आगे बढ़कर वीतराग हो-केवलज्ञान प्रगट करे वह वृद्धपना है। इस १४४ वीं गाथामें तो सम्यग्दर्शनकी बात है, आत्माके अनुभवकी बात है, पूर्ण स्थिरताकी बात नहीं है।

सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये—आत्माका अनुभव करनेके लिये प्रथम क्या करना चाहिये वह आचार्यदेव कहते हैं। प्रथम श्रुत-ज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिये।

प्रथम क्या करना चाहिए वह आचार्यदेवने कहा है। प्रत्येक जीव सुखकी इच्छा करता है, किन्तु पूर्ण सुख किसने प्रगट किया है? ऐसा पूर्ण पुरुष कौन है? इसकी पहिचान करना चाहिये, और उस पूर्ण पुरुषने सुखका स्वरूप क्या कहा है—उसे जानना चाहिए। उस सर्वज्ञ पुरुषके कहे हुए वाक्य—वह आगम है। इसलिए प्रथम आगममें सुखका स्वरूप क्या कहा है उसे जानकर उसका अवलम्बन करके, ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिये; निर्णय है वह पात्रता है और आत्मा-

का अनुभव उसका फल है। इस गाथामें पात्रता और उसका फल–दोनों बताये हैं। ऐसा निर्णय करनेकी जहाँ रुचि हुई वहाँ अन्तरमें कषायका रस मंद पड़ ही जाता है। तत्त्वविचार द्वारा कषायका रस मंद पड़े बिना इस निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन करना—ऐसा कहकर आचार्यदेवने सच्चा आगम क्या है? उसका कहनेवाला पुरुष कौन है? इत्यादि सभी निर्णय करनेको कह दिया है; सच्चे देव–गुरु–शास्त्र कौन हैं? उन सबका निर्णय आ जाता है। ज्ञानस्वरूप आत्माका निर्णय करनेमें सच्चे देव–गुरु–शास्त्रका निर्णय करना आदि सब एकसाथ आ जाता है।

प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन करना कहकर आचार्यदेवने उसमें बहुत–बहुत समाविष्ट किया है। सच्चे देव–गुरु-शास्त्र और मिथ्या देव–गुरु–शास्त्रको पहिचानकर उसका निर्णय करना कि यह सच्चे हैं और यह मिथ्या हैं। जिस आगममें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है—ऐसा कहा हो वह आगम सच्चा नहीं कहलाता, उसे कहनेवाला गुरु भी सच्चा नहीं है, ऐसा बतलानेवाला देव भी सच्चा नहीं है; लेकिन दोनों तत्त्व भिन्न हैं, प्रत्येक तत्त्व स्वाधीन है, कोई तत्त्व किसी तत्त्वके आधारसे नहीं है, कोई तत्त्व किसी तत्त्वका कुछ भी करे तो तत्त्व पराधीन हो जाये परन्तु ऐसा तो बनता नहीं है। प्रत्येक तत्त्व स्वाधीन है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा वस्तुका स्वरूप बतानेवाला देव भी सच्चा है, गुरु भी सच्चा है और शास्त्र भी सच्चा है—ऐसी पहचान करके देव–गुरु–शास्त्र कथित जो आत्माका स्वरूप है उसका विचार करके अपने द्वारा, श्रुतज्ञानके अवलम्बन द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिये। वह निश्चय ऐसा अपूर्व करना कि जिस निश्चयके फलमें आत्माका अनुभव हो, केवलज्ञान हो, केवलदर्शन हो और अनन्त गुण प्रगट हों। आगम द्वारा, सद्गुरु द्वारा निर्णय करना उस निर्णय करनेमें रागका अंशतः अभाव होकर निर्णय होता है, परन्तु निर्णयके समय बुद्धिपूर्वकके सर्व विकल्प नहीं छूट जाते, स्वभावमें स्थित नहीं हो जाता, परन्तु जब

निर्णय करता है उस समय भी आत्मामें आत्माका निर्णय करता है
मन और रागकी गौणता करता है; आत्माको अधिक करता है अं
रागको गौण करता है- अर्थात् अंशतः रागसे मुक्त होकर स्व
अधिक होकर आत्मामें आत्माका निर्णय करता है। परन्तु जब स्वरू
स्थिर हो जाता है तब बुद्धिपूर्वकके विकल्प छूट जाते हैं—बुद्धिपूर्व
का मनका निमित्त छूट जाता है और चिद्रूप-चिदानन्दमें उपयो
लीन होता है।

जो आगम आत्माका ज्ञानलक्षण न बताये किन्तु क्रिया
लक्षण बताए, पराधीन लक्षण बताये-वह आगम मिथ्या है, निमि
ही उपादान है—ऐसा बताये वह आगम मिथ्या है। यदि निमित्त का
कर देता हो तो निमित्त निमित्तरूप नहीं रहा परन्तु उपादान हो गय
निमित्त मात्र उपस्थितिरूप हो तो निमित्त कहलाये। यदि निमि
उपादानका कार्य कर देता हो तो वह (निमित्त) उपादान हो गय
परन्तु निमित्तरूप नहीं रहा। सूर्य कमलको नहीं खिला देता, पर
जब कमल खिले तब सूर्यकी उपस्थिति होती ही है—ऐसा सम्बन्ध है
जो शास्त्र आत्माका स्वाधीन लक्षण बतलाए वह शास्त्र सच्चा है व
स्वाधीन स्वरूप बतानेवाला देव भी सच्चा है और वैसा स्वाधीन स्वरू
बतानेवाला गुरु भी सच्चे हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेक
श्रवण-मनन करना और सत्समागम करना। आगमके आधार
ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करना। जीवोंको रुचि नहीं है, य
रुचि हो तो पुरुषार्थ किए बना नहीं रहे। अरे! आत्माकी रुचि
कर! मरण समय कौन शरण होगा? भेड़-बकरीकी तरह मरण
वह कहीं मरण कहलाता है? लखपती या करोड़पती हो, सैंक
आदमी पास खड़े हों फिर भी मर जाता है, वहां कौन शरण है? घो
वेदनामें असाध्य होकर मर जाता है, उस समय कौन शरण है? य
आत्माकी जागृति होगी तो वह साथ आयेगा। प्रथम आत्माकी सच्
जिज्ञासा करे, सत्य कहां है उसे खोजे, सच्चा देव कौन है? सच्चा गु

कौन है ? सच्चा शास्त्र कौन है ? उन्हें शोधे, और वे जो बता रहे हैं उसका निर्णय करनेके लिये समय निकाले, फिर निर्णय करे कि मैं परसे निराला, स्व-परका ज्ञाता, अनन्त गुणमूर्ति आत्मा हूँ। यह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नही है, परका अच्छा-बुरा करना मेरा स्वभाव नहीं है, परका कर्ता होना मेरा स्वभाव नहीं है, परका स्वामित्व रखना मेरा स्वभाव नही है; मैं तो 'ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ'; स्व-परका ज्ञायक हूँ, किन्तु किसी भी प्रकार परका कर्ता नहीं हूँ—ऐसा निर्णय प्रथम श्रुतज्ञानसे करना चाहिए।

प्रथम सच्चा निर्णय किए बिना निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। सत् स्वरूप प्रगट करनेमें सच्चे देव, गुरु और शास्त्रका निमित्त आया। सच्चे पुरुषार्थसे सच्चे निर्णयका निमित्त भी आया, वह अन्तरका निमित्त हुआ; सच्चा निर्णय कारण हुआ और पश्चात् अनुभव आया। सच्चा निश्चय करनेके पश्चात् भी आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये, आत्माकी शांति और आनन्दके वेदनके लिए अन्तरोन्मुख किस प्रकार होता है—वह आचार्यदेव कहते हैं। इस टीकाका भाव बहुत ऊँचा है। जब आत्माकी प्रगट प्रसिद्धि करना हो तब परकी प्रसिद्धि छोड़ना चाहिये। आत्माके अनुभवके उपभोगके लिये सच्चा निर्णय करनेके पश्चात् स्वोन्मुख किस प्रकार होता है—वह आचार्यदेव कहते हैं।

सच्चा निश्चय करनेके पश्चात्, आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए, पर प्रसिद्धिके कारण जो इन्द्रियों द्वारा और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियां हैं उन्हें मर्यादामें लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्वको (मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्मसम्मुख किया है—ऐसा, तथा नानाप्रकारके नयपक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करने-वाली श्रुतज्ञानकी बुद्धिओंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्मसम्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निज-रससे ही प्रगट होने वाला, आदि-मध्य-अन्त रहित, अनाकुल, केवल, एक सम्पूर्ण विश्वके ऊपर मानों तैरता हो—ऐसे अखण्ड प्रतिभास-

संसारमें जीव दुःखका वेदन कर रहे हैं। यदि सुख हो तो परपदार्थको इच्छामात्र न हो। यदि आनन्द प्रगट हो तो परकी इच्छा ही न हो; सुखकी इच्छा होती है इसलिए वे दुःखी हैं। वास्तविक सुख आत्मामें है, उसके प्रगट होने पर दुःख दूर होते हैं। प्रथम आत्मस्वभावका निर्णय करके पश्चात् उसमें लीन हो तो आत्माके अपूर्व आनन्दका अनुभव हो। इसलिये यदि सुखकी आवश्यकता हो तो पुरुषार्थ करके, विकल्प तोड़कर आत्मामें लीन होना; उससे अपूर्व आनन्दका अनुभव होगा। वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और वही समयसार है। सम्यग्दर्शन (–सम्यक्त्व) गुण आत्माका ही है इसलिए आत्मामें होता है, बाहर नहीं। सम्यग्दर्शन घर तथा वस्त्रादिमें नहीं किन्तु आत्मामें है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका कितना अच्छा उपाय बतलाया है। यही प्रथम उपाय है।

बालक, युवक या वृद्ध—सभीको करने योग्य तो यही है। सत्यशरण यही है, अन्य कोई शरण नहीं है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा निर्णय करके, उसमें स्थित होना, स्थित होकर आत्माका अनुभव करना ही मोक्षका उपाय है, दूसरा कोई मोक्षका उपाय नहीं है। इतनी भक्ति करना या इतनी दया करना–वह मोक्षका उपाय है—ऐसा आचार्यदेवने नहीं कहा है; परन्तु सच्ची प्रतीति करके उसमें स्थित होना, उसे आचार्यदेवने मोक्षका उपाय कहा है। सच्चा समझनेके पश्चात्, सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात्, जबतक अपूर्ण है तबतक शुभपरिणाम आयेंगे; वह भक्ति भी करेगा, दया, दान, पूजा, भक्तिके परिणाम आयेंगे, परन्तु वह मोक्षका उपाय नहीं है। बीचमें आते अवश्य हैं, परन्तु वह आगे जानेका मार्ग नहीं है। सच्चे ज्ञानके बिना आत्मा उत्तर नहीं देता। सच्चा स्वरूप समझे बिना भव-बन्धनकी बेड़ी नहीं टूटती। कदाचित् पुण्य-परिणाम करेगा तो करोड़पतिके घरमें जन्म लेगा परन्तु उससे क्या हुआ? वह सब तो धूलके समान है। उससे कहीं भव-बन्धनका अभाव नहीं हुआ। भव-बन्धनका अभाव तो सच्चे स्वरूपकी प्रतीति

करके उसमें स्थिरता करनेसे ही होती है; और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥

अर्थः—नयोंके पक्षोंसे रहित, अचल निर्विकल्प भावको प्राप्त करता जो समयका (आत्माका) सार प्रकाशित करता है—वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)-जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (स्वाद लिया जाता है, अनुभवन किया जाता है) वह-विज्ञान ही जिसका एक रस है—ऐसा भगवान है, पवित्र पुराणपुरुष है। ज्ञान कहो या दर्शन-वह यही (समयसार) है; अधिक क्या कहा जाये? जो कुछ है वह यह एक ही है—(मात्र पृथक्-पृथक् नामोंसे कहा जाता है)।

देखो तो! यह कलश कितना ऊँचा है! कितना सरल है! यह तो अभी निम्नदशाकी वात है, धर्मके प्रारम्भवालेकी यह वात है, चतुर्थ भूमिकावालेकी यह वात है। जिन लोगोंने यथार्थ तत्त्व न सुना हो उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो वहुत उच्च कक्षाकी वात है; परन्तु भाई! तुझे अपनी महिमा नहीं जमी है, अपना माहात्म्य तुझे नहीं आया है, इससे ऐसा लगता है।

प्रश्नः—अपना माहात्म्य स्वयं करता है या भगवानका?

उत्तरः—वास्तवमें स्वयं अपने स्वभावका माहात्म्य करता है। भगवानका माहात्म्य करता है—वैसा कहना वह व्यवहार है।

शुभराग आता है इससे सामनेवाले निमित्त पर आरोप करके माहात्म्य करता है, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि भगवानका माहात्म्य करता है; परन्तु जिसे आत्माका माहात्म्य हो उसीको सच्चा भगवानका माहात्म्य आता है। अपने आत्माका माहात्म्य-महिमाकी जिसे प्रतीति हुई है और आत्माकी पूर्णताकी तीव्र आकांक्षा जिसे जागृत हुई है—उसीको पूर्ण सर्वज्ञ वीतरागके प्रति सच्ची भक्ति आती है, बहुमान और अन्तरसे उत्साह उसीको आता है।

जीवोंको अपना माहात्म्य ही नहीं आता; अपना मकान यदि अच्छा बना हो तो उसका माहात्म्य आता है, दूसरोंको भी वह मकान माहात्म्यसे दिखाता है, घरमें कोई अच्छी वस्तु हो तो दूसरोंको बतलाता है। अरे भाई! उस धूलके चित्रका तो तुझे माहात्म्य है, परन्तु तेरा चित्र अन्दर कैसा है उसका कुछ माहात्म्य है या नहीं? अपने चैतन्य भगवानका अपनेको जबतक माहात्म्य न आये तबतक किसी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता।

यहाँ इस कलशमें कहते हैं कि शुद्ध, अशुद्ध, बद्ध, अबद्ध, निर्मल, समल इत्यादि नयोंके विकल्प आते हैं, उनसे रहित, अचल, असंख्यप्रदेशी, चैतन्यमूर्ति आनन्दघन आत्मा, निर्विकल्प भावको प्राप्त होता हुआ जो समयका सार है उसे प्रकाशित करता है। राग-द्वेषके जो विकल्प हैं वह आत्माका सार नहीं है। शुभाशुभ विकल्पोंसे रहित, आकुलता रहित, निर्विकल्पस्वरूप, अमृत-आनन्दमय आत्माका अनुभवन करनेमें समयका सार प्रकाशित होता है। वह समयका सार कैसे पुरुषों द्वारा आस्वाद्यमान है? निश्चल, आत्मलीन पुरुषों द्वारा आस्वाद्यमान है, निश्चल पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, धीर पुरुषों द्वारा वह आस्वाद्यमान है। वह अनुभव किसके वशसे होता है? जो स्वरूपमें निमग्न हैं और धीर हैं—वैसे पुरुषोंके वशसे आत्मस्वरूप आस्वाद्यमान है।

जैसे किसी लम्बे सूतमें गांठ पड़ गई हो, तब उस गांठको निकालनेके लिए कितना धीर होना चाहिये; उसी प्रकार अनन्तकालकी अज्ञानकी गांठ निकालनेके लिए तो भारी धैर्य होना चाहिए। अनन्त

गुण-पर्यायका पिण्ड आत्मा धीर पुरुषों द्वारा अनुभवमें आता है। जिसप्रकार मणिदीप चाहे जैसे पवनके झोंकोंसे भी नहीं हिलता, उसीप्रकार चाहे जैसे बाह्य संयोगोंमें भी न डिगें—ऐसे अचल, आत्मलीन पुरुषों द्वारा आत्मरस आस्वाद्यमान है। यह विज्ञान ही एक जिसका रस है, अचिंत्य और अपूर्व जिसका आत्मरस है—ऐसा भगवान आत्मा है, वह पुराणपुरुष है, प्राचीनसे प्राचीन है—नवीन प्रगट नहीं होता; उसे ज्ञान कहो, दर्शन कहो, चारित्र कहो, सत् कहो, शान्ति कहो, आनन्द कहो वह यह समयसार ही है। जैसे सोनेको पीला-कहो, चिकना कहो, भारी कहो—जो कुछ कहो वह सोना ही है, उसीप्रकार आत्माके संवेदनमें आचार्यपद कहो, उपाध्यायपद कहो, मुनिपद या सम्यक्पद—जो कुछ कहो वह यह एक ही है; चारित्र, आराधना, समाधिमरण, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, सिद्ध और अरिहन्तपद भी यही है।

विकल्पको पद नहीं कहा जाता। विकल्पको अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय नहीं कहा जाता। विकल्पको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता। स्वरूपानुभवमें ही यह समस्त पद आते हैं। अनुभवके अतिरिक्त यह पद क्या कहीं बाहर होगा? बाहरसे पद दिया जाता है वह व्यवहार है, परमार्थसे इसीमें समस्त पद आ जाते हैं। अनुभव अंशतः पूर्णता तक बढ़ता अवश्य है, लेकिन सभी पदोंमें अनुभव तो यही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है वह यही है; उसे स्वभाव कहो, अनुभव कहो, साक्षात्कार कहो या साक्षात् प्रभुके दर्शन कहो—जो कुछ कहो वह सब यही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ कहो वह यह एक ही है, मात्र पृथक्-पृथक् नामसे कहा जाता है।

अब विशेष कहते हैं कि प्राप्तकी प्राप्ति है, कहीं अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है। सत् तो है ही परन्तु उसका लक्ष हट गया था, स्वभावमेंसे च्युत हो गया था, मान्यतामें फेर आ गया था—वह ज्ञानमें आ मिलता है; भूल हुई थी उसे टालकर उपयोग आत्माके साथ मिल जाता है वस्तु तो जैसी ही है वैसी है, परन्तु पर्याय स्वभावमें आ मिलती है,

यह आत्मा ज्ञानसे च्युत हुआ था, वह ज्ञानमें ही आ मिलता है—ऐसा अब कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरंभूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ९४ ॥

अर्थः—जिस प्रकार पानी अपने समूहसे च्युत हुआ दूर गहनवनमें बह रहा हो उसे दूरसे ही ढालवाले मार्ग द्वारा अपने समूहकी ओर बलपूर्वक ढाला जाता है। पश्चात् वह पानी, पानीको पानीके समूहकी ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर अपने समूहमें आ मिलता है; उसीप्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभावसे च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालके गहनवनमें दूर भ्रमण करता था, उसे दूरसे ही विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघन स्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड़ा गया। केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषोंको जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभवमें आता है—ऐसा वह आत्मा, आत्माको आत्मामें खींचता हुआ (ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर) नित्य विज्ञानघन स्वभावमें आ मिलता है।

आचार्यदेव अब दृष्टान्त देते हैं—जैसे पानी अपने समूहसे च्युत हुआ अर्थात् पानीके प्रवाहकी धारा कहीं उल्टी-सीधी निकल गई, फिर वह गहनवनमें फिरता रहता है और यदि ढालू मार्ग मिल जाये तो ढालवाले मार्गमें चला जाता है और पानीमें मिल जाता है। दूरसे ही ढालू मार्गमें बलपूर्वक मोड़ा जाये अर्थात् ढालू मार्ग हो उसमें थोड़ी लकीर बनाये तो पानी पानीमें जाये, पानी पानीके बलसे, पानीको, पानीके समूहकी ओर खींचता हुआ पानीमें जाकर मिलता है। ढालू मार्गमें पानी ढले और फिर पीछेका पानी वेग देता है अर्थात् धकेलता है इससे पानी प्रवाहरूप होकर पानीमें जाकर मिल जाता है।

इसीप्रकार आत्मा विज्ञानघनसे च्युत हुआ है और विकल्पजालके गहननमें भ्रमण करता है;—ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहते हैं कि—आत्मा बिल्कुल शुद्ध नहीं है, अवस्थामें भूल है। यदि अवस्थामें भूल न हो तो यह संसार किसका? यदि अवस्थामें भूल न हो तो अवस्थामें मलिनता होगी ही कैसे? इसलिए आत्माने भूल की थी, उससे विमुख होता है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञान-आनन्दका कन्द है, विकल्पजाल आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्मा विज्ञानघन, अरूपी ज्ञान-आनन्दकी मूर्ति है। ऐसे स्वभावसे च्युत होकर भ्रांतिमें और राग-द्वेषकी वृत्तिओंमें भ्रमण करता है; शरीर, इन्द्रियाँ, शुभाशुभ-विकल्प-यह सब मैं ही हूँ—इस प्रकार भ्रान्ति द्वारा विकल्पजालके गहनवनमें फिरता रहता है, प्रचुर विकल्पजालमें फँसा रहता है।

स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिके लिए कुछ कर दूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु परका कुछ नहीं कर सकता और व्यर्थका अभिमान करता रहता है; चाहे जितने धक्के खाए लेकिन विकल्पजालसे नहीं निकलता। मकड़ी जिसप्रकार जालमें फँसती है उसीप्रकार यह तृष्णाके जालमें उलझता है। अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत हुआ प्रचुर विकल्प-जालके गहनवनमें दूर भ्रमण करता था। जिसप्रकार पानी अपने क्षेत्रको छोड़कर दूर गया था, उसीप्रकार आत्मा अपना क्षेत्र छोड़कर दूर नहीं गया है परन्तु स्वभावसे दूर गया है, नयके विकल्पमें, पुण्य-पापके विकल्पजालमें दूर भ्रमण करता है। अनन्त भव कीड़े-मकोड़े, नारकी, देव इत्यादिके किए तथापि विकल्पजालका अन्त नहीं आया। मनुष्य भवमें आया परन्तु यदि आत्माका भान नहीं किया तो पूरी आयु बीत जाने पर भी विकल्पोंका अन्त नहीं आता, विकल्पजाल नहीं टूटता; परन्तु जहाँ स्व-परका विवेक किया वहाँ स्वरूपमें जा मिलता है और विकल्पजाल टूट जाता है।

दूरसे ही विवेक किया अर्थात् विकल्पोंमें नहीं मिला; विकल्प हैं अवश्य परन्तु स्वसे पृथक् ऐसे विकल्पोंका भेदज्ञान करके विकल्पोंको गौण किया। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ, आनन्दघन हूँ,—इसप्रकार स्व-

स्वभावकी ओर झुकता हुआ, स्वभावका बहुमान करता हुआ, स्वभावोन्मुख होता हुआ, परसे भेदज्ञान करता हुआ, स्व-परका विवेक करता हुआ,—स्व-परको पृथक् करता हुआ ज्ञान-उपयोग भगवान आत्मामें मिल जाता है, बढ़ते-बढ़ते नित्य विज्ञानघनस्वभावमें पूर्ण होता है।

आचार्यदेवने यहाँ किसी ऐसी शैलीसे रचना की है कि-प्रथम आगमज्ञान कर, पश्चात् मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ-ऐसा निश्चय कर, पश्चात् अनुभव कर—ऐसा क्रम इसमें दिया है। देखो, इसमें 'काल या कर्म बाधा देते हैं'—आदि कुछ नहीं आया, मात्र पुरुषार्थ ही आया है।

आत्मा परका माहात्म्य होनेसे मिथ्यात्वके मार्गद्वारा स्वभावसे बाहर निकलकर, विकल्पोंके मार्गमें भ्रमण करता था, उसे वहाँसे पृथक् करनेके विवेकवाले मार्ग द्वारा स्वयं अपनेको खींचता हुआ, रागका संगठन तोड़ता, स्वयं ही अपने स्वभाव द्वारा स्वभावमें स्थिरता करता हुआ विज्ञानघन स्वभावमें आ मिलता है, स्वयं विज्ञानघन होता है वहाँ विकल्प छूट जाते हैं।

अब कर्ताकर्म अधिकारका उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं; उनमें प्रथम कलशमें कर्ता और कर्मका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ९५ ॥

अर्थ:—विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है (अन्य कोई कर्ता-कर्म नहीं है;) जो जीव विकल्प सहित है उसका कर्ता-कर्मपना कभी नाशको प्राप्त नहीं होता।

इस शरीरकी, वाणीकी क्रिया मुझसे होती है, शुभाशुभ विकल्पका कर्ता मैं हूँ—ऐसा जो मानता है वही कर्ता है, वही उसका

कर्ता होता है और जो शुभाशुभ वृत्ति हुई वह उसका कर्म है। वही कर्ता-कर्मपना है, दूसरा कोई कर्ता–कर्मपना नहीं है।

कर्ताका अर्थ है होनेवाला, और जो हुआ वह उसका कर्म है। राग–द्वेष मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानकर जो रुकता है वह उसका होनेवाला होता है अर्थात् कर्ता होता है और राग–द्वेष उसका कर्तव्य होता है, उसमेंसे उसे चौरासीके अवतार फलते हैं परन्तु धर्म नहीं फलता।

अज्ञानी कहता है कि मैं शरीरको अच्छा कर देता हूँ, शरीरको रखता हूँ। अरे! ऐसा किया होता तो बहुत अच्छा हो जाता; तुमने मेरा कहना माना होता तो बढ़ जाते; परन्तु भाई! तू चाहे जितना कर, तो भी जिसे बढ़ना होगा वह बढ़ जायेगा, वह तेरे हाथकी बात नहीं है। किसीसे किसी दूसरेका कुछ हो सकता है—वैसा माननेवाला अज्ञानी है। जिस परमाणुकी जिस समय जो अवस्था होना है वह हुए बिना नहीं रहेगी, परन्तु अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे होती है।

विकल्पका कर्ता अज्ञानी होता है और विकल्प उसका कार्य होता है। शरीरका, इज्जतका, पैसेका, मकानका—किसी भी परद्रव्यका आत्मा कुछ नहीं कर सकता। अज्ञानी विपरीत मान्यतासे अहंकार करता है कि मैं परका कर सकता हूँ—ऐसा माननेवालेका जीवन व्यर्थ है। आत्माका तो ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव है। अकेले ज्ञानस्वभावमें करना, छोड़ना–ऐसा कोई कर्तव्य नहीं आता; अकेले साक्षी स्वभावमें क्या आये? कुछ नहीं आता; मात्र साक्षीपना हो आता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि अमुकका ऐसा किया होता तो ऐसा हो जाता; दो दिन पहले और आ जाता तो तुझे एक हजार रुपया दिला देता, लेकिन किसकी हिंमत है कि किसीको एक पाई भी दिला दे! इसलिये कोई किसी अन्यका कुछ नहीं कर सकता। पाठमें कहा है कि जहां तक

विकल्प भाव है वहाँ तक कर्ता-कर्म भाव है, वह विकल्प अज्ञानभाव-सहितका लेना चाहिए।

जो करता है वह करता ही है, और जो जानता है वह जानता ही है—ऐसा अब कहते हैं:—

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

अर्थः—जो करता है वह केवल करता ही है, और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है वह कभी जानता नहीं है और जो जानता है वह कभी करता नहीं है।

करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा;
जो करता नहिं जानै सोई, जानै सो करता नहिं होई ॥

(समयसार नाटक कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार, ३३)

अज्ञानभावसे आत्मा कर्ता होता है और ज्ञानभावसे जानता है। जो करनेवाला है वह ज्ञाता नहीं है, और जो ज्ञाता है वह करनेवाला नहीं है। शरीर, कुटुम्ब, मकान इत्यादिका मैं कर देता हूँ—ऐसा माननेवाला कर्ता ही है और वह अकेला अज्ञानभाव है, ज्ञानीको अल्प राग-द्वेष होता है तथापि वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। इन्द्रियोंके विषयमें रुचिपना है ही नहीं; अल्प राग-द्वेष होते हैं, तथापि वह कर्ता नहीं है मात्र ज्ञाता ही है।

ज्ञानीने निर्विकल्प भाव भी शरीरादि जड़का और राग-द्वेषादि-का नहीं किया है, मात्र ज्ञाता ही रहता है। निर्विकल्पभाव भी परका [illegible] वह ज्ञाता नहीं है और ज्ञाता है वह एक अंश भी परका

कर्ता नहीं होता; मात्र ज्ञाता ही रहता है। एक अंश भी परका कर्ता होनेवाला मात्र कर्ता ही है, क्योंकि ज्ञाता पृथक् नहीं रहता। कभी भी मुझसे जड़की क्रिया हुई—ऐसा ज्ञानीको कभी भासित नहीं होता। ज्ञानी रागका कर्ता नहीं होता परन्तु पुरुषार्थकी मन्दतासे अस्थिरता हो जाती है, विकारमें युक्तता हो जाती है, लेकिन ज्ञानी तो ज्ञानका ही कर्ता है, विकारका कर्ता तो कभी भी होता ही नहीं।

जो करता है उसे कर्ता ही भासित होता है, परन्तु मैं पृथक् हूँ—वैसा भासित नहीं होता। चलनेकी, बोलनेकी, काम करने आदि पर पदार्थकी क्रियाएँ मुझसे होती हैं—ऐसा माने वह कर्ता है, क्योंकि परपदार्थकी क्रिया कोई तीनकाल-तीनलोकमें कर ही नही सकता। जो कर्ता है वह कर्ता ही है, जो ज्ञाता है उसे करनेका कुछ भी अभिप्राय नहीं है, वह तो सभी प्रसंगोंमें मात्र ज्ञाता ही रहता है।

इसीप्रकार करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रिया-दोनों भिन्न हैं—ऐसा कहते हैं:—

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७ ॥

अर्थः—करनेरूप क्रियाके अन्दर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती और जाननेरूप क्रियाके अन्दर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं;—इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

करनेरूप क्रियाके अन्दर जाननेकी क्रिया भासित नहीं होती। और जाननेरूप क्रियाके अन्दर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती। अज्ञानभावसे मैं परका करता हूँ—वैसा भासित होता है, परन्तु मैं ज्ञाता

हूं, कर्ता नहीं हूँ—वैसा भिन्नत्व नहीं रहता और इसीसे भिन्नत्व भासित भी नहीं होता। करनेरूप क्रियामें जहाँ हो वहाँ कर्मपना ही भासित होता है। पुण्य-पापकी, हिंसा-दयाकी जितनी वृत्तियाँ उठती हैं उन सबका मैं कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी-को भासित होता है, अपने ज्ञातास्वभावकी खबर नहीं है, इससे करने-रूप क्रियामें एकमेक होनेसे उसे ज्ञातारूप क्रिया भासित नहीं होती। ज्ञानीको शरीरकी क्रिया, रागकी क्रिया होती अवश्य है, परन्तु मैं उससे पृथक् ज्ञाता हूँ—वैसा पृथक्त्वका उसे भान रहता है इससे वह ज्ञाता है, परन्तु कर्ता नहीं है। जिस क्षण रागकी और शरीरादिकी क्रिया होती है उसी क्षण पृथक् रहता है, ज्ञाता रहता है किन्तु कर्ता नहीं होता।

ज्ञाता, ज्ञातामें एकाग्र हुआ वह उसकी ज्ञप्तिक्रिया है। मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ—वैसी प्रतीति की और उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र हुआ वह ज्ञानक्रिया है—ज्ञप्तिक्रिया है। उस ज्ञप्ति-क्रियामें—मैंने पूजा की, भक्ति की, व्रत किये—वैसा कर्तृत्व भासित नहीं होता। ज्ञानका ज्ञान किया अर्थात् ज्ञाताका ज्ञान किया, पूजा-भक्ति-के, व्रतादिके जो-जो विकल्प आते हैं उन ज्ञेयोंका ज्ञान किया। पूजा-भक्तिके जो-जो निमित्त आते हैं उनका संबंध-ज्ञान किया,—इस प्रकार सबका ज्ञान किया; परन्तु निमित्तका कुछ कर सकता हूँ—वैसा भासित नहीं होता, मात्र ज्ञानकी ही क्रिया भासित होती है।

जाननेकी क्रियामें, परका मैं कर सकता हूँ—वैसा भासित नहीं होता। जड़का तो कर ही नहीं सकता, परन्तु रागका भी नहीं कर सकता। जड़का तो मैं कभी नहीं कर सकता परन्तु रागका कर सकता हूँ—ऐसा ज्ञानीको भासित नहीं होता। जड़का तो नहीं कर सकता, लेकिन रागका भी नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञानीको भासित होता है। यह धर्मी और अधर्मीकी क्रियाकी बात है। धर्मीकी ज्ञप्तिक्रिया है और अधर्मीकी करोति-

क्रिया है; दोनों भिन्न हैं। अज्ञानीको परका मैं कर सकता हूँ—ऐसी करोतिक्रिया है। उस करोतिक्रियामें ज्ञानक्रिया भासित नहीं होती और ज्ञानीको ज्ञानकी एकाग्रक्रियामें—ज्ञप्तिक्रियामें करोतिक्रिया भासित नहीं होती। 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः"—कहा जाता है वहाँ ज्ञान अन्तरका और क्रिया बाहरकी-ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु ज्ञान अन्तरका तो शान्तिरूप क्रिया भी अन्तरकी ही होती है—यह "ज्ञानक्रियाभ्याम्" का अर्थ है।

'मैं पर द्रव्यको करता हूँ'—ऐसा जब आत्मा परिणमित होता है तब तो कर्ताभावरूप परिणमन-क्रिया करता होनेसे अर्थात् 'करोति'क्रिया करता होनेसे कर्ता ही है; और जब 'मैं पर द्रव्यको जानता हूँ'—ऐसा परिणमित होता है तब ज्ञाताभावरूप परिणमित होनेसे अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया करता होनेसे ज्ञाता ही है। यह अन्तर-परिणमनकी बात है। जब कर्तापनेका परिणमन हो तब ज्ञातापना भासित नहीं होता और जब ज्ञातापनेका परिणमन हो तब कर्तापना भासित नहीं होता। शरीरकी, रागकी, वाणीकी अवस्था मैं करता हूँ; मैं बोलता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ—ऐसा अन्तरमें भासित होता है तब मैं जानता हूँ, जानता हूँ—ऐसा भासित नहीं होता—वह अज्ञानीकी करोतिक्रिया है। पुण्य-पापरहित ज्ञातामें एकाग्र हो. ज्ञातामें निर्मल परिणति हो, ज्ञाताकी ज्ञातामें निर्मल परिणति हो तब यह ज्ञप्तिक्रिया है। यह साधककी बात है, केवलीकी बात नहीं है। मैं जानता हूँ, जानता हूँ—ऐसा परिणमन होता है-वह ज्ञप्तिक्रिया है; और अज्ञानी मैं करता हूँ, मैं करता हूँ—ऐसा परिणमित होता है—वह करोति-क्रिया है।

यहाँ कोई पूछता है कि अविरति सम्यग्दृष्टि आदिको जब तक चारित्रमें पुरुषार्थकी कमजोरी है तब तक वे कषायरूप परिणमित होते हैं तो उन्हें कर्ता कहा जाता है या नहीं?

समाधानः—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिको श्रद्धा-ज्ञानमें पर-

द्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है। चारित्रमें च्युतिके अनुसार कषायरूप परिणमन है वह उदयकी बलजोरीसे है; उसके वे ज्ञाता हैं, इससे अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व उनके नहीं है। निमित्तकी बलजोरीसे होनेवाले परिणमनका फल किंचित् होता है वह संसारका कारण नहीं है। जिस प्रकार वृक्षको जड़ काट देनेके पश्चात् वह वृक्ष कुछ समय रहे या न रहे—प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है—वैसा यहाँ समझना चाहिये। ज्ञातास्वभावके सम्बन्धसे तो रागादि होते नहीं, किन्तु परद्रव्यके साथ सम्बन्ध करता है उतना विभावके बलको हटानेके लिये परका जोर कह दिया है।

चौथे गुणस्थानमें आत्माकी पहिचान तो है, ज्ञायकस्वरूपकी निःशंक प्रतीतिके साथ अनन्तानुबंधीके राग-द्वेष छूटकर स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीयके राग-द्वेषकी निवृत्ति नहीं हुई है; स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है परन्तु अभी अस्थिरता बनी है उस अस्थिरताका निमित्त चारित्रमोह है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि-पांडव, रामचन्द्र, भरत चक्रवर्ती आदि संसारमें थे तब उन्हें अल्प राग तो था, तथापि उस रागके वे कर्ता थे या नहीं ?

उत्तरः—अविरत सम्यग्दृष्टिको राग है परन्तु उसका स्वामित्व नहीं है। स्वतः परके अधिकारमें नहीं हो जाता और ऐसा भी नहीं मानता कि पर मेरे अधिकारमें हो जाता है। परका ज्ञाता रहता है। पुरुषार्थकी मन्दतासे अस्थिरता होती है उसका ज्ञाता रहता है।

चौथी भूमिकामें राजपाट, स्त्री, कुटुम्ब सब कुछ होता है; ज्ञानी उनका स्वामी नहीं होता। वह मेरे आश्रित वस्तु है इसलिए जैसा उसे चलाऊँगा वैसी चलेगी-वैसी मान्यता ज्ञानीके नहीं होती। कषायरूप अल्प परिणमन है; यदि वह न हो तो केवलज्ञान हो जाये। उस अल्प कषायके परिणमनको—'उदयकी बलजोरी' कहा है।

प्रश्नः—उदयकी बलजोरी क्यों ली है ?

उत्तरः—दृष्टिका बल अखण्ड, शुद्ध, चिदानन्द पर है—उस दृष्टिके कथनसे 'उदयकी बलजोरी' ली है। पुरुषार्थ हीन है वह बात यहाँ नहीं लेना है, क्योंकि पुरुषार्थ हीन है वह पर्याय है; दृष्टिके विषयमें अखण्ड शुद्ध द्रव्य है, पुरुषार्थकी हीनतारूप पर्याय उसके विषयमें नहीं है, इससे वह बात यहाँ नहीं ली है। क्रोध-मानादि अल्प कषायकी अवस्था होती तो आत्मामें है, परन्तु वह उदयकी बलजोरीसे है—वैसा कहा है, क्योंकि श्रद्धाके विषयमें अखण्ड पूर्णता है, क्षणिक विभाव पर्याय उस श्रद्धाका विषय नहीं है इससे उदयकी बलजोरी कही है। ज्ञानीको श्रद्धा-ज्ञानमें परका स्वामित्व, संबंध नहीं है, परन्तु अवस्थामें कषायका संबंध है; लेकिन अवस्था दृष्टिका ध्येय नहीं है; दृष्टिका विषय नहीं है। एकरूप शुद्ध अखण्ड द्रव्य है वह दृष्टिका विषय है। पर्यायके भंग, रागके भंग दृष्टिमें नहीं हैं; दृष्टिके साथ जो ज्ञान है वह ज्ञान अखण्ड और खण्ड, अभंग और भंग-दोनोंको जाननेका कार्य करता है।

पुरुषार्थकी अशक्ति, राग और रागके निमित्त—बाह्य संयोग, वह सब दृष्टिका विषय नहीं है, इसलिए वे सब परके हैं—ऐसा कहकर उदयकी बलजोरी कही है।

ज्ञान दो कार्य करता है; दर्शनके विषयको भी ज्ञान जानता है और अवस्थाको भी ज्ञान जानता है। ज्ञानमें वस्तुदृष्टिकी मुख्यता करके, अवस्थादृष्टिको गौण करके उस अपेक्षासे यहाँ उदयकी बलजोरी कही है। वस्तुदृष्टिमें पर्यायका विषय नहीं है तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिसे उसमें युक्त हो जाता है; परन्तु युक्त होनेकी भावना नहीं है। इसी क्षण यदि वीतराग हुआ जाता हो तो यह कुछ भी नहीं चाहिए-भावना तो स्वरूपमें लीन होनेकी ही रहती है।

चौथे, पांचवें और छट्ठे गुणस्थानवालेको ज्ञाता कहा है; रागादिका कर्त्ता नहीं कहा, ज्ञाता ही कहा है। ज्ञानीके अल्प कषाय होती है परन्तु उसका वह ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी स्वभाव और परभावको जानता है, उसके परद्रव्यका स्वामित्व नहीं है इसलिए

वह कर्ता नहीं है—ज्ञाता है। मलिन अवस्थाकी भावना नहीं है इस-लिए भी कर्ता नहीं है—ज्ञाता है। ज्ञानी मानता है कि मेरी शान्ति और आनन्द मुझमें हैं, पुण्य-पापके जो विकल्प उठते हैं वे मेरे अमृत-आनन्दकी हत्या करते हैं; इसलिये ज्ञानीको उन पुण्य-पापके विकल्पोंकी भावना नहीं होती परन्तु आत्माके अमृत-आनन्दकी भावना होती है।

एक मनुष्य पचास चमारोंके बीच बैठा हो और चमार उसे बुरी-बुरी गालियां दे रहे हों; तब कोई उससे कहे कि—क्यों भाई! तुझे यह गालियां अच्छी लग रही हैं, इसीसे तू इनके बीचमें बैठकर सुन रहा है? तब वह मनुष्य कहे कि अरे! भाई ऐसी गालियां कैसे अच्छी लगेंगी? बिल्कुल अच्छी नहीं लगतीं, लेकिन क्या करूँ? मेरी निर्बलता है, यहांसे उठकर जानेकी मेरी शक्ति नहीं है, इसलिये विवश हूं; यदि लब्धि प्रगट हुई होती तो उड़ जाता; इसीप्रकार ज्ञानीको कषायकी अल्प परिणति होती है परन्तु उसे वह गालीके समान मानता है; पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण राग-द्वेष होते है। अल्प राग-द्वेष होते हैं इससे ऐसा नहीं समझना कि राग-द्वेष अच्छे लगते हैं, परन्तु निर्बलतासे होते हैं। ज्ञानी समझते हैं कि जितने अंशमें यह कषायकी परिणति होती है उतना ही मेरा अमृतस्वरूप लुटता है, मेरे स्वरूपको हानि होती है। यह राग-द्वेषरूप परिणति मेरे स्वरूप-को कलंकरूप है। चौथे गुणस्थानमें तीन कषायोंकी चौकड़ी है, पाँचवें गुणस्थानमें दो कषायें हैं, छट्ठेमें एक कषाय है। चौथेमें भले ही तीन कषायें होती हैं तथापि उनसे भव (संसार) नहीं बढ़ते और न भव बिगड़ते ही हैं। सम्यक्त्वीको जिस परिणामसे आयुष्यका बंध हो उससे वैमानिक देवका भव बांधता है, और यदि देवमें हो तो ऊँचा मनुष्य होता है। ज्ञानीके एक-दो भव हों वे भी अच्छे ही होते हैं, इसलिये चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमें अल्प कषाय हो उससे अल्प बन्धन होता है, परन्तु उससे भव बढ़े या बिगड़े-वैसा बंधन नहीं होता।

श्रेणिक राजाको सम्यक्त्वो होनेसे पूर्व आयुष्य बँधा हुआ था; इससे वे नरकमें गये हैं; लेकिन सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तो नरकका आयुष्य बँधता ही नही। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तो श्रेणिक राजाको इस प्रकारके शुभ परिणाम आये कि जिनसे तीर्थंकर गोत्रका बंध हुआ, —इससे अगले भवमें तीर्थंकर होना है।

जिस प्रकार वृक्षकी जड़ काट देनेके पश्चात् कुछ वृक्ष थोड़े समय हरे रहते हैं और फिर सूखते हैं और कुछ तो तुरन्त ही सूख जाते हैं। कई वृक्ष ऐसे देखनेमें आते हैं कि गिरे और तुरन्त सूख जाते हैं और कई वृक्ष ऐसे भी होते हैं कि जड़ कटने पर अमुक काल तक हरे रहते हैं लेकिन वे प्रतिक्षण सूखते ही रहते हैं। ताड़ वृक्षका स्वभाव ऐसा होता है कि उसे अमुक स्थान पर सूई चुभो तो पूरा वृक्ष तुरन्त सूख जाता है; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीवको मिथ्यात्वका मूल नाश हुआ होनेसे किसीको एकाध-दो भव होते हैं और किसीको तो मिथ्यात्व दूर हुआ कि उसी भवमें केवलज्ञान होता है। जिसे एकाध-दो भव शेष रहते हैं उसे सम्यग्दर्शन हुआ तबसे क्षण-प्रतिक्षण मलिन पर्यायोंका नाश होता जाता है और क्षण-प्रतिक्षण निर्मल पर्यायकी उत्पत्ति होती जाती है तथा दृष्टि ध्रुवस्वभाव पर है। यह सम्यग्दर्शनकी महिमा है।

जिसकी दृष्टि परके ऊपर है वह अज्ञानी है, उसके निर्मल पर्यायका नाश है और मलिन पर्यायकी क्षण-क्षण उत्पत्ति है। ध्रुव-स्वभाव तो अन्दर पड़ा है, वह नाश नहीं हो सकता? परन्तु उस पर दृष्टि नहीं है, दृष्टि परके उपर ही है इसलिये वह अज्ञानी है। ज्ञानीको चिदानन्द, चैतन्यमूर्ति आत्माका भान होनेसे वह राजपाट, स्त्री, कुटुम्बादिमें रहता हो तथापि परका स्वामी नहीं होता; अन्तरसे उदास है, वैरागी है, परमेंसे अनन्त रस कम हो गया है, स्वमें अनन्त रस बढ़ गया है, अनन्त रुचि बढ़ गई है, पूर्ण स्वभावकी बात सुनते ही रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, पूर्ण स्वभावको साध लिया है—ऐसे १८ दोष रहित सर्वज्ञदेव और पूर्ण स्वभावके साधक गुरुके प्रति उसे

भी करे तो दोनों द्रव्य एक हो गये वही एकान्त है; और आत्मा; आत्माका करे तथा परका कुछ भी न करे—वही सच्चा अनेकान्त है। "एक वस्तुमें वस्तुपनेको उत्पन्न करनेवाली प्रसिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरुद्ध शक्तियोंका प्रकाशन करना-उसका नाम अनेकान्त है।" आत्मा, आत्माका करे और परका कुछ भी न करे-उसमें परस्पर दो विरुद्ध शक्तियोंका प्रकाशन करना है; उसका नाम अनेकान्त है। अनेकान्तमें अस्ति-नास्ति दो धर्म हैं। आत्माके अस्ति-नास्ति धर्म आत्मामें हैं और जड़के अस्ति-नास्ति धर्म जड़में हैं। आत्मा अपना करे वह अस्ति और परका कुछ भी न करे वह नास्ति;-वही सच्चा अनेकान्त है। आत्मा अपना भी करे और परका भी करे तब तो स्वयं और पर दोनों एक हो गये; इसलिये वह तो एकान्त है। अपना करे और परका न करे—उसीमें परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका प्रकाशन है—वही सच्चा अनेकान्त है।

यदि कर्ता और कर्म पृथक् हैं तो फिर उनकी स्थिति क्या है? यदि दोनोंका परस्पर निषेध किया जाता है तो ज्ञाता सदा ज्ञातामें ही है और कर्म सदा कर्ममें ही है—ऐसी स्थिति प्रगट है—त्रिकाल प्रगट है, और जो समझे उसे प्रगट होती है। जिसे पृथक्त्वका भान हुआ उसे परका स्वामित्व नहीं है; परका कर्तृत्व नहीं है। उदय उदयमें है और आत्मा आत्मामें है; राग रागमें है और आत्मा आत्मामें है—ऐसी पृथक्-पृथक् वस्तु है, तथापि नेपथ्यमें मोह क्यों नाच रहा है? वस्तुमें त्रिकाल कर्ताकर्मपना नहीं है तथापि अज्ञानी कर्ताकर्मपना क्यों मान रहे हैं? विपरीत मान्यता और मोह क्यों जोरसे नाच रहे हैं?—उसका आचार्यदेवको खेद और आश्चर्य है। अरे प्रभु! तू परमें नहीं है और पर तुझमें नहीं है! भाई! तुझे यह क्या हुआ? माता-पिता लड़केसे कहते हैं कि भाई! तुझे यह परका संग कहांसे लग गया है? उसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तुझे यह क्या हो गया है? जागृतस्वरूप चैतन्यमें यह मोह क्यों नाच रहा है? ज्ञान,

ज्ञानमें है; ज्ञानमें राग-द्वेष नहीं आते और राग-द्वेषमें ज्ञान नहीं आता। भगवान आत्मा जड़रूप नहीं होता और जड़ भगवान आत्मारूप नहीं होता। फिर भी यह मोह क्यों नाच रहा है? इस प्रकार आचार्यदेवको खेद और आश्चर्य होता है।

आठ कर्मोंको आत्मा करता है—यह घीका घड़ा जैसी बोलनेकी रीति है। घीका घड़ा कभी नहीं होता; घड़ा तो मिट्टीका है। घी घीमें है और घड़ा घड़ेमें है; एक-दूसरेके एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धसे उपचारसे घीका घड़ा कहा जाता है। उसीप्रकार ज्ञानावरणीयकर्मने ज्ञानको रोका है-ऐसा कहना भी मात्र उपचार है। अपनी परिणमनशक्ति हीन हुई तब ज्ञानावरणीयको निमित्त कहा जाता है। जीव पुद्गलमें नहीं है और पुद्गल जीवमें नहीं है—दोनों द्रव्य पृथक् हैं तब फिर उन्हें कर्ताकर्मपना कैसे हो सकता है। तीनकाल और तीनलोकमें आत्मा कर्ममें नहीं है और कर्म आत्मामें नहीं है। शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, किन्तु दोनों पृथक् हैं। यदि दोनों एक हों तो कभी पृथक् नहीं हों। दोनों एकक्षेत्रमें स्थित हैं इससे उपचारसे कहा जाता है कि शरीरमें आत्मा है; परन्तु आत्मा, आत्मामें है और शरीर, शरीरमें है-दोनों पृथक् हैं। इससे एक-दूसरेके कर्ता-कर्मपना नहीं है, तथापि अज्ञानीके मोह नाच रहा है।

आत्मामें कर्म नहीं है और कर्ममें आत्मा नहीं है। जड़, जड़में है और आत्मा, आत्मामें है। जड़का कर्ता आत्मा नहीं है, और जड़ आत्माका कर्म नहीं है, तब फिर यह मोह क्यों नाच रहा है? इसका आचार्यदेवको खेद और आश्चर्य होता है।

जड़ आत्माका कुछ नहीं कर सकता। यदि कर सकता हो तो जहाँ पर सिद्ध भगवान विराजमान हैं वहाँ भी जड़ है, इससे उन्हें भी बन्ध होना चाहिए? लेकिन ऐसा नहीं है; स्वयं विपरीत मान्यतासे मानता है कि मैं जड़का कर सकता हूँ और जड़ मेरा कर सकता है,—वह मान्यता बन्धका कारण है। आत्मा जड़का कर्ता नहीं है और जड़ आत्माका कर्म नहीं है—तब फिर यह मोह क्यों नाच रहा है?

और यदि मोह नाचता है तो भले नाचे; तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है—ऐसा कहते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥ ९९ ॥

अर्थ:—अचल, व्यक्त और चित्शक्तियोंके (ज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेदोंके) समूहके भारसे अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अंतरंगमें उग्ररूपसे इसप्रकार जाज्वल्यमान हुई कि—आत्मा अज्ञानमें कर्ता होता था वह अब कर्ता नहीं होता और अज्ञानके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होता था वह कर्मरूप नहीं होता। तथा ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है।

आत्मा अचल है। मैं जड़का कर्ता और जड़ मेरा कर्म—ऐसा अज्ञानी मानता था परन्तु वस्तुस्थिति जैसी है वैसी है; उल्टा माने तो उससे कहीं वस्तुमें बिगाड़ नहीं होता। मात्र पर्यायमें बिगाड़ है। शरीरकी अंगुलीमें बिगाड़ हो, सड़ जाये तो वह सड़ा हुआ भाग आगे बढ़ता जाता है; उसीप्रकार आत्माकी पर्यायमें क्षणिक बिगाड़ हुआ है वह बिगाड़ आत्मामें आगे बढ़ता जाये वैसा नहीं है। आत्मा तो आनन्दघन, निर्मलस्वभावी है उसे राग-द्वेष और मिथ्यात्व-मोहकी पर्याय नहीं हिला सकती। आत्मा अचल है उसे मिथ्यात्व-मोहकी पर्याय नहीं हिला सकती। आत्मा द्रव्यसे तो अचल है, परन्तु जब सम्यग्ज्ञान हुआ तबसे पर्यायसे भी वह अचल है।

आत्मा द्रव्यसे तो व्यक्त है ही, परन्तु आत्माका भान हुआ तबसे वह पर्यायसे भी व्यक्त हुआ जहाँ भान हुआ; वहाँ वस्तु तो ज्योंकी त्यों ही है—ऐसा ज्ञात हुआ। वस्तु तो जैसी की वैसी ही है;

चेष्टाएँ करता रहता है, परन्तु जहाँ पहिचान हुई कि–अरे! यह तो अपने ही गाँवका भांड है! ऐसा जान लिया कि वहाँ वह हँसकर अपना रूप प्रगट कर देता है और चेष्टाएँ छोड़कर चल देता है। उसीप्रकार जहाँ आत्माका भान हुआ वहाँ ज्ञान ज्ञानरूपसे रहता है और पुद्गल कर्म पुद्गलरूप हो जाता है, तथा कर्ताकर्मपना छूट जाता है ॥ १४४ ॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो,
ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख–दुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बने तब बंध न होय खुलै परपासो,
आतममाँहिं सदा सुविलास करै सिव पाय रहै नित थासो।

जीव अनादिसे स्वरूपका अज्ञान और राग–द्वेषका विकार उत्पन्न करके कर्ता होता था इससे बन्धन होता था और उसके कारण चौरासीके आश्रममें वसकर सुख–दुःख भोगता था। जब आत्माका भान होता है तब परका कर्ता नहीं होता परन्तु मात्र ज्ञाता ही रहता है, इससे बन्धन नहीं होता; परकी पाँस (बन्धन) छूट जाती हैं और अपने आनन्दमें सदा विलास करता है एवं मोक्षमें जाता है। मोक्षपर्याय प्रगट होनेके पश्चात् अनन्तकाल तक स्वरूप सुखमें स्थित रहता है। जैसा स्वभाव प्रगट हुआ वैसा स्थायी रहता है—नित्य रहता है।

यह कर्ताकर्मकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेवके द्वारा किसी अद्भुत प्रकारसे हुई है। सम्पूर्ण भरतक्षेत्रमें समयसारके इस कर्ताकर्म अधिकार जैसा अधिकार अन्यत्र कहीं नहीं है। और फिर उसमें अमृतचन्द्राचार्यदेवने टीका करके तो 'सोनेमें सुगन्ध' जैसा कार्य कर दिया है। सोना और सुगन्ध एकमेक हो गये हों वहाँ फिर क्या कमी होगी? जो आत्मजिज्ञासु होंगे वे इस अमूल्य वाणीको समझेंगे, और उनका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।

[—इस प्रकार समयसार शास्त्र पर परम पूज्य श्री कानजी स्वामीके प्रवचनोंका दूसरा कर्ताकर्म अधिकार पूर्ण हुआ]।

★

चेष्टाएँ करता रहता है, परन्तु जहाँ पहिचान हुई कि–अरे! यह तो अपने ही गाँवका भांड है! ऐसा जान लिया कि वहाँ वह हँसकर अपना रूप प्रगट कर देता है और चेष्टाएँ छोड़कर चल देता है। उसीप्रकार जहाँ आत्माका भान हुआ वहाँ ज्ञान ज्ञानरूपसे रहता है और पुद्गल कर्म पुद्गलरूप हो जाता है, तथा कर्ताकर्मपना छूट जाता है ॥ १४४ ॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो,
ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख–दुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बने तब बंध न होय खुलै परपासो,
आतममाँहिं सदा सुविलास करै सिव पाय रहै नित थासो।

जीव अनादिसे स्वरूपका अज्ञान और राग–द्वेषका विकार उत्पन्न करके कर्ता होता था इससे बन्धन होता था और उसके कारण चौरासीके आश्रममें बसकर सुख–दुःख भोगता था। जब आत्माका भान होता है तब परका कर्ता नहीं होता परन्तु मात्र ज्ञाता ही रहता है, इससे बन्धन नहीं होता; परकी पाँस (बन्धन) छूट जाती है और अपने आनन्दमें सदा विलास करता है एवं मोक्षमें जाता है। मोक्षपर्याय प्रगट होनेके पश्चात् अनन्तकाल तक स्वरूप सुखमें स्थित रहता है। जैसा स्वभाव प्रगट हुआ वैसा स्थायी रहता है—नित्य रहता है।

यह कर्ताकर्मकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेवके द्वारा किसी अद्भुत प्रकारसे हुई है। सम्पूर्ण भरतक्षेत्रमें समयसारके इस कर्ताकर्म अधिकार जैसा अधिकार अन्यत्र कहीं नहीं है। और फिर उसमें अमृतचन्द्राचार्यदेवने टीका करके तो 'सोनेमें सुगन्ध' जैसा कार्य कर दिया है। सोना और सुगन्ध एकमेक हो गये हों वहाँ फिर क्या कमी होगी? जो आत्मजिज्ञासु होंगे वे इस अमूल्य वाणीको समझेंगे, और उनका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।

[—इस प्रकार समयसार शास्त्र पर परम पूज्य श्री कानजी स्वामीके प्रवचनोंका दूसरा कर्ताकर्म अधिकार पूर्ण हुआ]।

★

—: शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति :—

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उनके भावोंको तथा कारण-कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उन्हींका यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है"—ऐसा जानना; और इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है"—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश किसलिये दिया गया? एक निश्चयका ही निरूपण करना था?

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमें किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिस प्रकार किसी अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण करानेके लिये कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश असम्भव है, इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और उसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक)

—: शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति :—

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उनके भावोंको तथा कारण-कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उन्हींका यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है"—ऐसा जानना; और इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है"—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश किसलिये दिया गया? एक निश्चयका ही निरूपण करना था?

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमें किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिस प्रकार किसी अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छभाषा विना अर्थ ग्रहण करानेके लिये कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश असम्भव है, इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और उसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहार-नय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक)